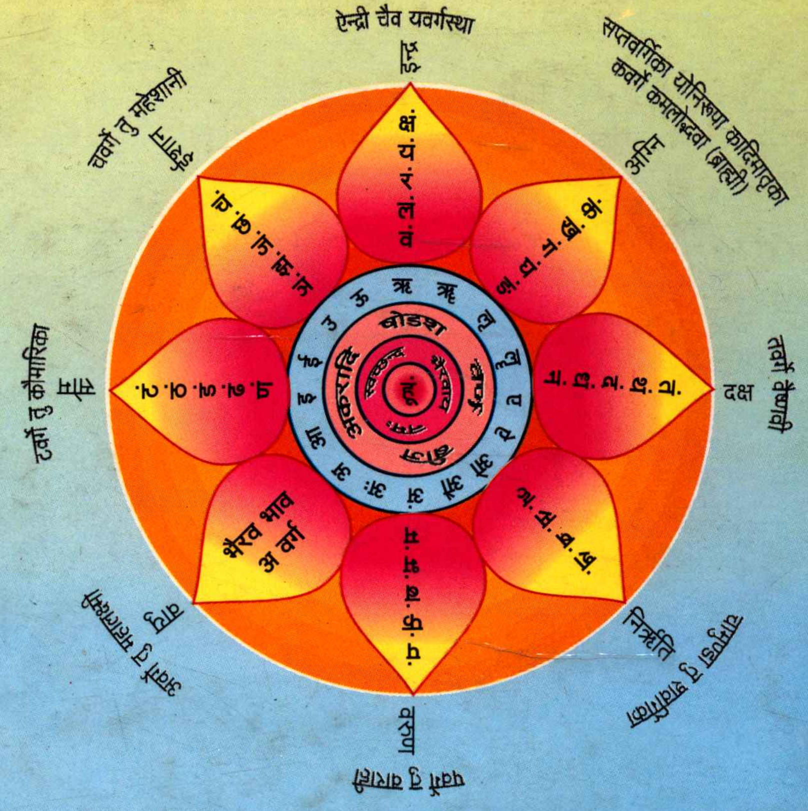
महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[पञ्चमो भागः]

कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितम्



हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 32]

ŚRĪ SVACCHANDATANTRA

[PART FIVE]

With Two Commentaries

'UDDYOTA'

By

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ KṢEMARĀJA

&

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

By

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. ASHOK KUMAR KALIA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

V A R A N A S I

2 0 0 5

Research Publication Supervisor
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-169-1 (Vol. IV)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

Published by —
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Driecter, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.

Available at —
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.

First Edition, 500 Copies
Price : Rs. 350.00

Printed by
VIJAY PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला
[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[पञ्चमो भागः]

कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च
डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०६२ तमे वैक्रमाब्दे   १९२७ तमे शकाब्दे   २००५ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः—
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

ISBN : 81-7270-169-1 (Vol. IV)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

❐

प्रकाशकः—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम्– ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्– ३५०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः—
विजय प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी ।

प्रस्तावना

सम्प्रति महामाहेश्वर श्री क्षेमराजकृत **'उद्द्योत'** नामक संस्कृत व्याख्या एवं **डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'**-विरचित **'नीरक्षीरविवेक'** हिन्दीभाष्य से उपबृंहित स्वच्छन्दतन्त्र का चतुर्थ तथा पञ्चम भाग तन्त्रागम के रसिक जनों के करकमलों में समर्पित करते हुए महान् हर्ष की अनुभूति हो रही है। विद्वान् पाठकों को यह विदित ही है कि सर्वप्रथम यह ग्रन्थरत्न काश्मीरक पण्डित श्री मधुसूदन कौल द्वारा सम्पादित होकर १९२० ई० में चार भागों में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर १९९३ ई० में प्रो० वि० वेङ्कटाचलम् महोदय के कुलपतित्व काल में यह ग्रन्थ पाँच भागों मूलरूप में इस विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ।

स्वच्छन्दतन्त्र प्रधानरूप से परिगणित तन्त्रशास्त्र के आकर ग्रन्थों में अन्यतम है, इससे इसका माहात्म्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु तान्त्रिकसाधनरहस्य की अधिकता एवं तन्त्रशास्त्र-मात्र में प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों की बहुलता के कारण यह अभिज्ञों के लिए भी कहीं-कहीं दुर्बोध हो गया है। इसलिये यह ग्रन्थ व्याख्यागम्य होने के कारण महामाहेश्वर श्री क्षेमराज-प्रणीत सम्प्रदायसिद्ध उद्द्योत व्याख्या से विभूषित होकर सर्वतोभावेन चतुरस्रशोभी बन गया। आधुनिक युग में मूल कारिकाओं एवं क्षेमराज-प्रणीत उद्द्योत-टीका के हिन्दी-रूपान्तरण की आवश्यकता निरन्तर अनुभूत हुई। सौभाग्यवश उक्त सिद्धान्त-ग्रन्थ की नीर-क्षीर-विवेक व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं डॉ० परमहंस मिश्र जी। शैवतन्त्र से अभिसन्धित स्वच्छन्दतन्त्र कौलतन्त्र, कौलमत, त्रिकदर्शन तथा क्रमदर्शन आदि अभिधानों से लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त विद्वानों एवं साधकों के बीच **'प्रत्यभिज्ञादर्शन'** के रूप में जाना जाता है। यद्यपि पूर्व-मध्यकाल में काश्मीर में प्रतिष्ठित प्रत्यभिज्ञादर्शन आचार्य उत्पलदेव द्वारा प्रतिष्ठापित माना जाता है, तथापि उसकी परम्परा उत्पलदेव से भी पूर्ववर्तिनी प्रमाणित होती है।

प्रति+अभि+ज्ञा के संयोग से प्रतिपन्न प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है–पहचान। प्रति का प्रतीप या विपरीत अर्थ है, अभि का अर्थ आमने-सामने अथवा अभिमुख है। ज्ञा का अर्थ ज्ञान या प्रकाश है। इस तरह विस्मृत तत्त्व का अभिमुख रूप से ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञा है, जिसमें तत्ता तथा इदन्ता की युगपत्प्रतीति होती है, उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं–**तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा**। जीव (पशु) वस्तुतः शिव रूप ही है; परन्तु संसार के पाश में बँधकर अपने मूलस्वरूप

शिवत्व को भूल जाता है और अपने त्रिविध शरीर को ही अपना स्वरूप मान बैठता है। ऐसे पाशबद्ध जीव को अपने मूल स्वरूप की पहचान कराने के कारण ही यह दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से जाना जाता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमशिव को स्वतन्त्र, स्वप्रकाश माना गया है। आचार्य अभिनवगुप्त की स्पष्ट उक्ति है–

स्वतन्त्रं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते। जाड्यं परप्रकाश्यत्वमुच्यते।

(तन्त्रालोक)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने से वही स्वच्छन्द है। देवाधिदेव परात्पर भगवान् भूतभावन शिव ही भैरव के रूप में स्वच्छन्द हैं। विश्वभरणकर्ता परमशिव ही भैरव हैं अथवा जगत् के भय से सन्त्रस्त भक्तों का भरण (रक्षण) करने के कारण भी वे भैरव हैं। उनके ध्यान एवं आराधना से मानव सर्वकामना के फल को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है–

स्वच्छन्दभैरवं देवं सर्वकामफलप्रदम्।
ध्यायते यस्तु युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्यति मानवः॥

(स्व० त० २।९७)

स्वच्छन्दतन्त्र में उन्हीं स्वच्छन्द परमशिव की महिमा-गरिमा का प्रतनन किया गया है। इसके पञ्चम भाग में एकादश पटल से पन्द्रह पटल तक समाहित हैं। यहीं पर ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त करता है। इसके ग्यारहवें पटल में जहाँ सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन है, वहीं द्वादश पटल में तत्त्वविज्ञान एवं उसकी सिद्धि का वर्णन है, तो त्रयोदश पटल में इस तन्त्र के सारभूत भाग की व्याख्या प्रस्तुत है तथा चतुर्दश पटल में विविध मुद्राओं के लक्षण का कथन किया गया है। अन्तिम पन्द्रहवें पटल में जप-ध्यान आदि से युक्त चर्याव्रतपरायण साधक के लिये छुम्मका सदृश रहस्यगर्भित पारिभाषिक संज्ञाओं को विवेचित किया गया है। यथा–

जपध्यानादियुक्तस्य चर्याव्रतधरस्य च।
छुम्मकाः सम्प्रवक्ष्यामि साधकस्य वरानने॥

(स्व० त० १५.१)

काश्मीर शैवागम के अधिकारी विद्वान् आचार्य एवं नैष्ठिक साधक **डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'** ने प्रास्थानिक सिद्धान्त ग्रन्थ का नीरक्षीरविवेक हिन्दी-

भाष्य प्रस्तुत कर सामान्यजनसंवेद्य बनाने का सफल प्रयास किया है, इसके लिये अभिनन्द्य डॉ० मिश्र के दीर्घ जीवन की मङ्गल कामना करता हूँ ।

इस महनीय ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** भी शतशः धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं, उनके अध्यवसाय से विश्वविद्यालय नित्य विशद यशोराशि से अभिमण्डित हो रहा है । इन्हीं स्वस्तिवाचिक कामना के साथ ग्रन्थाधिदेवता के श्रीचरणों में प्रणामाञ्जलि निवेदित करते हुए ग्रन्थपुष्पोपहार समर्पित करता हूँ ।

अशोक कुमार कालिया

(प्रो० अशोक कुमार कालिया)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
दीपावली
२०६२ वैक्रमाब्द
(०१-११-२००५ खैष्टाब्द)

प्रकाशकीय

'स्वच्छन्दतन्त्र' का चतुर्थ एवं पञ्चम भाग तन्त्रागमीय सहृदय पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए प्रकाशन-संस्थान आनन्दविभोर हो रहा है । काश्मीरक शैवागम के प्रथम पंक्ति में गणनीय यह स्वच्छन्दतन्त्र तन्त्रशास्त्रीय आकर ग्रन्थों में भी अन्यतम है । इसमें तान्त्रिक साधना का रहस्य अधिक रूप से व्याप्त है ही, तान्त्रिकमात्र में प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य भी है । इसलिये इस ग्रन्थ की भाषा एवं भाव दोनों ही कहीं-कहीं तन्त्रागम के अभिज्ञ विद्वानों के लिये भी दुर्बोध हो गया है । व्याख्यागम्य यह ग्रन्थ महामाहेश्वर श्री क्षेमराजप्रणीत सम्प्रदायसिद्ध **'उद्द्योत'** संस्कृत-टीका से सर्वतोभद्र एवं चतुरस्त्रशोभी हो गया । यद्यपि यह व्याख्या तत्त्वार्थ के अवगाहन में परमोपकारक है । आचार्य क्षेमराज तन्त्रशास्त्र के मूर्धाभिषिक्त विद्वान् महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के परमाप्त शिष्य हैं, यही इस टीका की प्रामाणिकता में प्रबल प्रमाण है ।

आचार्य क्षेमराज ने अपने गुरु और शास्त्र के प्रति जो श्रद्धा एवं भक्ति दिखलायी है, वह निम्न श्लोक के पद-पद में प्रस्फुटित हो रही है–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.२३)

वे यत्र तत्र अपनी व्याख्या में गुरु-वाक्य को प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं । वे स्वच्छन्दतन्त्र १.४५ कारिका की व्याख्या में कहते हैं–

'परमभैरवस्फारमयैरस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रालोकेऽभिहितम्–

विधिवाक्यमिदं चैव नार्थवादः कदाचन ।
नार्थवादाभिरूपत्वं वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ।। इति' ।

(स्वच्छन्दतन्त्र, १.४५)

आचार्य श्री क्षेमराज मूल में गूढ़रूप से स्थापित मन्त्र के स्वरूपों को तथा अन्य रहस्यों के स्वरूपों को कहीं उन्मीलित कर महान् उपकार करते हैं, तो कहीं महत्तर शास्त्र के उन्मीलन से डरते हुए विवेकपूर्ण रीति से रहस्य की रक्षा भी करते हैं । कहीं तो गुरुमुख से ही प्राप्त करना चाहिए, यह कहकर रहस्यपक्ष को आच्छादित भी करते हैं । यथा स्वच्छन्दतन्त्र के १.६९ कारिका की व्याख्या में कहते हैं–

इत्यलं मन्त्ररहस्यप्रकटनेन । सम्प्रदायस्तु मा परिच्छेदीति किञ्चिदुन्मीलितम् ।

शैवतन्त्र तन्त्रपरम्परा में प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से भी जाना जाता है । प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमेश्वर को चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति से सम्पन्न सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहरूप पञ्च कृत्यों का कर्ता माना गया है । वह परमेश्वर तत्त्व सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, स्वाधीन है । भगवान् शिव ही भैरव के रूप में स्वच्छन्द हैं । वे विश्व का भरण करने के कारण अथवा जगद्भय से भयभीत भक्तों का भरण (रक्षण) करने के कारण भैरव कहे जाते हैं । विलक्षण गूढ़ साधनाग्रन्थ स्वच्छन्दतन्त्र में भैरवस्वरूप परमशिव एवं पर्वतनन्दिनी पार्वती का प्रणतार्तिविनाशी संवाद ग्रथित है । जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा गया है–

कैलासशिखरासीनं भैरवं विगतामयम् ।
चण्डनन्दिमहाकालगणेशवृषभृङ्गिभिः ।।
कुमारेन्द्रयमादित्यब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।
स्तूयमानं महेशानं गणमातृनिषेवितम् ।।
सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।
मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् ।।

(स्वच्छन्दतन्त्र, १.१-४)

यह अत्यन्त लोकोपकारक ग्रन्थ सम्प्रति क्षेमराज की रहस्यप्रकाशिका संस्कृत व्याख्या से विभूषित होने पर भी हिन्दी-व्याख्या के अभाव में सुकुमारमति सुधीजनों के लिये दुर्बोध एवं दुरभिगम बना रहा । ऐसी स्थिति में **डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'** जी की **'नीरक्षीरविवेक'** हिन्दी-व्याख्या अत्यन्त लोकोपयोगी सिद्ध होगी । यद्यपि **'स्वच्छन्दतन्त्र'** आचार्य श्रीक्षेमराज की उद्द्योत व्याख्या के साथ १९९३ ई० में योगतन्त्र-ग्रन्थमाला के उन्नीसवें पुष्प के रूप में प्रकाशित हुआ था, तथापि सम्प्रति नीरक्षीरविवेक हिन्दी-व्याख्या के साथ प्रकाशित करते हुए हर्षातिरेक हो रहा है । इसके चार भागों के प्रकाशन के अनन्तर पञ्चम भाग भी तन्त्रागमीय सुधीजनों के करकमलों में समर्पित करते हुए हृदयकमल विकसित हो रहा है । स्वच्छन्दतन्त्र यद्यपि पन्द्रह पटलों में गुम्फित है, इस पञ्चम भाग में ग्यारह से पन्द्रह पटल संग्रथित हैं, जो ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान करते हैं । इन पाँच पटलों में देवी पार्वती के सृष्टि-प्रक्रिया-तत्त्वविज्ञान एवं उसकी सिद्धि, याग सम्बन्धित व्याख्या, विविध मुद्रा एवं अनेक रहस्यगर्भित पारिभाषिक संज्ञाओं का व्याख्यान किया गया है । इन तान्त्रिक प्रक्रियाओं में

निष्ठापूर्वक परायण भावितात्मा भैरवीय अनुग्रह से अनुगृहीत होकर समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं । जैसा कि स्वतन्त्रतन्त्र का उद्घोष है–

तस्माद्ध्यानार्चने होमं जपं च वरवर्णिनि ।
कुर्वन्ति भावितात्मानस्ततः सिद्ध्यन्ति मन्त्रिणः ।।

(स्व० त० १५.३८)

इसके पूर्व इस ग्रन्थ के तीन भाग नीरक्षीरविवेक भाष्य के साथ प्रकाशित किये जा चुके हैं । इनमें आचार्य **डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'** का अथक अध्यवसाय अत्यन्त प्रशंसनीय एवं आदरणीय है । इनके प्रति कार्तज्ञ्यभाव से अभिभूत शतशः प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ ।

यह ग्रन्थरत्न जिनकी स्नेहिल छाया में प्रकाशित हो रहा है, प्राच्यविद्या से विद्योतित दिवाकरतुल्य तन्त्र-दीक्षा से आलोकित माननीय कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया** जी को नतिपरम्परा-निवेदन-पुरस्सर अभिनन्दन एवं वन्दन करता हूँ ।

ग्रन्थ के स्पष्ट, शुद्ध एवं मनोहर मुद्रण के लिये **'विजय प्रेस'** के सञ्चालक **श्री गिरीशचन्द्र** को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ ।

सम्प्रति ग्रन्थ के अधिष्ठातृदेवता माता अन्नपूर्णा एवं श्रीकाशीविश्वेश्वर को प्रणामाञ्जलि निवेदित करते हुए तन्त्रागमग्रन्थमणिमाला का यह पुष्पोपहार समर्पित कर अपने को कृतार्थ मानता हूँ ।

वाराणसी
दीपोत्सवमहापर्व,
२०६२ वैक्रमाब्द
(०१-११-२००५ खैष्टाब्द)

विद्वद्विधेय



(डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी)
निदेशक
प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्मविमर्श

एकादश पटल से पञ्चदश पटल पर्यन्त पाँच पटलों में अवशिष्ट विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन करते हुए स्वच्छन्दतन्त्र का यह पंचम भाग पूर्णता को प्राप्त कर रहा है । इन पटलों में मुख्य रूप से १–जगत्सृष्टि-विज्ञान २–सृष्टितत्त्व-विज्ञान ३–जपयाग-कारिका-कोश-प्रयोगविज्ञान ४–मुद्राविज्ञान और ५–छुम्मका और देवी शक्ति मेलन के शाक्त-विज्ञान विषयों का प्रतिपादन किया गया है । सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि, इन पटलों में 'जीवनतत्त्व में क्रिया-शक्ति के विशद सक्रिय रूप' विषय पर ही स्वच्छन्द भैरव भट्टारक ने प्रकाश डालने का प्रयास किया है ।

भगवान् के पाँच प्रसिद्ध गुण हैं । १–वे चिन्मय हैं । २–वे स्वातन्त्र्य सम्पन्न अत एव आनन्दमय हैं और वे ३–इच्छाशक्ति, ४–ज्ञानशक्ति और ५–क्रियाशक्ति सम्पन्न हैं । पञ्चकृत्यकारी हैं । १–सृष्टि, २–स्थिति, ३–संहार, ४–तिरोधान और ५–अनुग्रह करने वाले कृपालु परमेश्वर शिव हैं । कहा भी गया है–

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥

अर्थात् शिव चिदानन्दघन, स्वात्म-परमार्थ रूप इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियों के द्वारा पञ्चकृत्य विधान करते हुए विश्व का अवभासन करते हैं । वे सभी अद्भुतों की भूमिका में व्याप्त विषमचक्षु त्रिनेत्र परमेश्वर हैं–

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषम-चक्षुषे ॥

अर्थात् शिव अपने ही चिदाकाशमय स्वात्मफलक पर विश्व-आलेख्य का विधान करते हैं । अर्थात् सृष्टि सम्पन्न करते हैं । वे अपने इस कृत्य पर प्रसन्न भी होते हैं–

जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ॥

अर्थात् आत्मफलक पर स्वात्मतूलिका से जगत् के चित्र को उकेरने वाले वे ही चतुर चितेरे हैं । अपने द्वारा निर्मित सृष्टि चित्र को देख-देखकर ही परम प्रसन्न होते हैं ।

सृष्टि-विज्ञान की यह भूमिका है, जिस पर यह निर्बन्ध-सबन्ध सृष्टि-निबन्ध लिखा गया है । यह बनता है । कुछ दिन टिक भी जाता है । इसके बिगड़ते देर नहीं लगती । इसका बिगड़ना भी विचित्र, केवल रूपान्तरण, स्वयम् अविनश्वर अखिलेश्वर उसे नये रूप में रूपान्तरित कर उसी निर्लिप्त भाव से खिलखिलाते हुए अपने अव्यक्त रूप में ही अवभासित होते रहते हैं । इनसे अतिरिक्त न रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह पदार्थों का अवभासन कितना आश्चर्यमय है । कहने के लिये संहार ! किन्तु पदार्थों के रूपान्तरण में सृष्टि-विज्ञान का परम परमार्थावभास । यही अद्भुतों के उद्भव का इतिहास विश्व भाव में दुहराया जा रहा है । यही इन्द्र-जाल कुहक बनकर जीवों के जीवन का जंजाल बन जाता है ।

सब के मूल में विश्वसर्जन के मूलकारण वही सर्वग शिव हैं । कुछ लोग उसे निमित्त कारण भी कहते हैं । कुछ यह भी कहते हैं कि, जो लोग उसे निमित्त कारण कहते हैं, वे ऐश्वर्यमयी ईश्वरशक्तिरूपिणी ईशितृशक्ति के अस्तित्व को तिलाञ्जलि ही अर्पित करते हैं । इन तथ्यों के आधार पर शिव को परम कारण के रूप में स्वीकार करना चाहिये ।

प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि, सृष्टि का प्रयोजन क्या है ? क्या यह निष्प्रयोजना प्रक्रिया है ? इसमें जीवों का जंजाल ही अधिक है । सुख तो दिवा-स्वप्न ही बनकर आते हैं । ऐसी सृष्टि बनाने की इच्छा ही उसे क्यों हुई ? इस प्रश्न पर समाधान प्रस्तुत करते हुए स्वच्छन्दतन्त्र कहता है कि, यह स्थावर-जंगमात्मक विश्व विना इच्छा के ही वह संसृष्ट कर देता है । इसमें भगवान् को किसी फल की आकांक्षा नहीं होती । जब कामना ही नहीं तो क्रिया के कार्यरूप में फलाकांक्षा कैसे हो सकती है ?

ये बड़े जटिल प्रश्न हैं । कई ऐसे उदाहरण भी हैं, जो इच्छा के बिना भी सम्पन्न होते रहते हैं । दृष्टान्त रूप से कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं । जैसे, सूर्यकान्तमणि, रविरश्मि से तप्त होने पर अग्नि की उत्पत्ति, पदार्थ का जल उठना । यह कार्य तो हुआ । सक्रियता हुई पर अकारण, सूर्यकान्तमणि से अकाम व्यापार सम्पन्न हो गया । इसी तरह भगवान् भैरव के तेज से परम व्योम संक्षुब्ध हो उठा और सृष्टि हो गयी । यह अकाम सृष्टि मानी जा सकती है । दूसरा उदाहरण जैसे, खेल-खेल में फले बदरी वृक्ष पर लड़के दण्ड प्रक्षेप करते हैं । कुछ फल ऊर्ध्व, कुछ तिर्यक् और कुछ नीचे गिरकर यह सिद्ध करते हैं कि, इस प्रक्रिया से किसी को कुछ भी लेना-देना नहीं है । यह अकाम प्रक्रिया है । सृष्टि भी इसी तरह की अकाम प्रक्रिया का परिणाम है । जो ऊर्ध्व गतिशील साधक हैं, वे ऊर्ध्वग फल भी प्राप्त करते हैं । यह फल भी हेलया दण्ड प्रक्षेप की क्रिया के कारण है भगवान् के कारण नहीं ।

तीसरा उदाहरण ऋतुओं के परिवर्तन में वृक्षों के पुष्पित, पल्लवित होने के उत्सव का है । वसन्त में आम्रमञ्जरी का उल्लास, कोकिल की केलि-पुलकित काकली अकाम सृष्टि के ही स्वरूप हैं । उसी तरह भगवान् के स्वात्म तेज की अप्रतर्क्य तैजसिकता से उन्मना के परमव्योम का संक्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक है । इसी क्षोभ के परिणामस्वरूप, समना, व्यापिनी शक्ति और नादादि शक्तियों का ऊर्ध्वाधः विस्तार हो जाता है । इस दृष्टि से शाक्तसंक्षोभ को और परोक्ष रूप से परमात्मा को भी कोई कारण कह ले, फिर भी सृष्टि को अकाम तो मानना ही पड़ेगा ।

शिवसूत्रों में आया एक सूत्र इस प्रकरण में विचारणीय लगता है । वह है– **'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्'** अर्थात् परमात्मा की शक्ति का प्रचय ही विश्व है । तेज के प्रचय का तात्पर्य शक्तिमय तेज के संक्षोभ का विस्फार है । यह विस्फार भी परमात्मा के साक्षात् कारणत्व का या निमित्त कारण होने का समर्थन नहीं करता । अर्थात् सृष्टि अकामात् अर्थात् अनिच्छापूर्वक होने वाली प्रक्रिया ही मानी जा सकती है । वस्तुतः उन्मना शक्ति का शरीर में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । उसे अहन्तैकरसा परविमर्शमयी पारमेश्वरी शक्ति कहते हैं । वही सब कुछ भासित करती है । वही समना के सहस्रार में अष्टवर्गा मातृका की महनीयता का आसूत्रण करती है । वह सर्वावभासन-समर्थ है । इस बिन्दु पर पहुँचकर यह बात सामने आती है कि, यह सारा विश्वोल्लास परमेश्वर की अभिन्नता में उद्भासित है । इसीलिये शास्त्र कहता है कि, अतिरिक्त न रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होने वाला यह विश्व परमेश्वर से अभिन्न ही है । **'सर्वं शिवमयं जगत्'** की यह उक्ति यही सिद्ध करती है ।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का सूत्र **'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'** भी यही सिद्ध करता है कि, चितिरूपिणी परमेश्वर की चेतना शक्ति ही अपने स्वातन्त्र्य के कारण विश्व को सिद्ध करती है । यहाँ सिद्धि से निष्पत्ति, उत्पत्ति, अवभासा आदि अर्थ ही लिये जा सकते हैं । निष्कर्षतः निहितार्थ यह होता है कि, पहले भैरव-तैजसिकता का संक्षोभ, फिर उन्मना के व्योम का संक्षोभ, पुनः समना, व्यापिनी शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा शक्तियों के वाचक देवों का उल्लास और सृजन व्यापार का विश्वात्मक उच्छलन । यही परमेश्वर की क्रीडा का मंच बन जाता है । जीव इस पर अपने जीवन के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं ।

सृष्टि के ये सन्दर्भ सर्वदा विमृश्य हैं । इनके सम्बन्ध में विचार करने से पारमेश्वर-सद्भाव-भावित चित्त में चैतन्य की चारुता का चमत्कार उत्पन्न होता है ।

परमात्मा के पर और अपर रूपों का रहस्य उद्घाटित हो जाता है तथा उच्चार, अनुच्चार, मुद्रा, मन्त्र, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के समुल्लास में शक्तिमान् की वास्तविकता का साक्षात्कार होने लगता है ।

जगत् को हेय, उपादेय, पिण्ड-ब्रह्माण्ड रूप, चिद्भानु के आभास आदि जिस रूप में कोई देखा करे, इससे परमेश्वर की स्वात्मविभा का प्रभाव अवरुद्ध नहीं होता । वह स्थूल, सूक्ष्म, पर, अपर, परापर, परातीत और निरञ्जन रूपों में रूपायित होता रहता है । शरीर के तनुस्थ चक्रों में, समना तथा उन्मना में तथा उन्मनातीत अवस्था में अनुग्रहप्रद वरदानों की वर्षा करता रहता है । शक्ति-मूर्धस्थ अवस्था में वह व्यापक है । ब्रह्मबिल द्वार पर वह अनाश्रित है । सुषुम्ना के अधिपति के रूप में अनन्त है । ऊर्ध्वग अवस्था में वह अनाथ है और व्योम की व्यापकता में बिन्द्वीश बनकर परमेश्वर सर्वशक्ति-सामरस्य में अपनी प्रपञ्च-व्याप्ति की क्रीडा करता रहता है । शरीर में ॐकार शरीर की तरह भूर्भुवः स्वः रूप तीनों में तथा अ, उ, म, बिन्दु और नाद के वाच्यों में वाचक रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव पञ्चकारणों की कुहकता का आनन्द पाता ही रहता है ।

पूरे प्रक्रियाण्डों में अपने अस्तित्व को उल्लसित करने वाला यह परमशक्तिमान् भैरव देव बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र एक रस, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वसम्पन्न प्रपञ्चातीत, गोचर, स्वयं सार्वात्म्य संविभूषित भाव से व्याप्त और संव्यवस्थित हैं ।

जहाँ तक कारणों की व्याप्ति का प्रश्न है, ये पार्थिव तत्त्व में ब्रह्मा बन-कर, अप्तत्त्व में विष्णु बनकर, तेजस्तत्त्व में रुद्र बनकर, वायुतत्त्व में ईश्वर बन-कर और आकाश में सदाशिव बनकर व्याप्त हैं । इन पञ्चभूतों में पाँचों कलायें, पाँचों कारण, पाँचों प्रमाता, पाँचों ब्रह्म (ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात), पाँचों वेदरूप निगमागम और पाँच प्रकार के (लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्र) रूपों में वही भैरवभाव व्याप्त है ।

ये सारे के सारे स्वरूप उसी की सामरस्य-सुधा से सराबोर हैं । इनकी परस्पर व्याप्ति में सभी के सभी अर्थ उद्भासित होते हैं–यह इस व्याप्ति का चमत्कार है ।

सद्विद्या के बाद माया, पुरुष, प्रकृति से लेकर पृथिवीपर्यन्त ३१ तत्त्व असित सृष्टि के रूप में माने जाते हैं । इनके कल्याण के लिये परमेश्वर ज्ञानशक्ति के कराग्र से ज्ञान-क्रियाशक्त्यात्मक सात करोड़ मन्त्रों का निर्माण करते हैं ।

इनके विमर्श मात्र से अस्तित्व में दिव्यता का संचार होने लगता है । इच्छाशक्ति से क्रियाशक्ति में समाविष्ट होकर इच्छाशक्ति चाहती है–इस प्रकार की ये वस्तुएँ बन जाँय । बस सोचते ही विश्व वस्तुओं का साकार विग्रह भासित होने लगता है । होने के इस व्यापार को ही क्रिया कहते हैं । इसी क्रिया में इच्छाशक्ति समाविष्ट रहती है । ये विश्व के आन्तर उच्छलन साधक के अनुध्यान में उतर आते हैं और साधक धन्य होते रहते हैं ।

जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है, यह त्रिगुणात्मिका मानी जाती है । सत्त्व प्रकाशरूप, रज विश्व-प्रवृत्तिप्रद और तमस् अपने नाम के ही अनुरूप अज्ञान के घोर अन्धतमस् में अवष्टम्भ प्रदान करता है । प्रकृति से ही निष्पन्न बुद्धि, अहङ्कार और मन की त्रिगुणात्मता का ताण्डव विश्व में चल रहा है । इसके साक्षी साधक होते हैं । वे देखते हैं कि, धरातत्त्व पर्यन्त चलने वाला यह इन्द्रजाल कितना मोहक है । वे इनमें लिप्त नहीं होते । आत्मा, बाह्यात्मा, निरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूपों का साक्षात्कार करते हुए साधक सुप्रबुद्ध भाव से संसार और संसारियों के कर्मविपाक से विरक्त रहते हैं ।

बुद्धि के आठ धर्म माने जाते हैं । इनमें **धर्म और अधर्म** के बीजों का वपन संसारी पुरुष करते रहते हैं । **ज्ञान और अज्ञान** से प्रभावित रहते हैं । **ऐश्वर्य और अनैश्वर्य** में सिद्धियों, निधियों और अभावों की दुर्भवनीयता के दुःख झेलते हैं और **वैराग्य-अवैराग्य** की दोला में आन्दोलित होते रहते हैं ।

अज्ञानी संसारियों के अतिरिक्त शास्त्र के स्वाध्यायशील और अपने को विद्वन्मन्य मानने वाले लोगों की दशा भी बड़ी दयनीय है । वाद, जल्प और वितण्डा के आडम्बर में शताधिक मतवादी 'इदं सत् इदमसत्' के तर्कों में उलझ कर सारा जीवन गँवा देते हैं । इसीलिये परमपद प्रदान करने वाले शैवज्ञान के स्वाध्याय का आदेश स्वच्छन्दतन्त्र प्रदान करता है । यह मोक्ष के राजमार्ग का पथ प्रशस्त करता है । सर्वज्ञानपदातीत परमेश्वर के परभाव से भावित कर देता है । युगों, कल्पों और मन्वन्तरों के कालमान का ख्यापन करते हुए कालाग्निरुद्र से लेकर स्वच्छन्द-भैरव पर्यन्त ऊर्ध्वगतत्त्वों और कालाग्निरुद्र से पृथ्वी पर्यन्त समग्र संसरण की संरचना का चित्र इस शास्त्र में एकत्र ही मिल जाता है । अतः स्वाध्यायशील साधकों का यह परम हितकारी शास्त्र है । अतः पूर्णानन्द-चिद्रससुधामहोदधि में तारङ्गिकता का आनन्द लेने के लिए इस तन्त्र का स्वाध्याय स्वाभाविक रूप से अनिवार्य है, यह मेरा दृष्टिकोण है ।

साधक केवल साधना का अध्यवसाय ही नहीं अपनाता, वरन् पृथ्वी से शिव पर्यन्त सारे षट्त्रिंशत् तत्त्वविज्ञान का भी वेत्ता होता है। ३६ तत्त्वों में ३१ तत्त्व असित सृष्टि की श्रेणी में आते हैं। ये निम्नलिखित हैं–१–पृथिवी, २–जल, ३–अग्नि, ४–वायु और ५–आकाश। ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। ५ ही तन्मात्रायें हैं। १० ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ, ५ मन, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति पुरुष+६ कंचुक (माया, कला, विद्या, राग, कला और नियति) इस तरह ५+५+१०+५+६=ये ३१ तत्त्व ग्राम माया से प्रभावित हैं। माया तीन प्रकार की मानी जाती है– १–शक्तिरूपिणी, २–तत्त्वरूपिणी और ३–ग्रन्थिरूपिणी। तीनों रूपों में यह परिपन्थिनी का काम करती है। यही अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा से ज्ञानवानों को भी मोहित करने वाली शक्ति मानी जाती है। 'अनन्त' परमेश्वर के सहारे यह असित सृष्टि की संरचना करती है।

सित सृष्टि में केवल पाँच तत्त्व आते हैं–१–सद्विद्या, २–ईश्वर, ३–सदाशिव, ४–शक्ति और ५–शिव। सद्विद्या से अहन्ता और इदन्ता के सामानाधिकरण्य का बोध, ईश्वर पद पर अहन्ता का प्राधान्य, इदन्ता की भी अहन्ता में समाहिति, सदाशिव भाव में शैव सामरस्य, शक्ति और शिव का तादात्म्यदार्ढ्य। यहाँ आते-आते साधक का जीवभाव पूरी तरह समाप्त हो जाता है और शैव महाभाव में अस्तित्व के चिद्विलास का महोदधि साधक को आत्मसात् कर लेता है। कहा गया है–

गलिते विषयौन्मुख्ये पारिमित्ये विलापिते।
देहे किमवशिष्येत शिवानन्दरसादृते॥

अर्थात् विषय की उन्मुखता के समाप्त हो जाने तथा संकोच के विलुप्त हो जाने पर शिवानन्दरस के परास्वाद में शिवसाधक समाहित हो जाता है और उसका जीवन धन्य हो जाता है। इस तन्त्र का बारहवाँ पटल विशिष्ट धारणाओं का सन्दर्भ प्रदान करता है। संसारियों की सिद्धि के उद्देश्य को आधार मानकर षट्कर्म का भी निरूपण करता है। यद्यपि इन विषयों की चर्चा इसमें की गयी है, किन्तु इसे मैं निक्षेप ही मानता हूँ। परमेश्वर इन प्रपञ्चों के बहुत ऊपर हैं। सिद्धान्त यह बनता है कि, आँख से जो दीख पड़ता है, वाणी से जो गोचर है, मन जिसका चिन्तन करता है, बुद्धि जिसका व्यवसाय करती है और अहङ्कार से जो वेद्य है, इनके अतिरिक्त भी कुछ है ? उसका अन्वेषण करना चाहिये। यह मानव की मंथनशीलता और विमर्श शक्ति का तकाजा है कि, डूबो और रत्न पाकर निकलो। अपनी इच्छाशक्ति से ज्ञान और क्रियाशक्तियों के रहस्यान्तराल में छिपे चिन्तामणि को पाकर हृदय से और हाथों से खिसकने मत दीजिये।

इसके लिये मन्त्रों का और मुद्राओं का और वाक्तत्त्व के निहितार्थ का भरसक प्रयोग कीजिये । प्रणव के व्यापक स्वरूप के विस्तार में अपनी अस्मिता का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लें, अन्यथा महती विनष्टि से कोई बच नहीं सकता । तन्त्र के तनन में अणोरणीयान् से महतो महीयान् को आत्मसात् करने का बल है ।

अन्त में इस महान् ग्रन्थ के पाँचों खण्डों की पूर्णता के इस पुनीत अवसर पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया** के प्ररोचनापूर्ण अनुग्रह के लिये उनका अभिनन्दन कर रहा हूँ । उन्हें मेरे हार्दिक आशीर्वाद ।

डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी प्रकाशन निदेशक के स्वात्म-प्रकाश की दीप्ति से देदीप्यमान, संस्कृतशास्त्र-समुत्कर्ष की प्रबल इच्छाशक्ति की यह प्रतीक-कृति महेश्वर को अर्पित कर मैं परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ । इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष की आकांक्षा के साथ सभी प्रकाशन सहयोगियों को साधुवाद अर्पित करता हूँ । 'स्व' में स्थित होकर सभी प्रसन्न रहें ।

परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी
१५।८।०५

विषयोपक्रमः

स्वच्छन्दतन्त्रस्य पञ्चमो भागः

एकादशः पटलः

द्वादशः पटलः

त्रयोदशः पटलः

चतुर्दशः पटलः

पञ्चदशः पटलः

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

अथैकादशः पटलः

(११)

स्वस्वरूपात्मशक्त्यैव स्वाभिन्नं संसृजञ्जगत् ।
संहरंश्च जयत्येकः स्वच्छन्दो बोधभैरवः ॥१॥

यदुक्तम्–

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टि..'॥ (१०/१२५८)

इत्यादि, तद् निर्णायियिषुः पटलसंगतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच–

अध्वायं तु मया ज्ञातस्त्वत्प्रसादात्सुराधिप ।
जगत्सृष्टिस्त्वया देव सूचिता न तु वर्णिता ।।१।।

स्वातन्त्र्यसमुद्भासितविश्वमूर्ति भैरवभट्टारक प्रकीर्तित

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र

भाग–५

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य क्षेमराजकृतोद्योतविवरणोपेत
डॉ० परमहंसमिश्र विरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसंवलित

एकादश पटल

(११)

स्वात्मशक्ति से रच जगत् अद्वय अकल अभेद ।
संहतिकर जय बोधमय, भैरव रहित-विभेद ॥

दशम पटल के श्लोक १२५८ में यह कहा गया है कि, 'यहीं आरूढ रहकर भगवान् भैरव भट्टारक सृष्टि का सृजन करते हैं' ।

इस तथ्य को सत्य की कसौटी पर निकषायित करने की आकाङ्क्षा से और इस पटल की संगति को संगत करने की इच्छा से श्री देवी उमा ने निवेदन किया–

अयमिति भुवनात्मा । जगदिति देहगतबाह्यगततत्त्वाध्वरूपमेव । सूचितेति–'नादबिन्द्वादिकं कार्यमित्यादिजगदुद्भवः' । (१०/१२६४) इति ॥१॥

अतश्च त्वम्–

अध्वसृष्टिं महादेव कथय स्व प्रसादतः ।

हे महादेव अशेषविश्वप्रभो द्योतनादिसतत्त्व, स्व आत्मन्, प्रसादतोऽन्तर्नैर्मल्यगमनात् तात्त्विकार्थानिगूहनेन अध्वनः सृष्टिमुत्पत्तिं कथय । सृष्टिमित्युपलक्षणपरं स्थितिसंहारयोरपि अभिधास्यमानत्वात् ।

एतन्निर्णयाय श्रीभैरव उवाच–

योऽसौ सूक्ष्मः परो देवः कारणं सर्वगः शिवः ।।२।।

भगवान् ! आपने अनन्त अनुग्रह कर अध्वावर्ग के इस भुवन अध्वा को अच्छी तरह समझाया । आपके कृपा-प्रसाद से मैंने इसे अवगत भी किया । देवेश्वर ! आपने जगत्-सृष्टि की सूचना तो दी थी किन्तु इस विषय का वर्णन नहीं किया । जगत् देहगत और बाह्यगत तत्त्वाध्वरूप ही होता है । इसी की सूचना भगवान् ने दी थी ।

यह कहा था कि,

'नाद बिन्दु आदि कारण भी है और कार्य भी हैं । इन्हीं से जगत् कार्य का उद्भव होता है' । (१०।१२६४) । यह उक्ति सचमुच सूचना मात्र है । इसी को दृष्टि में रखकर श्री देवी ने स्पष्ट कहा कि, आपने सूचित तो किया । उसका वर्णन नहीं किया । प्रभो ! इसका वर्णन करने की कृपा करें ॥१॥

इसलिये देवाधिदेव ! अनुग्राह्य पर अनुग्रहकर, अध्वसृष्टि के विषय का वर्णन करें । महादेव वही हो सकता है, जो अशेषविश्व का द्योतन करने में समर्थ हो । यहाँ कथय क्रिया को अलग कर स्व ! शब्द को सम्बोधन का रूप देकर नये अर्थ का परिकल्पन किया गया है । हे स्व ! प्रिय आत्मीय ! प्रसादतः अर्थात् आन्तर नैर्मल्य के प्रकाश में तात्त्विकार्थ को गोपनीय न रखकर अध्वसृष्टि के विषय में बतायें ।

सृष्टि तो उपलक्षण मात्र है । देवी सृष्टि के साथ ही स्थिति और संहार का भी निहितार्थ जानना चाहती हैं । सृष्टि कथन के साथ ही स्थिति और संहार का कथन स्वयम् अभिधास्यमान हो जाता है ।

भगवान् भैरव ने देवी के अनुरोध को स्वीकार किया । उनकी सदिच्छा के वैलक्षण्य को समझा, और 'परमशिव ही कारण है' इस उक्ति के निर्णय के लिये कहना प्रारम्भ किया । उन्होंने कहा कि, निष्ठापूर्वक व्रतों का निर्वाह करने वाली

निमित्तकारणं सोऽत्र कथितस्तव सुव्रते ।

योऽसाविति प्रतिपादितनिःसामान्यचिदानन्दघनः, परः सूक्ष्म इत्यन्तःकरणस्यापि अगोचरः, देवो द्योतनादिसतत्त्वः, कार्यते स्वशक्त्या आभास्यते अनेन कार्यमिति कारणं कर्ता विशेषानुपादानात् सर्वत्र, तथा कार्यतेऽनेन कार्यम्, कार्यतेऽस्मिन्निति च कारणं तेन स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः । यद्वक्ष्यति–

'स्वतेजसा वरारोहे..................'। इत्यादि । (११/४)

देवि ! मैंने यह अवश्य कहा था कि, शिव परम कारण हैं' । (१०।१२५८) । तुमने जो सुना था, वह सही है । यह निर्णीत तथ्य है कि, जो वे सूक्ष्म परमेश्वर देव हैं, वे शिव ही सर्वग कारण हैं । वही निमित्त कारण हैं । यह मैंने उस समय भी कहा था । आज भी घोषित कर रहा हूँ कि, वही निमित्त कारण हैं ।।२।।

इसे विशेष रूप से समझना है । एक एक शब्द इस श्लोक के गूढार्थ संवलित है ।

१.योऽसौ–जो पूर्वपरामर्थक सर्वनाम है । पहले इसके विषय में शास्त्र में पूरी तरह परामर्श किये गये हैं, असौ–वही, समक्ष ही जिसे वर्णन का विषय बनाया जा रहा है, निःसामान्य विशिष्ट चिदान्दघन परमेश्वर ही परम कारण है ।

२. परः–सूक्ष्म है अर्थात् अन्तःकरण से भी अगोचर है । वह वाङ्मनसातीत है ।

३. देवः–द्योतन समर्थ । यों दिव धातु के क्रीडाविजिगीषाद्यनेक अर्थ होते हैं किन्तु इस कारण सन्दर्भ में द्योतन के कारण हैं, यही अर्थ प्रासङ्गिक है ।

४.कारणम्–कार्यते स्वशक्त्या आभास्यते अनेन कार्यम् इति कारणम् अर्थात् जिस आत्मशक्ति के द्वारा कार्य का आभासन किया जाता है, वही कारण होता है । इसके अन्य विग्रह वाक्य भी दिये गये हैं । जैसे कार्यते अनेन, अथवा कार्यतेऽस्मिन्निति कारणम् । इन दोनों विग्रहों द्वारा मूलतः इसी का समर्थन होता है कि, कारण वही है, जिससे कार्य सम्पन्न हो ।

५. सर्वगः–इसी आधार पर यह कहा गया है कि, कर्त्ता स्वात्मशक्ति से ही स्वात्मभित्ति में सब कुछ आभासित करता है । इसका स्फोरण अगले श्लोकों में ही किया जायेगा । वह जो कुछ आभासित करता है, वह उससे व्यतिरिक्त नहीं होता । वह सर्वग होता है । सर्वग शब्द के कई विग्रह वाक्य दिये गये हैं । जैसे–

यच्च तदाभासयति, न तद् व्यतिरिक्तमित्याह सर्वग इति सर्वं गच्छति प्राप्नोति सर्वात्मतां गृह्णाति, अथ च तद्गच्छति आभासयति अधितिष्ठति च तावदशेषव्यापकतदनाच्छादितस्वप्रकाशतया । स्वप्रकाशस्य अस्य सिद्धौ न वराकं प्रमाणमुपयुक्तं प्रत्युत एतदायत्ता प्रमाणादिवस्तुसिद्धिः । अतश्च शिव उन्मीलन-निमीलनाद्यवस्थास्वपि श्रेयःस्वभाव एव इत्येवंभूतो यः, सोऽत्र जगति कर्तव्ये निमित्तकारणं तव सुव्रते तदद्वयसमापत्तिकारणभूते कथितः, न तु व्यापकत्वनित्य-त्वमात्रेण दिक्कालादिसाधारणेन, नापि उपादानाद्यपेक्षकार्यजनकत्वेन कुम्भकारादि-साधारणेन रूपेण यथा अन्येषामद्वैतोपदेशायोग्यानामुक्तः । एवमीश्वरस्यानीश्वरत्व-मेवोपेतम् । यथोक्तमन्यैः–

सर्वं गच्छति प्राप्नोति, सर्वात्मतां गृह्णाति, तद्गच्छति, आभासयति अधितिष्ठति, अशेषं सर्वं व्याप्नोति, स्वप्रकाशेनानाच्छादितं प्रकाशितं करोति इत्यादि । इन सभी शब्दों का मूल अर्थ यही है कि, वह सर्व व्यापक है, सबमें है और उसी में उसी से प्रकाशित हो रहा है । वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है । स्वप्रकाश है ।

इन तथ्यों की कसौटी हमारा कथन है । इस पर खरा उतरने वाला परमेश्वर ही सर्वग हो सकता है । इन बातों के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि, उसकी सिद्धि में सारे प्रमाण वराक हैं, विवश हैं, उसको प्रमाणित करने में नितान्त असमर्थ है । वरन् सत्य तो यह है कि प्रमाणादि वस्तु की सिद्धि इसी चिदानन्द-घन के आयत्त है, वश में है ।

६. इसीलिये वह शिव है । 'शिवः परमकारणम्' के अनुसार वह परम कारण है । उन्मीलन और निमीलन आदि अवस्थाओं में भी वह श्रेयः साधक स्वभाववान् ही रहता है । वही इस जगत् के कल्याण करने में निरत है ॥२॥

७. निमित्तकारणम्–निमित्तकारण है ।

८. सुव्रते–अद्वय भाव से उसी में समापत्ति के व्रत का निष्ठापूर्वक आचरण करवाली देवी !

९. तव कथितः । सुव्रते देवि ! उक्त बातें तुम्हारे मन की हैं । तुम्हारी हैं । तुमसे ही हैं और तुम्हारे लिये कथित हैं । इन्हें व्यापकत्व या नित्यत्व मात्र रूप में दिक्काल साधारण रूप से, या उपादानाद्यपेक्षिकार्य जनक रूप से नहीं लेना चाहिये । जैसे कुम्हार मिट्टी के बर्त्तनों के लिये चक्र चीवर आदि उपादानों का प्रयोग करता है, उस रूप अथवा दूसरों को जैसे वाचा अद्वैत आदि का उपदेश

'ये त्वीश्वरं व्यपदिशन्ति निमित्तहेतुं
दत्तस्तिलाञ्जलिरमीभिरिहेशितायै ।
अन्याङ्गतोपगमनेन वशीकृतस्य
कामीश्वरस्थितिममी वत संगिरन्ते' ।। इति ।

तस्माद्यथोक्तमेव साधु ।

ननु निष्प्रयोजना न प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तिरस्ति, न च अस्य इयज्जन्तु-चक्रायासदायां सृष्टौ किमपि प्रयोजनमुत्पश्याम इत्याशङ्कां शमयितुमाह–

देने के लिए आमतौर पर अयोग्यों को भी कही जाती हैं, उस तरह भी नहीं कही है । तुम ग्राहिका शक्ति की साक्षात् प्रतीक हो । तुमसे मैंने जो कुछ कहा है, यह ब्रह्मवाक्य है, महत्त्वपूर्ण है ।

यहाँ विचित्र जिज्ञासा उपस्थित हो गयी । इस श्लोक में शिव की जो परिभाषा दी गयी है, इसके अनुसार क्या इसे ईश्वर कह सकते हैं ? यह तो अनीश्वर की परिभाषा की तरह है । ईश्वर किसी ऐश्वर्य का स्वामी हो सकता है । वहीं यह श्लोक का कथ्य सर्वग है, कल्याण कारक है । इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि,

जो ईश्वर को निमित्त कारण कहते हैं, इसी रूप में उसका व्यपदेश करते हैं, वे तो सचमुच ऐश्वर्य शक्ति को तिलांजलि ही अर्पित करते हैं ।

वस्तुतः ऐसे ही लोग उस व्यक्ति को कामेश्वर संज्ञा से विभूषित करते हैं, जो अन्याङ्ग के उपगमन से उसी के वशीभूत हो गये होते हैं । अन्याङ्गोपगमन सामान्य कामचर्या का स्मारक शब्द है ।

इस दृष्टि से यहाँ शिव को ही 'परम कारण है' यह कहा गया है । यह तथ्य वाक्य है और सही कथन है । और यही शास्त्र की दृष्टि है ।

प्रश्न है कि, जो व्यक्ति सोच विचार कर काम करता है, उसकी काम करने की प्रवृत्ति प्रयोजनवती होती है या निष्प्रयोजना ? भगवान् शिव जो सृष्टि करते हैं और जिसका प्रत्यक्ष अनुभव भी हो रहा है । यह निष्प्रयोजना है या सप्रयोजना ? यह सृष्टि तो जन्तुचक्र को आयास देने वाली ही है । सुखी तो कम, दुःखी ही अधिक है ? जिज्ञासु कहता है कि, मुझे तो यह नितान्त निष्प्रयोजना ही लगती है । भगवान् कहते हैं–बिल्कुल ठीक । सही सोचा तुमने । यह सत्य है कि, वह अकामात् अर्थात् सर्वथा फलों की अभिलाषा से रहित अनायास, लीला पूर्वक ही स्थावर जङ्गम सहित इस जीवात्मक जगत् का निर्माण करता है । उसकी कोई कामना इसमें नहीं होती ।

अकामात्संसृजेत्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।।३।।

अकामात् परिपूर्णत्वेन फलानभिलाषात्, लीलया स्वतन्त्रक्रीडयैव, सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत् जीवात्मकं निर्मिमीते, न तु जीवा नाम नित्याः केचित्संभवन्ति । एवं हि अनादिमति संसारे जीवानामानन्त्येऽपि प्रतियुगमेकैकमुक्तौ संसारोच्छेद एव स्यात् । तेन परमेश्वर एव स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मात्रमूर्तिः–

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३/३०)

इति शिवसूत्रोक्तस्थित्या स्वरूपगोपनासतत्त्ववेद्यवेदकप्रपञ्चरूपं जगद् दर्पणनगरवदनतिरिक्तमपि अतिरिक्तमिव आभासयति । एवं च न कश्चिद्व्यतिरिक्तो जीवपदार्थोऽपि यदायासकत्वेन भगवतोऽप्रेक्षापूर्वकारिता स्यात् ॥३॥

ईदृशं च जगदसौ न व्यतिरिक्तेन कारणेन केनचित् प्रकाशयति; अपि तु स्वतेजसा

स्वतेजसा वरारोहे व्योम संक्षोभ्य लीलया ।
उपादानं तु तत्प्रोक्तं संक्षुब्धं समवायतः ।।४।।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में कहा भी गया है कि,

'तस्य देवाधिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः' ॥

कुछ विचारक जीव को नित्य मानते हैं । स्थावर जङ्गम के निर्माण की बात से सिद्ध होता है कि जीव अनित्य हैं । इनका निर्माण होता है, वह भी निष्प्रयोजन । इस प्रकार इस अनादि संसार में जीवों की अनन्तता में भी प्रतियुग यदि एक एक की भी मुक्ति होती जाय तो संसार का उच्छेद भी संभव हो सकता है । इसलिये परमेश्वर ही, स्वच्छस्वच्छन्द चिन्मूर्त्तिरूप शिव ही शिवसूत्र के सूत्र ३।३० में लिखे 'अपनी ही शक्ति का आश्यान यह विश्व है' । इस उक्ति के अनुसार स्वात्मगोपन पूर्वक वेद्यवेदक प्रपञ्चरूप जगत् को दर्पण नगर की तरह अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह आभासित करता है ।

इस प्रकार कोई व्यतिरिक्त जीव पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, यह भी एक बात सामने आती है । ऐसी दशा में जब जीव पदार्थ उससे अतिरिक्त है ही नहीं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि, अपेक्षा पूर्वकारिता इस निर्मिति के मूल में हैं ? अर्थात् ऐसा नहीं है ॥३॥

ऐसे विश्व को वह किसी अन्य व्यतिरिक्त कारण से नहीं निर्मित करता वरन् अपने तेज से ही इसे प्रकाशित करता है । इसे अपने तेज से कैसे प्रकाशित करता है, यही कह रहे हैं–लीलापूर्वक अपने तेज से ही व्योम को संक्षुब्ध करते ही इसे प्रकाशित कर देता है ।

इति श्रीकालिकाकुलोक्तस्थित्या व्योम उन्मनावरणं स्वस्वरूपमेव संक्षोभ्य–

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्' । (१०/१२५८)

इत्युक्तदृशा व्यापिनीशक्तिसदाशिवादिभावाभावात्मकस्वशक्तिभित्तिभूतसमनाशक्ति-भूमिकामाश्रित्य समनात्मकस्वशक्तिभित्तौ स्वशक्त्यैव परमेश्वरेण जगद् भास्यत इति तात्पर्यम् ।

अतश्च यत्प्राक् कारणशब्दस्य अर्थत्रयं व्याख्यातम्, तदेव इह स्फुटीभूतम्, अत एव अत्र न व्यतिरिक्तमुपादानं किमपि; अपि तु तदेव व्योमेत्याह–

तदेव व्यापकावरणस्वस्वरूपं व्योम समवायतो नित्याविभिन्नविमर्शमयपरा-शक्तिसम्बन्धात् संक्षुब्धं भावितसंक्षोभं योग्यस्पर्शभूमिकाप्रदर्शनेन किञ्चिच्चलमिव इदन्ताभासोल्लासभित्तिभूतत्वावभासनेन उच्छलदिव । वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैव पर-विमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूपगोपनक्रीडा सदाशिवाना-श्रितपदात्मकसर्वभावाभासासूत्रणभित्तिकल्पसमनारूपतया स्फुरति । इत्थं च करणाधि-करणोपादानरूपमशेषं विश्वकर्तुः परमेश्वरादभिन्नमेवेति प्रतिपादितं भवति ॥४॥

श्रीकालिकाकुल नामक शास्त्र में यह कहा गया है कि, 'परबोध स्वरूप उस देवाधिदेव परमेश्वर का विमर्श ही उसकी पराशक्ति है । इस पराशक्ति से प्रभु सर्व समर्थ परमेश्वर कभी वियुक्त नहीं होते' ।

इस उक्ति के आधार पर यह सिद्धान्त बनता है कि, वह उन्मनावरण रूप व्योम को जो, उसका ही स्वरूप है, उसी व्योम को संक्षुब्ध कर सृष्टि को प्रका-शित कर देता है । इसी तथ्य को दशम पटल के १२५८ वें श्लोक के द्वारा भी व्यक्त करते हैं–वहीं आरूढ होकर परमशिव सृष्टि को प्रकाशित करते हैं । यहाँ 'अत्र' अव्यय व्यापिनी शक्ति और सदाशिव आदि भावाभावात्मक स्वात्म-शक्ति की भित्तिरूपा समनाशक्ति की भूमिका के अर्थ में प्रयुक्त है । उसी समना भूमि पर आरूढ होकर शिव अपनी शक्ति से ही विश्व को प्रकाशित करते हैं ।

इस तरह कारण शब्द का जो तीन प्रकार का अर्थ बताया गया है, उन्हीं अर्थों का समर्थन इससे हो जाता है । इसलिये यह कहा जा सकता है कि, सृष्टि निर्माण में कोई अलग उपादान नहीं है अपितु वही व्योम है । वह परम व्योम व्यापक आवरण से अन्वित होता है । वह नित्य अभेद विमर्शमय पराशक्ति से सम्बन्धित है और शैव तेज से वह विमर्शात्मक व्योम ही संक्षुब्ध हो जाता है । तेजः स्पर्श की भूमिका से वह उच्छलित होने लगता है । यह उच्छलन ही संक्षोभ है । इसमें इदन्ता का आभास होने लगता है । यह आभास भी विमर्श का उल्लास मात्र है । इसी उल्लास भूमि पर इदन्ता रूप सृष्टि अवभासित होती है ।

यथा च भगवता प्रकाशमानतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तमिव जगदाभास्यते, तथा तन्मध्यनियतपौर्वापर्यावभासात्मा महामायाशक्तिभूमौ मायापदे च विचित्रः कार्यकारणभावोऽपि प्रदर्श्यते । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्–

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः' ॥ (२/१/५) इति ॥४॥

तदेतदुपपादयितुमाह–

तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात्स्पर्शसमुद्भवः ।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्तव ।।५।।

तस्मात्समनाशक्तिरूपाद्व्योम्नः शून्यमनाश्रितभट्टारकान्ताशेषविश्वावभासप्रशमाभावावभासात्मकव्यापिनीपदमुत्पन्नम् । ततोऽपि प्रतिपादितरूपप्रसुप्तभुजगाकारशक्तितत्त्वात्मा स्पर्शः । इत्थमेकैव परमेशेच्छाशक्तिः परसूक्ष्मस्थूलरूपतया मेयाभासासूत्रणामयी समना व्यापिनी शक्तिरिति चोच्यते, एकस्या अपि इच्छायाः

वास्तविकता यह है कि, 'उन्मना' नामक परविमर्शमयी पारमेश्वरी शक्ति अहन्तैकरसरूपा मानी जाती है । स्वरूपगोपन में दक्ष है । यह सदाशिव और अनाश्रित पद रूप सर्वभावावभास की आसूत्रण भूमिकल्पा समना में स्फुरित होती है । इस तरह करण के अधिकरण उपादान रूप अशेष विश्वकर्त्ता परमेश्वर से अभिन्न ही यह उन्मना है–यह सिद्ध हो जाता है ।

जैसे भगवान् द्वारा प्रकाशमानता से अव्यतिरिक्त रहते हुए भी व्यतिरिक्त की तरह जगत् आभासित होता है, उसी तरह उसी के बीच में नियत पौर्वापर्य भाव के अवभास रूप महामाया शक्ति भूमि पर मायापद में ही विचित्र कार्य कारण भाव भी अवभाषित कर दिया जाता है । प्रत्यभिज्ञा २।२।५ के अनुसार–

'मूर्त्तिवैचित्र्य के माध्यम से देशक्रम का भी अवभास वही भगवान् करता है । साथ ही क्रिया वैचित्र्य के माध्यम से कालक्रम का भी अवभासन करता है' ।।४।।

इसी तथ्य का समर्थन इस कारिका के माध्यम से कर रहे हैं कि,

उस समनाशक्ति रूप व्योम से शून्य उत्पन्न हुआ । यह शून्य अनाश्रित भट्टारकान्त होता है । इससे अशेष विश्वावभास के प्रशम रूप अभाव की अवभासिका व्यापिनी की उत्पत्ति हुई । व्यापिनी पद से प्रसुप्त भुजग की आकार वाली शक्ति कुण्डलिनी तत्त्वात्मक स्पर्श रूप शक्ति का उदय हुआ ।

सूक्ष्मरूपज्ञानक्रियाशक्तिसम्भेदेन त्रित्वात् । तस्मादपि शक्त्यात्मनः स्पर्शात् शून्यरूपवाच्यवाचकोभयात्मकस्य जगतो मध्यात् प्रथमं समस्तवाचकाविभागमयो नाद उत्पन्नः । संशब्देन उत्पाद्यमानस्य सर्वस्य कार्यस्य शक्त्यात्मककारणभित्तिसंलग्नता उच्यते । पूर्वमिति नादावरणनिरूपणाद्यवसरे ॥५॥

यश्च अयं नाद उक्तः–

अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः ।

स्वयमव्यक्तध्वनिरूपोऽपि वक्ष्यमाणैर्भेदैरष्टधा व्यक्तरूपतां प्राप्तः ।

तद्यथा–

घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ।।६।।

झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ।

एते च धर्मशिवाचार्येण स्वपद्धतौ–

'एतेषां लक्षणं वच्मो गुरुपारम्परागतम्' ।

इस प्रकार एक ही यह परमेश्वर की इच्छा शक्ति पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप से मेय के आभास का आसूत्रण करती है । वही शक्ति पररूप से समना, सूक्ष्म रूप से व्यापिनी और स्थूल रूप से शक्ति के रूप में शास्त्र में प्रतिपादित होती है । शक्ति तो यह एक ही इच्छशक्ति है । इसी का सूक्ष्म रूप ही ज्ञान शक्ति है । यही क्रिया शक्ति रूप में स्थूलता का आश्रय ग्रहण करती है । इस तरह इसका त्रित्व शास्त्रों में प्रतिपादित है ।

इसी शक्त्यात्मक स्पर्श से शून्य रूप उभयात्म वाच्यवाचक भावमय जगत् के मध्य से समस्त वाचकों से अविभागात्मक भेद रहित नाद की उत्पत्ति हुई । नाद के उत्पन्न होने में सम् उपसर्ग का प्रयोग उत्पद्यमान कार्य में शक्तिरूप कारण का सम्यक् योग माना जा सकता है । यह बात नादावरण के निरूपण के अवसर पहले भी कही गयी है ॥५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, यह नाद शब्द प्रभेद से आठ प्रकार से व्यक्त होता है । वस्तुतः नाद अव्यक्त ध्वनि रूप होता है, फिर भी शब्द के प्रकार की दृष्टि से यह आठ प्रकार का हो जाता है । ये आठों शब्द-व्यापार के व्यक्त रूपों के ही ८ भेद होते हैं।–१–घोष, २–रव, ३–स्वन, ४–शब्द, ५–स्फोट, ६–ध्वनि, ७–झङ्कार और ८–ध्वंकार ।

धर्म शिवाचार्य ने अपने पद्धति ग्रन्थ में इन्हें इस प्रकार परिभाषित किया है–

ये सभी लक्षण गुरुपरम्परा से प्राप्त हैं–उनकी व्याख्या इस प्रकार है ।

इत्युपक्रम्य इत्थं व्याख्याता:-

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्य: शब्द: सम्प्रवर्तते ।
दीप्तवह्निस्वनाभास: स शब्दो घोष उच्यते ॥१॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिण: ।
भिन्नकांस्यनिभो रुक्ष: स राव: स्यात्तदन्तग: ॥२॥
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत् ।
स नाद: स्वन इत्युक्तस्तत्पर: कथितो ह्यसौ ॥३॥
चतुर्थ: स तु वै शब्द: सर्वशब्दभवारणि: ।
आत्मानं रावयन्नाद: खे यथा भ्रमरीरव: ॥४॥
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासक: ।
स्फोट इत्युदितो नाद: पञ्चम: शास्तृभिस्तत: ॥५॥
ततोऽतितानधर्मित्वान्नाद: श्रोत्रसुखावह: ।
विपञ्च्या: पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नत: ॥६॥
यथा व्यज्यत आकाशे स षष्ठो ध्वनिसंज्ञित: ।

---

१. घोष–कान में अङ्गुलि डालने से एक विलक्षण शब्द प्रवर्त्तित होता है । जलती लौ वाली आग की ज्वाला से ऐसे ही शब्द का आभास होता है । इसे घोष कहते हैं ।

२. राव–घोष के अन्त में थोड़े मर्म को आगे बढ़ाने वाले और कांस्य की ध्वनि से मिलते जुलते शब्द को 'राव' कहते हैं ।

३. स्वन–वंश ध्वनि के समान निर्वात स्थान पर सौम्य भावमयी धीमी वर्षा की ध्वनि के समान राव को 'स्वन' कहते हैं।

४. शब्द–सभी शब्दों की उत्पत्ति में अरणि के समान तेजस्वी कारण होता है । यह अपने भैरव भाव में अवस्थित रवण व्यापार वाला नाद ही होता है । यह आकाश में गूँजने वाले अलियों के गुंजन के समान आकर्षक होता है ।

५. स्फोट–वाक्य की स्फुटता को धारण करता है । यह ध्वनि के वर्णभेद का अवभासक है । शास्त्रकार ऐसे नाद को स्फोट कहते हैं ।

६. ध्वनि–संगीत के 'तान' का धर्म इसमें होता है । यह श्रोत्र को सुखप्रद होता है । विपञ्ची के पञ्चम स्वर को प्रयत्न पूर्वक निकाले जाने पर जो विचित्रता आती है, इसमें भी वही विचित्रता आ जाती है ।

सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामिव साधु यः ॥७॥
मृदुस्तब्धं निनदति झङ्कारः सप्तमस्त्वसौ ।
घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद्व्यज्यतेऽन्यथा ॥८॥
तुङ्गमेघध्वनिनिभः सोऽष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः' ।

एषामष्टानामपि—

नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः ॥७॥
नदत्यसौ सदा यस्मात्सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

'शक्तिमध्यगतो नादो वंशनादान्तसन्निभः' ।

इति यो नादः प्रतिपादितः, स महाशब्दः सर्वेष्वन्तःसंज्ञबहिःसंज्ञेषु स्थावरादिदेवयोन्यन्तेषु भूतेषु अवस्थितः । अत एव हि—

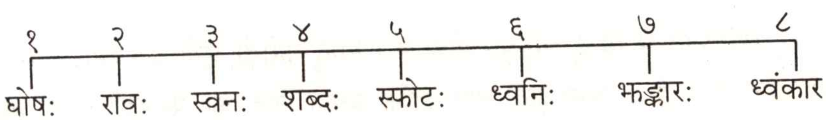
'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' ।

इत्याद्युक्तिप्रतिपादितया नादाख्यया विमर्शसत्तया सर्वेषां सत्त्वम् ।

---

७. झङ्कार—तन्त्री को पूरी तरह उसके आवेश में आकर समाघात करने पर पूरे तार झङ्कृत होने लगते हैं । उसे सुकोमलता के साथ स्तब्धता को व्यक्त करने वाला मोहक नाद ही झङ्कार कहलाता है ।

८. ध्वंकार—घंटा के अनुरणन की ओर बढ़ने वाले आघात से उत्पन्न होने वाले तुंग मेघ की ध्वनि के समान गम्भीर ध्वनन को ही ध्वङ्कार कहते हैं । इसे इस चित्र से समझा जा सकता है ।



इन आठों प्रकार के शब्दों में व्याप्त नवम शब्द को महाशब्द कहते हैं । यह सदा सर्वदा सभी भूतों में स्पन्दित और अवस्थित रहता है ॥७॥

शक्ति मध्य में नित्य स्फुरित, वंशी ध्वनि के अनुरणनान्तनाद की तरह जो नाद शास्त्र में वर्णित है, वही महाशब्द है । यह सभी स्थावर जङ्गमदेवयोन्यन्त प्राणियों में अन्तर्बाह्य दोनों रूपों में अवस्थित रहता है । इसीलिये 'नाद संज्ञक परबीज रूप यह तत्त्व जो सभी जीवों में नित्यसत्तात्मक रूप से स्फुरित है, यही विमर्श सत्ता का भी प्रतिरूप माना जाता है ।

निष्कर्षतः भगवान् भट्टारक वास्तविक रहस्य का उद्घाटन करते हुए कह रहे हैं कि, तस्मात् अर्थात् अब तक नादात्मकता के जिस रहस्य को

यत एवमत:-

तस्मात्सदाशिवो देवो व्यक्तो वै दृक्क्रियात्मकः ।।८।।

स एव नादो ज्ञानक्रियारूपसदाशिवभट्टारकाभिव्यक्तिसतत्त्व इत्यर्थः ।।८।।

अथ अस्मात्-

नादाद्बिन्दुः समुत्पन्नः सूर्यकोटिसमप्रभः ।

अन्त:कृतज्ञानशक्तिप्रधाननादपरामर्शः समस्तवेद्याविभक्तः क्रियाशक्त्यात्मा प्रकाशो बिन्दुः समस्तवेद्याविभिन्नप्रथत्वादेव सूर्यकोटिसमप्रभः ।

स चैव दशधा ज्ञेयो दशतत्त्वफलप्रदः ।।९।।

क्रियाशक्तिप्रधानो बिन्दुरन्तर्गतेच्छाज्ञानशक्तिद्वयः, एकैकस्याश्च शक्तेः सर्वशक्तिसम्भेद इति नव शक्तयः, एतत्सामरस्यात्मा मुख्यो दशमः स्वभाव इति दशधात्वमस्य ।।९।।

हम समझ रहे थे, उसी रहस्य पूर्ण नादशक्ति से सदाशिव देव भी व्यक्त होते हैं । हाँ इसमें कुछ विशिष्टता होती है । यह ज्ञान और क्रियात्मक होता है । दृक्क्रियात्मकता ही सदाशिव भट्टारक की अभिव्यक्ति की सतत्त्वता है । दृक्क्रियात्मकता के कारण नाद को सदाशिव का अधिष्ठान कहते हैं । नाद वाच्य है और सदाशिव देव उसके वाचक तत्त्व हैं । ॐकार की पञ्चपञ्चकता का यह अन्तिम छोर माना जाता है ।।८।।

इसी नाद से बिन्दु समुत्पन्न होता है । बिन्दु करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान भासमान होता है । अन्त:कृत ज्ञान शक्ति प्रधान नाद का परामर्श इसमें होता रहता है । बिन्दु समस्त वेद्यमयता से अभिन्न रूप से सम्पन्न है । साथ ही क्रियाशक्ति का प्रकाश इसमें उल्लसित है । इस तरह के समस्त आन्तरिक गुणों और लक्षणों से लक्षित यह बिन्दु वेदनात्मक बनकर उल्लसित होता है । सर्ववेत्ति इति बिन्दुः इस प्रकार के विग्रह से इसका महत्त्व स्वत: बढ़ जाता है । यह दशतत्त्व फलप्रद बिन्दु दश प्रकार का होता है ।

१-यह क्रिया शक्ति प्रधान होता है । २-इसके अन्तर्गत इच्छा और ज्ञान दोनों शक्तियाँ भी होती हैं । इस तरह इसका त्रिधारूप सिद्ध होता है । इसके साथ ही एक एक शक्ति के तीन तीन रूप मानने पर नवरूप और एक सामरस्य स्वभाववान् माने जाने पर यह दश प्रकार का माना जाता है ।।९।।

दशधा वर्णरूपेण दशदैवतसंयुतः ।

'सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।
नीलं विचित्रवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम्' ॥ (१५४)

इति द्वादशपटलवक्ष्यमाणवर्णस्वरूपभेदेन दशधा । तत्रैव–

'कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ।
पूर्वाननमभिध्यायेद्वायुभक्षस्य यत्फलम् ॥
तत्पुण्यफलमाप्नोति.........................' । (१२२)

इत्यादितत्पुरुषादिदेवतापञ्चकध्यानं तत्फलपञ्चकं च प्रतिपादयिष्यति । तथा तत्रैव अन्तर्गतनादानुद्भिन्नाकारबिन्दुप्रकाशापेक्षया–

वर्ण की दृष्टि से भी यह दश प्रकार का होता है । साथ ही इसके १० अधिष्ठ रूप देव भी होते हैं । जहाँ तक वर्ण और दैवत का प्रश्न है । इसे इस चित्र में देखा जा सकता है ।

बिन्दु[१]

	१	२	३	४	५
वर्ण–	सित	रक्त	पीत	कृष्ण	हरित
दैवत[२]–	ईशान	तत्पुरुष	अघोर	वामदेव	सद्योजात
दिक्–	ऊर्ध्व	पूर्व	दक्ष	उत्तर	पार्श्व

	६	७	८	९	१०
	पिङ्गल	नील	चित्रक	स्फटिक	मनोरम चन्द्रमण्डलरूप
दैवत कलायें–	घंटानाद	निवृत्ति	प्रतिष्ठा	विद्या	शान्ता

प्रकाशबिन्दु रूप

१	२	३	४
कुङ्कुम	नारेश	त्रिनेत्र	जटाधर

इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि, ईश्वर के प्रतीक या अधिष्ठान रूप बिन्दु के दैवतरूप में पूर्ववक्त्र का ध्यान किया जाय, तो उसी पुण्यफल का लाभ मिल सकता है, जो फल 'वायुभक्ष' के ध्यान से प्राप्त होता है ।

---

१. स्व० १२।१५४ २. १२।१५७

'घण्टानादस्य वा ध्यानात्सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत् ।
ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ॥१॥
लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात्पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत्स सूक्ष्मलिङ्गं तनूपरि ॥२॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।
सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते' ॥३॥

इत्यन्तर्गतनादाविभक्तप्रकाशबिन्द्वात्मषष्ठदेवताध्यानं तत्फलं च प्रतिपादयिष्यति । तथा–

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
कलाचतुष्टयोपेतो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः' ॥ (१५४)

इत्यादि अभिधास्यति । इत्थं दशदैवतसंयुतो निवृत्त्यादिकलाभिश्च सह दशतत्त्वफलप्रद इति व्याख्येयम् । टीकाकारैस्तु एवमेतत्पूर्वापरमपरामृश्य–

'स चैव दशधा'.......................................।

इत्यादिर्विद्यातत्त्वविषयो ग्रन्थः, तत्र च षष्ठवर्णान् बिन्दुविसर्गौ च वर्जयित्वा अकारादिवर्णदशकयुक्तत्वं तत्संभिन्नैकैककादिव्यञ्जनदेवतायोगाद्दशदैवतत्वम्, एतद्वर्णदशकाभिव्यक्तत्वात्सर्ववाङ्मयरूपं फलं दशधा अत्रेति यत्स्वकल्पनया व्याकारि, तदुपेक्ष्यम् । विद्यातत्त्वविषयस्तु ग्रन्थः–

दैवत के रूप में ऊपर का चित्र द्रष्टव्य है । इसके फल के विषय में आगे प्रतिपादन किया जायेगा । यहीं नाद से अनुद्भिन्न आकार वाले बिन्दु प्रकाश की अपेक्षा यदि केवल घण्टानाद का ही ध्यान किया जाय, और इसे छः मास तक लगातार किया जाय, तो यह निश्चित है कि, मर्त्यलोक के प्राणियों को अद्भुत सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।

इसी तरह जो पुरुष बिन्दु संयुत लिङ्ग का ही ध्यान करता है, उसे अपने शरीर पर एक माह की ध्यान पद्धति के फलस्वरूप परमेश्वर के सूक्ष्म लिङ्ग स्व-रूपता की अनुभूति होने लगती है । उस शुद्ध स्फाटिकवत् लिङ्ग का दर्शन करते ही मुक्ति हस्तामलकवत् हो जाती है, और छः माह में तो उसे विविध सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है ।

यहाँ पुनः इस तथ्य का स्मरण दिला रहे हैं कि, नाद से अविभक्त प्रकाशबिन्दु रूप षष्ठ देवता का ध्यान और उसके फल के विषय में आगे कहा जायेगा ।

तस्माद्विद्या ततो माया...............'। (११।५३)

इत्यग्रे भविष्यति । एतदपि तैर्न परामृष्टम्, इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन ।

अथ एतस्मात्–

बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः सोऽष्टभेदाङ्गसंयुतः ।।१०।।

पञ्चब्रह्मकलाभिश्च विद्याङ्गैः शक्तिभिर्युतः ।

पञ्चभिश्च महाज्ञानैर्मूर्तिभिश्च समन्वितः ।।११।।

स सदाशिव इति यः पूर्वं भौवनेऽध्वनि बिन्द्वावरणादधः स्थूलरूप उक्तः, तस्यैव हि सकलाद्यष्टभेदैरङ्गैः परिवारैः पञ्चभिरीशानादिब्रह्मभिः सर्वज्ञत्वादिरूपैर्वेदनप्रधानैः षड्भिरङ्गैर्वामाद्याभिर्विद्याद्याभिश्च शक्तिभिस्ताराद्यष्टात्रिंशत्कलाभिः पञ्चवक्त्रोद्भूतस्रोतःपञ्चकरूपैर्महद्भिर्ज्ञानशास्त्रैः ओंकारादिभिर्दशभिर्विजयादिभिरष्टादशभिश्च मूर्तिभिर्व्यक्तत्वं पूर्वमभिहितम् । अतो यदन्यैर्बिन्दुः सदाशिव इति पठित्वा घोषाद्यष्टकाङ्गयुक्तनादाख्यसदाशिवरूपो बिन्दुरिति सामानाधिकरण्येन व्याख्यातम्, तदसत् ।

इसी सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जैसा कि, बिन्दु चित्र में दिखला भी दिया है, निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति इन चार कलाओं का ध्यान बिन्दु रूप ईश्वर तत्त्व में करना चाहिये । यही बात द्वादश पटल के श्लोक १५४ में कही भी गयी है ।

इस प्रकार दश दैवत संयुक्त निवृत्त्यादि कलाओं के साथ ही दशतत्त्व फलप्रद बिन्दु है–यह चित्र से स्पष्ट हो जाता है ।

बहुत से टीकाकारों ने पटलों की विषय संगति का विना विचार किये श्लोक ९ को विद्यातत्त्व विषयक बताया है, वह उपेक्ष्य ही है । वहाँ छः वर्णों को और बिन्दु तथा विसर्ग को छोड़कर अकारादि दश वर्णों का अर्थ लिया है तथा उन्हीं से मिलते स्वरों के वर्णों को दैवत रूप में मान लिया है तथा फल को इसी से युक्तकर अर्थ लिखा है, वह अस्वीकार्य है ।

विद्यातत्त्व विषयक ग्रन्थ पटल ११ के श्लोक ५३ में है । यह भी उन टीकाकारों ने नहीं देखा ।

अब इनकी स्थिति का और आकलन करते हुए बता रहे हैं कि, बिन्दु से सदाशिव का अर्थ लेना चाहिये क्योंकि भुवनदीक्षा प्रकरण में बिन्दु आवरण से अधोभाग में स्थूल का वर्णन किया गया है । उसी के सकलादि अष्टभेदमय अङ्ग रूप परिवारों के साथ पञ्चब्रह्म रूप पञ्चवक्त्रों के जो ईशानादि रूप में प्रसिद्ध हैं उनसे, सर्वज्ञादिरूप वेदन प्रधान छः अङ्गों से, वामादि विद्याओं से, तारा आदि ३८ कलाओं से, पाँच मुखों से उद्भूत पाँच स्रोत रूप आम्नायों से, ओंकारादि

किञ्च–

स एवापररूपेण परमात्मा शिवोऽव्ययः ।
द्विधावस्थः स च ज्ञेयः सोच्चारोच्चारवर्जितः ।।१२।।

यः पूर्वं परमकारणरूपोऽव्ययः शिव उक्तः, स एव अपररूपेण सदाशिव-भट्टारकः, न त्वसौ व्यतिरिक्त इत्यर्थः । यः शिवोऽव्यय उक्तः, स द्विधा व्यापकत्वेन अवस्थितो ज्ञेयो ज्ञातव्यः । कथमित्याह सहोच्चारेण ऊर्ध्वोच्चारणरूपेण बिन्दुनादादिपरामर्शात्मना रूपेण वर्तते उच्चारवर्जितस्त्वशेषविश्वव्यापिपरमशिवात्मा स्वभावः ॥१०-१२॥

मुद्रामन्त्रस्वरूपेण स एव च पुनर्द्विधा ।
क्रियाज्ञानस्वरूपेण इच्छारूपस्वरूपतः ।।१३।।

एतत्स्वरूपप्राप्त्युपायात्मनापि मुद्रामन्त्रस्वरूपेण द्विधा । मुद्रा हि परतत्त्व-प्रतिबिम्बभूता अन्तःसंविद् द्रविणमुद्रणाद् मुदं रान्ती पाशमोचनभेदद्रावण-कारिणी तत्तत्सन्निवेशरूपतया परस्फारमनुकुर्वती, तथा मन्त्रोऽपि अन्तर्गुप्त-भाषणात्मकपरपरामर्शसतत्त्वेन मननत्राणधर्मा परतत्त्वप्राप्त्युपायः परमेशात्मैव ।

दशरूपों से, विजय आदि १८ रुद्रों से मूर्त्तिरूप में अभिव्यक्त है । इसकी चर्चा भी की गयी है । इसे ही बिन्दु ही सदाशिव है, यह मानकर घोषाद्यष्टकाङ्ग युक्त नादाख्य सदाशिव ही बिन्दु है, यह व्याख्या असत्य है ।

वस्तुतः जो परमकारण रूप अव्यय शिव कहे गये हैं, वही अपर रूप में सदाशिव भट्टारक हैं, कोई अन्य नहीं हैं । वे वहाँ पर रूप में हैं । यहाँ अपर रूप में सदाशिव ही हैं ।

वही अव्यय शिव द्विधावस्थ हैं । यह स्पष्ट हो गया है क्योंकि, वही ऊर्ध्वोच्चार रूप भी है और वही उच्चारवर्जित अर्थात् अशेष विश्व व्याप्त परम शिव स्वरूप भी हैं ॥१०-१२॥

वही मुद्रा और मन्त्र की दृष्टि से पुनः द्विधा रूप में अवस्थित हैं । वही क्रियाशक्ति प्रधान ईश्वर भट्टारक हैं । वही ज्ञानशक्ति प्रधान सदाशिव भट्टारक हैं । वही इन रूपों में स्फुरित होते हैं । वह इच्छा शक्ति शक्ति प्रधान अनाश्रित भट्टारक भी हैं ।

मुद्रा परतत्त्व प्रतिबिम्बरूपा अन्तः संवित् के द्रविण की मुद्रण रूपा है । वही मुद्रण का आदान करती है । वही पाशों का मोचन करती है । भेद का द्रावण (विनाश) करती है । विभिन्न सन्निवेशों में परस्फार का आवर्त्तन करती है । इस-लिये मुद्रा को परमेश्वर का ही रूप मानते हैं ।

परमेश्वर एव हि उपेयपदवदुपायरूपतया स्फुरितः । किञ्च, क्रियाशक्तिप्रधानेन ईश्वरभट्टारकात्मना ज्ञानशक्तिप्रधानेन च सदाशिवभट्टारकात्मना स एव स्फुरितः, तथा इच्छाशक्त्यात्मना अनाश्रितरूपेण स्वरूपेण च शक्तिमद्रूपपरम-शिवात्मना ॥१३॥

न केवलमित्थमुपेयात्मना उपायात्मतया शक्तिवैचित्र्येण भगवानेवं भाति, यावत्समस्तशास्त्रीयलौकिकव्यवहारगतसर्ववाचकात्मतया तद्वाच्यवस्त्वात्मतया चेत्याह–

शब्दावबोधरूपेण वस्तुरूपस्वरूपतः ।

शब्दरूपेण तदबोधरूपेण तथा शब्दवाच्यवस्तुरूपेण स्वरूपेण च पूर्ण-चिदात्मनेत्यर्थः । स्वरूपेणेत्युक्तेरिदमाकूतं यदशेषशब्दार्थचिन्तारूपतया स्फुरन्नपि परमेश्वरोऽपरिम्लानचिदानन्दघन एवेति सर्वमिदं परभैरवाद्वैतरूपमेव । तदुक्तं मयैव–

जहाँ तक मन्त्र का प्रश्न है, यह आन्तर गुप्तार्थ प्रकाशक परपरामर्श सदृश मनन और त्राण रूप होने के कारण परतत्त्व की प्राप्ति का परमोपाय भी है । एक तरह से यह कहा जा सकता है कि, यह वाङ्मय रूप परमेश्वर ही है ।

परमेश्वर ही उपेयपद की तरह उपाय रूप में भी स्फुरित होता है । क्रिया-शक्ति प्रधान ईश्वर रूप से और ज्ञानशक्ति प्रधान सदाशिव भट्टारक रूप से भी स्फुरित है । वही इच्छा शक्ति रूप अनाश्रित भट्टारक रूप से परमशिवत्व का भी प्रतिनिधि बनकर स्फुरित है । यह मुख्य रूप से ध्यातव्य रहस्य है ॥१३॥

भगवान् की भगवत्ता का ही यह चमत्कार है कि, वह इस प्रकार उपेय भाव में स्फुरित होता है और शक्तिवैचित्र्य को चरितार्थ करते हुए उपाय रूप से भी स्फुरित होता है । उसके प्रकाशमान स्वरूप के ये दोनों पक्ष हैं । समस्त शास्त्रीय सिद्धान्तों से वही प्रतिपादित होते हैं और लौकिक व्यवहारों की ललामता में वही लास्यरत हैं । वाच्यवस्तु में उन्हीं की सत्ता स्फुरित है और वाचक रूप से भी वही वास्तविकता को चरितार्थ करते हैं । वही कह रहे हैं–

वह शक्तिवैचित्र्य से संस्फुरित परमेश्वर शब्दावबोध से व्यक्त होता है और वही वस्तुरूप स्वरूप से भी व्यक्त हो रहा है । शब्द रूप से और उसके अर्थज्ञान रूप से तथा शब्द से वाच्य वस्तु रूप से और अपने स्वरूप से भी पूर्ण चिदात्म-घन परमेश्वर ही स्फुरित हो रहे हैं ।

स्वरूप शब्द से यह बात ध्वनित हो रही है कि, वाङ्मय में जितने शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं, उनके और उनके अर्थों के चिन्तन में उसी का स्वरूप स्फुरित है । इतने वैचित्र्यमय रूपों में व्यक्त होने पर भी परमेश्वर के पारमैश्वर्य में किसी

हेयं केचन मन्वते जगदिदं बाह्यं तनुस्थं परे
ह्यैऽऽश्वर्य्यान्तनिवेशकेऽप्यथ परे देहे परस्मिन्स्थितौ । (?)
भिन्नं भाति न जातु यत्पुनरिदं चिद्भानुभासस्ततो
भाभिर्भामि निजाभिराभिरभितो विश्वात्मभिर्भैरवः ॥ इति ।

येषां तु परमेशमायाशक्त्यावृतत्वादेतत्प्रथायोग्यता नास्ति, तदभिप्रायेण–
'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' । (४।४३२)
इत्यादि उक्तमिति न पूर्वापरवैषम्यं किञ्चित् । तदित्थम्–

स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः ।।१४।।

प्रकार की श्लथता या म्लानता नहीं दीख पड़ती है । वह शुद्ध चिदानन्दघन परमेश्वर इस सार्वात्म्य में समाहित रहता है । उसका परभैरव रूप अद्वैत कभी विकृत नहीं होता ।

आचार्य क्षेम स्वरचित श्लोक से यही सिद्ध कर रहे हैं कि, चाहे कोई उसके विषय में कुछ कह ले वास्तविकता यही है कि, चिद्भानु से भासित भैरव रूप मैं विश्वात्मिकारूप अपनी ही भारूपरश्मियों से भामि अर्थात् भासित हो रहा हूँ । स्वयं भैरव स्वात्म रश्मियों से चिद्घन रूप से भासित हैं । वही मैं भी हूँ ।

उसके विषय मैं कौन क्या विकल्प प्रकल्पित करते हैं, श्लोक में कुछ का वर्णन है 'जैसे कोई उसे हेय मानते हैं, वे निरीश्वरवादी लोग हैं । कोई कहते हैं कि वह बाह्य हैं, कोई तनुस्थ मानता है । कोई माया में कोई ईश्वरान्त में निर्विष्ट कहता है, कोई पररूप में देह में अवस्थित मानता है । इन विकल्पों को स्वरित करते हुए साधक भक्त कहता है कि, मुझे तो कहीं कोई भेदावभास होता ही नहीं । उसी चिद्भानु का सर्वत्र आभास हो रहा है । मैं भैरवरूप ही स्वयं भासित हो रहा हूँ' ।

जिन लोगों में परमेश्वर की शक्ति माया शक्ति से आवृत रहने के कारण इस प्रकार की अद्वैतबोध-प्रथा की योग्यता नहीं होती, उन्हीं लोगों के विषय में यह शास्त्रीय उक्ति है कि,

'वरारोहे देवि ! समना पर्यन्त सारा का सारा प्रपञ्च पाशजाल रूप है । (४।४३२)' यह कहा जा सकता है कि, विश्व में कहीं कोई पूर्वापर वैषम्य नहीं । इसीलिये परमात्मा को, स्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म (पररूप) सर्वातीत और निरञ्जन विशेषणों से विभूषित करते हैं और उसका यही सच्चा स्वरूप भी है ।।१४।।

व्योमरूपस्वरूपेण समनोन्मन एव च ।
उन्मनातीतो देवेशि शिवो ज्ञेयः शिवागमे ।।१५।।

योऽसावुन्मनाक्रमं जानामीत्युक्तामुन्मनाशक्तिमतिशयेन इतः प्राप्तस्तद्धाराधिरूढः शक्तिमदात्मा शिवागमे शिवः श्रेयःस्वभाव उच्यते, स्थूलो भूम्यादिप्रकृत्यन्तेन रूपेण, सूक्ष्मः पुमादिमायान्तेन, परः शुद्धविद्यादिशक्तितत्त्वान्तेन स्फुरितस्तथा व्योमरूपेण आनाश्रितात्मना स्वरूपेण, किञ्च, समनोन्मने शक्ती विद्येते यस्यासौ समनोन्मनस्तद्रूपीत्यर्थः, अशेषविश्वात्मना परमेश एव स्फुरतीति यावत् ।

एवं स्थूलाद्युन्मनान्तं विश्वं परमेशमयमेवेत्युपसंहारदृष्ट्या उक्त्वा प्रसरक्रमेणापि तत्तत्कारणात्मना स एव स्फुरतीत्यादिशति–

उन्मनासमनास्थानं शिवेन समधिष्ठितम् ।
पञ्चकारणरूपेण तदधः पुनरेव सः ।।१६।।

यह व्योम साक्षात् उसी का 'स्व' रूप है । वही समना पद में प्रतिष्ठित है । वही उन्मना का मान है । वही उन्मनातीत भी है । भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, देवि उमे ! शैव आगमों में उसे शिवरूप में ही स्वीकार करते हैं ॥१५॥

उन्मनातीत का आचार्य जी ने आगम के अनुकूल अर्थ लिखा है कि, जो उन्मना पद को अतिशयेन अतिशय पूर्वक इत है अर्थात् प्राप्त है, वह साधक और शिव दोनों अर्थों को आत्मसात् करने वाला ही वस्तुतः शिव है । वह उसी धारा में अधिरूढ है । शक्तिमन्त है । आत्मा है । वही शिवागम का शिव है । श्रेयः साधक परमेश्वर है ।

स्थूल का तात्पर्य भूमि से प्रकृति पर्यन्त सभी तत्त्व रूप में लिया जाना चाहिये । सूक्ष्म, पुरुष से माया पर्यन्त तत्त्व हैं । पर भाव में शुद्ध विद्या से शक्ति तत्त्व आते हैं । व्योम रूप से अनाश्रित तत्त्व माना जाता है समना और उन्मना ये दोनों उन्हीं शिव की शक्तियों के स्फुरित रूप हैं । इस तरह यह कहा जा सकता है कि, अशेष विश्व रूप से वही परमात्म तत्त्व परमेश्वर ही स्फुरित हो रहा है ॥१५॥

उन्मना और समना दोनों स्थान शिव से सम्यक् रूप से अधिष्ठित हैं । जिसमें सूक्ष्मरूप से विश्व अवस्थित है । वही स्थान उन्मना माना जाता है । वह स्वातन्त्र्य शक्ति का अधिष्ठान रूप होता है ।

तिष्ठत्यस्मिन्विश्वमिति स्थानमुन्मनारूपं स्वातन्त्र्यशक्तिरूपम्, तत्स्वातन्त्र्याव-भासितं च यद् भावाभावरूपाशेषसूत्रणात्म समनारूपं स्थानं तत् शिवेन सम्यग-धिष्ठितं स्वभित्तौ स्वाभेदेन अवभासितमित्यर्थः । तस्याः समनाया अध इति व्याप्यात्मनि शून्यातिशून्ये पदे चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकप्रधानेन अनाश्रितादिव्याप्यन्तपञ्चकारणरूपेण स एव शिवः पुनरपि स्थितः, न पुनरनाश्रिता-दयस्तद्व्यतिरिक्ताः केचित् ॥१६॥

किञ्चैतत्–

कारणं पञ्चकं देवि अधिष्ठाय त्वधस्ततः ।

ततोऽनाश्रितादिपञ्चकारणात्मनो रूपादधः शक्तिब्रह्मबिलसुषुम्नानादनादान्त-बिन्दुपदानि अधिष्ठाय अभेदेन तद्भूमीराभास्य एतत्कारणपञ्चकं स्थितमित्यनुषङ्गः ।

एतद्विभजति–

व्यापकः शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारमनाश्रितः ॥१७॥
अनन्तश्च सुषुम्नेशस्त्वनाथश्चोर्ध्वगस्तथा ।
व्योमरूपी महादेवि बिन्द्वीशः परिकीर्तितः ॥१८॥

व्यापक इति व्यापिभट्टारकः प्रपञ्चव्याप्त्या, शक्तिमूर्धस्थ इति शक्त्यावरण-रूपो यो मूर्धा तत्स्थ इति तद्गतः–

इसी स्वतन्त्रता से अवभासित भावाभाव रूप आसूत्रण से समन्वित समना स्थान होता है । ये दोनों स्थान सम्यक् रूप से शिव से अधिष्ठित हैं । स्वात्म रूप शिव की नींव पर अभेद भाव से अवभासित हैं ।

समना के अधोभाग में व्याप्यात्मक शून्यातिशून्यपद पर चिद् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति पञ्चक प्रधान और अनाश्रितादि व्याप्त्यन्त पाँच कारणों के रूप में भी वही शिव विराजमान हैं । वे अनाश्रितादि भी उसके विरुद्ध या व्यतिरिक्त नहीं हैं ॥१६॥

अनाश्रित आदि पाँच कारण रूपों से अधः शक्ति, ब्रह्मबिल, सुषुम्ना, नाद-नादान्त, बिन्दु पदों पर अधिष्ठित होकर अभेद पूर्वक उस पद को आभासित करते हैं । ये कारण पञ्चक किन स्थानों को अधिष्ठित करते है । इसी का वर्णन यहाँ कर रहे हैं ।

१–व्यापक शक्तिचक्र मूर्धा में अवस्थित है । २–अनाश्रित ब्रह्मबिलद्वार पर अधिष्ठित हैं । ३–अनन्त सुषुम्ना के स्वामी हैं । ४–अनाथ–ऊर्ध्वग देव हैं और भगवान् कह रहे हैं कि महादेवि ! ५–व्योमरूप कारण बिन्दु के स्वामी हैं ॥१७-१८॥

'स्थूलः सूक्ष्म.......................'। (११।१४)

इत्युक्तकारणपञ्चकात्मतया स्फुरितः, तथा अनाश्रितभट्टारको बिलद्वारमिति तदधिष्ठातृ ब्रह्मरूपः, एवमनन्तः सुषुम्नावरणाधिष्ठातृसुषुम्नेशरूपः, अनाथ ऊर्ध्वग इति नादान्ताधिष्ठात्रूर्ध्वगेशरूपः, व्योमभट्टारकोऽपि बिन्द्वावरणगतशान्त्यतीताख्यबिन्द्वीशमूर्तिः । ननु च अनाहतानाथानन्तव्योमव्यापिनो ये पूर्वमुद्दिष्टास्ते यद्युत्तरा भूमीरानुलोम्येन भजन्ते, तदनाश्रितः शक्तिमूर्धस्थ इत्याद्युक्त्या भवितव्यम् । अथ प्रातिलोम्येन तथा–

'व्यापी तु शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारं खरूपकः' ।

इत्यादि दर्शनीयम्, तत्कोऽत्र क्रमः । एक एव पञ्चशक्तिसामरस्यात्परमेश्वरो यथास्वातन्त्र्यमनाश्रितादिव्याप्यन्तकारणपञ्चकरूपतां प्रपञ्चव्याप्त्या श्रित्वा शक्त्यादि-

---

१–व्यापक प्रपञ्च में व्यापक रूप से व्याप्त रहने के कारण ही इनका यह नाम पड़ा । शक्ति मूर्धस्थ का तात्पर्य है कि, शक्ति नामक आवरण के मूर्धा भाग में अवस्थित हैं और स्थूल हैं ।

२–अनाश्रित भट्टारक बिलद्वार अर्थात् ब्रह्मबिल के द्वार के स्वामी हैं । ब्रह्मबिल के अधिष्ठाता स्वयं ब्रह्मा हैं । अतः अनाश्रित भी एक तरह से ब्रह्मा ही हैं ।

३–अनन्त सुषुम्ना के स्वामी हैं । ये सुषुम्नावरण के स्वामी ही हैं ।

४–अनाथ यह ऊर्ध्व देव हैं । नादनादान्त के अधिष्ठाता ऊर्ध्वगेशरूप कारण देव हैं ।

५–व्योमरूप भट्टारक बिन्दु के आवरण में अवस्थित शान्त्यतीतरूप बिन्द्वीश मूर्त्ति कारण देव हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ये कारण देव जैसा कि पहले कहा भी गया है, अनाहत, अनाथ, अनन्त, व्योम और व्यापक इस रूप के क्रम में यदि उत्तर भूमियों का स्पर्श अनुलोम विधि से करते हैं, तो उसी समय अनाश्रित कारण देव शक्ति मूर्धस्थ होते हैं ।

वहीं प्रातिलोम विधि के अनुसार ही व्यापी शक्ति मूर्धस्थ होता है और बिलद्वार पर खरूप अर्थात् व्योमरूप से अवस्थित होते हैं । यह सब आलोचना और समीक्षा की बाते हैं । प्रश्न है कि, यहाँ कौन सा क्रम है ? परमेश्वर तो एक ही है । वह परमशक्ति सामरस्यमय है । वह अपनी स्वातन्त्र्यशक्कि के आधार पर अनाश्रित से व्यापक पर्यन्त कारण पञ्चक रूप से प्रपञ्च व्याप्ति का आश्रय ग्रहण कर शक्ति से लेकर बिन्दु के आवरण तक उन उन आवरणों के ईश मूर्त्ति रूप से

बिन्द्वावरणगततत्तदीशमूर्तिरूपतयापि स्फुरितः, न त्वत्र आनुलोम्यं प्रातिलोम्यं वा किञ्चित्; अपि तु अक्रम एवात्र क्रमो वास्तवेन वृत्तेन सर्वेषां भगवदेकमयत्वादित्याशयेन अयमीदृशः क्रमोऽत्र प्रदर्शितः । एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यम् । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्–

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः' ॥ (१।७।१) इति ॥१८॥

इमामेव अभेदसारां प्रपञ्चव्याप्तिं सार्धश्लोकेन प्रदर्शयति–

अनाश्रितः स्वयं ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थितः ।
अनाथो विष्णुरित्युक्तस्त्वनन्तो रुद्र एव च ।।१९।।
व्योमरूपीश्वरः प्रोक्तो व्यापी चैव सदाशिवः ।

अनाश्रितभट्टारक एव स्वयं साक्षाद्ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थित इति भूरादिब्रह्मलोकान्तमित्यर्थात् ।

किञ्च–

व्यापकश्च पुनर्देवि हाटकः परमेश्वरः ।।२०।।

स्फुरित होता है । इसमें आनुलोम्य प्रातिलोम्य भाव के लिये कोई स्थान नहीं है । यहाँ क्रम में भी अक्रमता और अक्रम में भी क्रम का स्फुरण सम्भव है । यह परेश्वर के ऐश्वर्य का ही उच्छलन मात्र है । इसमें मात्र भगवदैकात्म्य का ही प्रतिफलन होता है ।

श्री प्रत्यभिज्ञा में भी यही दृष्टि समर्थित है । वहाँ कहा गया है कि, 'जो यह परमेश्वर की संवित्शक्ति की चमत्काररूपिणी प्रतिभा विभिन्न विभिन्न पदार्थों के क्रम रूप से रूपायित है अर्थात् व्याप्त है, इसी में वह अक्रम अनन्त चिद्रूप में भी व्याप्त है । इसके एक मात्र प्रमाता परममहेश्वर ही हैं । इन उक्तियों में क्रमाक्रमविज्ञान का रहस्य ध्यातव्य है ॥१७-१८॥

इस अद्वयरहस्य साररूपा प्रपञ्चव्याप्ति के विषय में कह रहे हैं कि, अनाश्रित स्वयं ब्रह्मा हैं । वही भूलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त आस्थित है । सर्वत्र अधिष्ठित और प्रतिष्ठित हैं । अनाथ ही विष्णु हैं । अनन्त ही रुद्र हैं । व्योमरूप ईश्वर हैं और व्यापक ही सदाशिव हैं । व्यापक ही हाटक है । यह परमेश्वर हाटक विद्या मन्त्रों से युक्त सातों पातालों के नायक हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवेश्वरि ! अनन्त ही रुद्र हैं । कालाग्नि ही इनके विग्रह हैं । अनाथ भी अनन्त रूप से सभी अध्वावर्ग को धारण करते हैं । अनाश्रित ही हे महादेवि ! हूहुक हैं ।

विद्यामन्त्रगणैर्युक्तः सप्तपातालनायकः ।
अनन्तश्चैव देवेशि रुद्रः कालाग्निविग्रहः ।।२१।।
अनाथोऽनन्तरूपेण स्थितश्चाध्वनि धारकः ।
अनाश्रितो महादेवि स्थितो वै हूहुकः प्रभुः ।।२२।।

अनन्तरूपेणेति कर्परिकाधोगतानन्तभट्टारकात्मना, अध्वनीति कर्परिका-पर्यन्ते । हूहुक इति पूर्वोक्तानन्तभुवनान्तर्वर्ती । तदेवं स्थूलेन हूहुकादिना सूक्ष्मेण ब्रह्मादिना च पञ्चकेन एक एव परमेश्वरः पूर्वोक्तपञ्चशक्त्यात्मा स्वच्छन्दनाथः प्रपञ्चव्याप्त्या स्फुरित इत्यनेनापि आशयेन–

'स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः' । (११।१४)

इति श्लोकार्धं संगमयितव्यम् । अनाश्रितादिपञ्चकस्य एवं प्रपञ्चव्याप्तिं तथा सर्वा-देरनाश्रितनाथस्य सर्वान्तहूहुकनाथरूपतां प्रदर्शयन् सर्वमिदं निरञ्जनसतत्त्वमेवेति शिक्षयति वस्तुतोऽनाश्रितभट्टारकस्य निरञ्जनपरभैरवस्वरूपाव्यतिरेकात् ।।२२।।

यदाह–

स्वशक्त्याश्रितः स भगवांस्तेन गीतस्त्वनाश्रितः ।

ब्रह्मकर्परिका के अधोभाग में अनन्त भट्टारक रूप से वह कर्परिका पर्यन्त व्यवस्थित है । हूहुक अनन्त भुवन के अन्तवर्त्ती देव हैं । यह पहले ही कहा गया है । इस तरह स्थूल हूहुक और सूक्ष्म ब्रह्मा आदि रूपों में एक ही स्वच्छन्द-परमेश्वर पूर्वोक्त पाँच शक्तियों के रूप में स्फुरित हैं ।

इस तरह की शास्त्रीय उक्तियों में संगति विठलाते रहना चाहिये । पटल ११ के श्लोक चौदह में स्थूल, सूक्ष्म पर परातीत और निरञ्जन के कथन अर्थ संगति में सहायक हो सकते हैं ।

अनाश्रित आदि पाँचों की प्रपञ्च व्याप्ति तथा सबके आदि में अनाश्रित नाथ की तथा सबके अन्त में हूहुक नाथ की इन रूपों में व्याप्ति का प्रदर्शन करते हुए यह सिद्ध करना सरल हो जाता है कि, यह सब कुछ निरञ्जन रूप ही है । ये अनाश्रित और ये निरञ्जन देव सभी परभैरव रूपता से किसी दशा में व्यतिरिक्त नहीं हैं ।।१९-२२।।

अनाश्रित कहने का तात्पर्य भी असामान्य है । वस्तुतः वे स्वशक्ति के आश्रित हैं । उनकी स्वशक्ति, उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति है । वही विश्व की उत्पत्ति की कारण है । वही पारमेश्वरी शक्ति भी कही जाती है । उसी की साक्षात् भित्ति में उससे अवियुक्त रहते हुवे स्व से अतिरिक्त की तरह यह स्फुरित हैं । इसी के आश्रित हैं । वह अपनी ही है । किसी दूसरे का आश्रय नहीं है । अतः अनाश्रित है ।

स्वा विशेषानुपादानाद् विश्वस्य प्रभवभूता या पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिस्तामाश्रितः साक्षात्तद्वित्तौ तदविभिन्नस्फारतया स्फुरति । यदाह श्रीप्रत्यभिज्ञाकारः–

'सा द्वितीयैव शिवता.............'। इति ॥

अतश्च–

तस्याश्रितं जगत्सर्वमुन्मन्यन्तं वरानने ।।२३।।

उन्मनी शक्तिरन्ते यस्य समनावधेर्जगतः, तत् तस्य आश्रितमनाश्रितभट्टारकरूपशिवतत्त्वाश्रितमित्यर्थः ॥२३॥

यथा च पारमेशीं परां विश्वाधारिकां स्वातन्त्र्यशक्तिभित्तिमाश्रित्य अनाश्रितनाथः, तथा च परमूर्तिर्हूहुकभट्टारकोऽपि तामेव आश्रित्य स्थित इत्याह–

संस्थितश्चाम्भसो मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः ।

शक्त्याधार इति अपरशक्त्याश्रयः । अम्भसो मूर्ध्नीत्यनेन अस्य देशनिर्देशः । यत् श्रीभुल्लकः शक्त्याधार इति ब्रह्माण्डकर्परिकारूपाधारशक्त्याश्रय इतीहापि व्याकार्षीत्, तदस्य विस्मृतवस्तुसमर्थनचरमेवेत्युपेक्ष्यम् ।

किञ्च–

अप्तत्त्वं चैव तदध आग्नेयं तदनन्तरम् ।।२४।।

अपनी ही इच्छा शक्ति के रूप में ही स्फुरित है । यह हर हालत में कृस्वरूपकल्प ही है । प्रत्यभिज्ञाकार इसी को द्वितीय शिवता मानते हैं ।

अन्त में सौ बात की एक बात ! भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इसी के आश्रित सारा जगत् है । सबसे ऊपर रहने वाले पिण्ड शक्त्यण्ड की सर्वातिशायिनी शक्ति उन्मना ही है । उन्मना पर्यन्त अर्थात् समनातक अनाश्रित शिव की ही व्याप्ति है । जगत् इसी के आश्रित है अर्थात् शिवतत्त्वाश्रित है ॥२३॥

जैसे पारमेश्वरी परा विश्वधारिका शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति की भित्ति का आश्रय लेकर अनाश्रित भट्टारक अवस्थित हैं तथैव परमूर्त्ति हूहुक भट्टारक भी उसी शक्ति का आश्रय लेकर अवस्थित हैं । यही कह रहे हैं–

अपर शक्याश्रय हूहुक भी अम्भस् अर्थात् जलतत्त्व के मूर्धा भाग में अवस्थित हैं ।

शक्त्याधार शब्द को स्वच्छन्द के एक प्रसिद्ध टीकाकार श्री भुल्लक ने ब्रह्माण्डकर्परिका रूप आधार शक्ति के आश्रय का जो अर्थ किया है, वह एक नयी खींचतान है । इसीलिये यह उपेक्ष्य है । जिस अप्तत्त्व के मूर्धाभाग में हूहुक अवस्थित हैं, वह आग्नेय के अधोभाग में है । अप् तत्त्व के बाद ही आग्नेय तत्त्व आता है ॥२४॥

वायव्यं नाभसं चैव तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
विषयाश्च मनश्चैव अहङ्कारस्त्वनुक्रमात् ।।२५।।
बौद्धं गौणं च देवेशि प्राकृतं पौरुषं तथा ।
नियतिः कालरागौ च विद्या चैव कला तथा ।।२६।।
मायातत्त्वं तथा विद्या ईश्वरश्च सदाशिवः ।
बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधी च नादो नाडी त्वतः परम् ।।२७।।
अधो ब्रह्मबिलं देवि शक्तितत्त्वं ततः परम् ।
पञ्चकारणसंयुक्ता व्यापिनी च ततः परम् ।।२८।।
समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये ।

विषया इति ये पूर्वं रश्म्यावरणगता उक्तास्त इह विषयाकारतया स्थिताः । ततश्च यदाह श्रीभुल्लको विषया महाभूतस्वरूपा एवेह इन्द्रियग्राह्या इन्द्रियोक्त्यनुषङ्गेण प्रसङ्गादुक्ता इति, तदसत् । बौद्धमित्यादौ तत्त्वमिति योजनीयम् । नाडीति सुषुम्नावरणगता च सुषुम्नैव । अधो ब्रह्मबिलमिति अपास्य ऊर्ध्वं ब्रह्मबिलमिति टीकाकारपाठो न साधुः, ऊर्ध्ववदधोऽपि सुषुम्नान्तस्य अध्वनो ब्रह्मबिलव्याप्तत्वात्

आग्नेय के ऊपर बायव्य, फिर नाभस, तन्मात्राओं, इन्द्रियों और विषयों के अवस्थान हैं । मन, अहङ्कार, बुद्धि, गुण, प्राकृत पौरुष नियति काल, राग, विद्या कला, माया, शुद्धविद्या, ईश्वर सदाशिव, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद और नादान्त, नाडी सुषुम्ना, ब्रह्मबिल, शक्तितत्त्व, पञ्चकारण संयुक्ता व्यापिनी, समना और उन्मना पर्यन्त अण्ड प्रक्रिया सक्रिय है । अण्ड प्रक्रिया में, १–पार्थिवाण्ड, २–प्रकृत्यण्ड, ३–मायाण्ड और ४–शक्त्यण्ड ये चार अण्ड ही आते हैं । इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विश्व है । सबसे ऊपर शिवाण्ड है । उसकी चर्चा यहाँ नहीं है ॥२५-२८॥

इन २४ से २८ श्लोकों में सारी सृष्टि प्रक्रिया को समेट कर संकेत में सबका स्मरण करा दिया गया है । इसमें कुछ शब्दों पर विचार करें–

१. विषयाः (श्लोक २५)–ये पहले रश्मिआवरण के अन्तर्गत कहे गये हैं । ये सामान्य विषयों से अलग हैं । ये तन्मात्रा के अन्तर्गत ही आते हैं । सारी इन्द्रियों के सारे व्यापार इन्हीं को लेकर चलते हैं । श्री भुल्लक ने भी विषयों को इन्द्रिय ग्राह्य रूप में ही माना है । पर आचार्य क्षेम इसे असत् मानते हैं ।

२. बौद्धम्–(श्लोक २६) बुद्धितत्त्व से सम्बन्धित आवरण ।

३. नाडी–(श्लोक २७) सुषुम्नावरण स्थिता । इसके स्वामी सुषुम्णेश हैं ।

पृथिव्यादितत्त्वानामुत्तरोत्तरमन्तर्बहिर्व्याप्त्यवस्थित्या प्रतिपादितत्वात् । उन्मनाया विशेषणं प्रक्रियाण्डैर्युतेति प्रोक्तया प्रक्रियया स्थिता अण्डा ब्रह्माण्डप्रकृत्यण्ड-मायाण्डशक्त्यण्डास्तैर्युता सम्बद्धा । ते हि तदेकाश्रयाः ।

एतत्संकलयति–

एवं वै प्रक्रियाण्डं तु अधोर्ध्वं संव्यवस्थितम् ।।२९।।

प्रोक्तप्रक्रियया स्थितं यदण्डमित्येकवचनाद् मायाण्डं शक्त्यण्डं चैकरूपम्, तदध ऊर्ध्वे च अन्तर्वर्तितत्तत्तत्त्वगर्भीकारेण सम्यक् सबाह्यभ्यन्तरव्याप्त्या विशेषेण अवस्थितम् ।।२९।।

किं शक्त्यण्डमायाण्डद्वयमेव अन्तर्वर्तितत्तत्तत्त्वोर्ध्वाधरादिव्याप्त्या स्थितम्, नेत्याह–

---

४. अधोब्रह्मबिलम्–इस पाठ में अधो के स्थान पर ऊर्ध्व लगाने का कुछ टीकाकारों का प्रयत्न असत् है । वस्तुतः अधोभाग में भी सुषुम्नान्त अध्वावर्ग की व्याप्ति ब्रह्मबिल पर्यन्त होती ही है । इस तरह पृथिव्यादि तत्त्वों की उत्तरोत्तर उत्कर्षमयी अन्तर्बहिर्व्याप्ति का समर्थन भी शास्त्र करता है । यहाँ नाद और शक्ति तत्त्व के बीच में नाडी और ब्रह्मबिल दो तत्त्वों की परिगणना की गयी है । यह प्रचलन में नहीं है । यहाँ इनका उल्लेख साधना यात्रा करने वाले उपासकों को स्मरण दिलाने के उद्देश्य से किया गया है ।

५. उन्मना (श्लोक २९) इस शब्द के विशेषण के रूप में प्रक्रियाण्डैर्युता इस शब्द का उल्लेख है । वस्तुतः प्रक्रियाण्डों से सारा सृजन ही जुड़ा हुआ है । पृथिवी से लेकर शक्ति अण्ड तक के अन्तर्गत ही सब आ जाता है । इस-लिये मेरी दृष्टि में युता में विसर्ग लगाना आवश्यक है । क्योंकि ये उक्त सभी प्रक्रियाण्ड से युक्त हैं ।

इस तरह यह प्रक्रियाण्ड अध से ऊर्ध्व पर्यन्त सम्यक् रूप से व्यवस्थित हैं ।।२९।।

२९वें श्लोक की अर्धाली में प्रक्रियाण्ड में एक वचन का प्रयोग यथार्थ प्रयोग है । मायाण्ड और शक्त्यण्ड को एकरूप मानने की आचार्य के विवरण को असत् कहकर उनका अपमान हम नहीं करना चाहते किन्तु यह कथन परम्परा के विरुद्ध है । इन दोनों अण्डों की एक रूपता का जो तर्क आपने दिया है, वह भी शास्त्र की परम्परा के विरुद्ध अधः और ऊर्ध्व अन्तर्वर्त्ती सभी तत्त्व पृथक् पृथक् से सबाह्याभ्यन्तर व्याप्ति में अवस्थित हैं ।।२९।।

क्या शक्त्यण्ड और मायाण्ड दोनों अन्तर्वर्त्ती तत्त्वों के अधः और ऊर्ध्व व्याप्ति से स्थित हैं ? नहीं । मायाण्ड के अन्तर्वर्त्ती पृथ्व्यण्ड और प्रकृत्यण्ड का

एवंविधान्यधोऽधो वै ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः ।

एवंविधानीति । बहुवचनेन मायाण्डान्तर्गतप्रकृत्यण्डब्रह्माण्डपरामर्शस्तेषां बहुत्वात् । तदुक्तं श्रीमालिनीविजये–

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकमेकं पृथग्द्वयम्' । (२।५०)

एवंविधानीत्युक्तिः अधोऽध ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्तत इत्यनेन व्याख्याता ।

बहुवचनसूचितमनेकत्वं स्फुटयति–

यथा आत्माणवो देवि असंख्याता व्यवस्थिताः ।।३०।।

व्यवस्थिता इति ऐश्वर्या मायाशक्त्या तथा संकुचितत्वेन आभासनादित्यर्थः ।।३०।।

तर्हि तान्यपि विभागेन किं न वर्ण्यन्ते । यतः–

एवं वै प्रक्रियाण्डानि त्वसंख्येयान्यनेकशः ।
एकेन वर्णितेनेह सर्वोऽध्वा वर्णितः प्रिये ।।३१।।

परामर्श बहुवचन के द्वारा इस श्लोक में किया गया है । इसका रहस्य यह है कि, वस्तुतः एक शिवतत्त्व के अन्तर्गत बहुत सारे अण्ड एक के सहित एक में नियोजित हैं । शिव की व्याप्ति सबमें है । इसके बाद शक्ति की व्याप्ति नीचे के पृथ्वी, प्रकृति और मायाण्डों में है । मायाण्ड का पृथ्वी और प्रकृति पर है और पृथ्वी पर भी प्रकृत्यण्ड की व्याप्ति है । इस तरह ऊर्ध्वाधः भाव से सब एक मणि की ही रश्मियाँ हैं और वह मणि, चिन्तारत्नरूपी शिव ही हैं ।

मालिनीविजयतन्त्र कहता है कि, अण्डरूपी आवरणों में भुवन विभाग होते हैं । इन उक्त चार अण्डों में आदि के दो अण्ड अर्थात् पार्थिव और प्राकृत ये दोनों असंख्यात हैं । अगणनीय हैं । फिर भी पृथक् पृथक् इनका वर्गीकरण है । अतः अपने पृथक् अस्तित्व के सभी प्रतीक रूप हैं । इस तरह 'एवं विधानि' रूप बहुवचनान्तपद अधः अधः और ऊर्ध्व ऊर्ध्व चारों ओर से पूर्णरूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । फिर भी इनका पृथक् अस्तित्व भी स्वीकृत है ।

इसका ही समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि, आत्मा के अणु कितने हैं ? इसकी संख्या नहीं बतायी जा सकती । इसीलिये इन्हें असंख्यात कहते हैं । अप्रकलप्य संख्या में ये हैं । ईश्वरी मायाशक्ति से संकुचित रूप से आभासित और व्यवस्थित हैं ।।३०।।

इस तरह हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि, प्रक्रियाण्ड भी असंख्यात हैं । क्षेमराज ने प्रक्रियाण्ड को प्रकृत्यण्ड कहकर फिर विषय को उलझाने की चेष्टा की है । यह आग्रह मात्र है । इसमें विशेषता यह होती है कि, एक के वर्णन से सभी अध्वा वर्णित हो जाते हैं ।।३१।।

यथा ह्येकं तथा सर्वं प्रक्रियाण्डं स्थितं प्रिये ।
सर्वेषां प्रक्रियाण्डानां स्वस्वरूपेण सुव्रते ।।३२।।
व्यापकस्तु शिवः सूक्ष्मः सबाह्याभ्यन्तरं स्थितः ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तः सर्वकारणवर्जितः ।।३३।।
सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः प्रपञ्चातीतगोचरः ।

प्रकृत्यण्डानीति बहुवचनात्प्रकृत्यण्डब्रह्माण्डरूपाणीत्युक्तमेव । स्वेन अनपायिचित्प्रकाशात्मना स्वरूपेण सर्वेषां सूक्ष्मः शिव इति परमशिवभट्टारको बहिरन्तश्च व्यापकः स्थितश्चित्प्रकाशात्मकपरमशिवरूपतां विना कस्यापि सत्तासिद्धेः शिवमयमेव विश्वमित्यर्थः । शिवसदाशिवेश्वरादीनामधरापेक्षया यथोत्थानमति-

---

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये ! जैसा एक है, वैसे ही सभी प्रक्रियाण्ड हैं । सभी प्रक्रियाण्डों की यह स्वाभाविकता होती है कि, वे स्व स्वरूप से ही अवस्थित हैं ॥३२॥

इन सबमें व्यापक एक मात्र शिव ही है । वह प्रक्रियाण्डों में बाहर और भीतर समान रूप से अवस्थित है । सभी अतिशयों से विवर्जित और सभी कारणों से रहित तत्त्व है । सृष्टि और संहार इन दोनों क्रियाओं से वह निर्मुक्त है । सभी सृजन प्रक्रिया के वैचित्र्यात्मक प्रपञ्चों से अतीत और अपने चित्प्रकाशमय चैतन्य की चेतना से गोचर होने वाला ही वह विश्वात्मा और विश्वोत्तीर्ण महेश्वर है ॥३३॥

इन श्लोकों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के अर्थों को इस प्रकार समझना चाहिये–

१. स्वस्वरूपेण (श्लोक ३२)–'स्व' रूप भगवान् का अविनश्वर चित्प्रकाश रूप । यह उसी अपने स्वरूप से सर्वत्र व्याप्त है ।

२. व्यापकः (श्लोक ३३)–चित्प्रकाशात्मक परमशिवरूपता के विना किसी सत्ता की सिद्धि असम्भव है । अतः वह व्यापक माना जाता है ।

३. सर्वातिशयनिर्मुक्तः (श्लोक ३३)–शिव, सदाशिव और ईश्वर इन पदों से अधर-स्थित ईश्वर से अतिशय रूप उत्थान स्पष्ट है । इसी तरह सदाशिव अधर की अपेक्षा शिवोत्थान में अतिशय स्पष्ट दीख पड़ता है । परमशिव तो मात्र चित्प्रकाश परमार्थ तत्त्व है । यह इन सबकी अपेक्षा महासत्तात्मक असामान्य और अनिर्वचनीय सर्वातिशायी तत्त्व है । सबसे अतिशय पद पर परशिवतत्त्व प्रतिष्ठित है । वहाँ अन्य अतिशयों की अवधि समाप्त हो जाती है । अब अतिशय वहाँ रह ही नहीं जाता । इसी आशय से यह कहा गया है कि, वह सर्वातिशय निर्मुक्त है ।

शयोऽस्ति । परमशिवस्तु चित्प्रकाशमात्रात्मतया महासत्तात्मा महासामान्यरूप इति एतदन्यस्य अतिशयावधेरभावात् सर्वातिशयैर्निर्मुक्तः सर्वकारणं सर्वकारणवर्जितश्च नित्योदितचिदेकमूर्तिरिति तन्त्रेण व्याख्येयं यतः सृष्टिसंहाराभ्यां निर्मुक्तः । सर्वस्य हि जगत एष एव भगवान् स्वच्छस्वच्छन्दचिदेकमूर्तिः स्रष्टा संहर्ता च, न तु अस्यापि अन्यस्तस्य कल्प्यमानस्यापि एतत्प्रकाशात्मतां विना अनुपपत्तेः । किञ्च, अयं प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतः स्वचित्प्रकाशैकमयत्वेनैव प्रकाशमानो गोचरो जगदात्मा सर्वो विषयो यस्य । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्–

'स्वात्मैव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु' । इति । (२।१।७)

किञ्चायम्–

निर्मलो विमलः शान्तस्त्वध ऊर्ध्वं व्यवस्थितः ।।३४।।

निर्गता आणवाद्या मला यस्मात् तथाभूतोऽसौ, विमलः चित्प्रकाशैकमूर्तिः, अतश्च समस्तभेदोपशमात् शान्तः, तथापि च स एव अध इति मायादिक्षित्यन्त-

---

४. सर्वकारणवर्जितः–(श्लोक ३३) वह सर्वकारण भी है और सभी का वह कारण रूप भी है और सभी कारणों से वर्जित है । ये दोनों तथ्य उसमें हैं । वही नित्योदित चिदेकमूर्त्ति है । चित्प्रकाश में सृष्टि और संहार का यह रूप नहीं होता । इसीलिये दोनों से निर्मुक्त होने के कारण कारणवर्जित तत्त्व है ।

कहने के लिये तो शास्त्र घोषित करता है कि, भगवान् स्वच्छ स्वच्छन्द चिदेकमूर्त्तिरूप परमतत्त्व है । वही इस सृष्टि और संहार के कारण भी हैं । पर इस परमतत्त्व का कोई कारण नहीं है । स्थिति तो यह है कि, इस परमत्ता के विना सत्ता की सम्भावना ही नहीं होती ।

५. प्रपञ्चातीत गोचर (श्लोक ३४)–चित्प्रकाशरूप में ही यह प्रकाशमान रहता है । सारे प्रपञ्च उसी में उसके रूप में ही भासित हैं । इसी पारमार्थिक दृष्टि से वह प्रकाशरूप प्रपञ्चातीत रूप में ही गोचर है ।

श्री प्रत्यभिज्ञाशास्त्र भी यही कहता है कि, स्वात्मतत्त्व ही स्वात्मभाव से परिपूर्ण है । उसी के प्रभाव से सारे भाव पदार्थ भासित है ।

यही नहीं वह परम निर्मल परमात्मा अधः और ऊर्ध्व सर्वत्र सुव्यवस्थित है ।।३४।।

जिससे आणवादि सारे मल निर्गत हो चुके हैं । यही शास्त्र का पक्ष भी है । विमल रूप परमेश्वर चित्प्रकाश स्वरूप है । इसीलिये समग्र भेदभाव की उससे समाप्ति हो गयी है । इसलिये शास्त्र उसे ज्ञान मानता है । वह माया से पृथ्वी

तया, ऊर्ध्वं च शुद्धविद्यादिशिवान्ततया, विविधेन रूपेणावस्थितो न हि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ता अस्तीत्युक्तत्वात् ॥३४॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति–

आकाशस्य यथा नोर्ध्वं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
एवं सर्वगतो देवः शिवः परमकारणम् ॥३५॥
व्याप्य देवि जगत्सर्वं व्योमसु व्योमवत्स्थितः ।

एतदेव अद्वयज्ञानं परमोपादेयमित्याह–

एवं ज्ञात्वा वरारोहे न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥३६॥

व्योम गृहघटाद्यवच्छिन्नेषु आकाशप्रदेशेषु यथा व्योम अभेदमयमेव स्थितम्, तथा जगत्सर्वं प्रकाशमानत्वात्प्रकाशमयं चित्प्रकाशात्मा शिवः अभेदेन व्याप्य स्थितः । अत एव अस्य देशकालादिकृत ऊर्ध्वमध्याधरभेदो न कश्चित् ।

एवं शिवभट्टारकस्यैव स्वप्रकाशमयसमस्तजगदभेदव्याप्तिं प्रदर्श्य, तत्प्रपञ्चरूपाणां ब्रह्मादीनां यावती व्याप्तिस्तामपि दर्शयति–

कारणानां पुनर्व्याप्तिं कथयामि समासतः ।

पर्यन्त अधः तत्त्वों में तथा शुद्धविद्या से परमेश्वर पर्यन्त ऊर्ध्व तत्त्वों में सुव्यवस्थित है । उस प्रकाश सत्ता के अतिरिक्त कोई किसी भी की सत्ता कभी नहीं होती । यह वास्तविक सत्य है ॥३४॥

आकाश का कोई ऊर्ध्व. नहीं होता । मध्य की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती हैं । जब मध्य और ऊर्ध्व नहीं हैं, तो अधः की परिकल्पना भी असम्भव है । अधः ऊर्ध्व आकाश ही आकाश व्याप्त है । यही उदाहरण परमकारण शिव में भी घटित है । आकाश की तरह परमकारण शिव ही ऊर्ध्वाधः सर्वत्र सर्वगत भाव से व्याप्त है ॥३५॥

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! व्योम की व्याप्ति में व्योम की तरह स्थित परमेश्वर सारे जगत् के अप्रकल्प्य विस्तार में व्यापक रूप से अवस्थित है । यह अद्वय विज्ञान है । इसको इस रूप में हृदयङ्गम करते करते व्यक्ति में दृढ श्रद्धा का चिन्मयोदय हो जाये, तो भगवान् कह रहे हैं कि वरारोहे देवि ! वह व्यक्ति मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है । उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥३६॥

श्लोक ३६ में व्योम शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । उसका तात्पर्य यह है कि, गृहाकाश, घटाकाश, जठराकाश, महाकाश आदि रूपों में व्यवहार में आने वाले आकाश रूपों में भी आकाश की अद्वयता ज्यों की त्यों बनी रहती है, उसी तरह यह सारा जगत् प्रकाशमान होने से प्रकाशरश्मि का ही प्रतिरूप है । चित्प्रकाशात्मा शिव अभेद व्याप्ति में सुव्यवस्थित हैं ।

पूर्वमनाश्रितादेः परमकारणपञ्चकस्य हूहुकान्तं व्याप्यव्यापकभावो दर्शितः, इदानीं तु तस्यैव अपररूपतया ब्रह्मादिपञ्चकरूपस्य तत्त्वाद्यधिष्ठानद्वारिका व्याप्तिः प्रदर्श्यते–

तत्त्वे तु पार्थिवे ब्रह्मा अधिष्ठाता व्यवस्थितः ।।३७।।
अप्तत्त्वे तु स्थितो विष्णु रुद्रस्तेजसि संस्थितः ।
ईश्वरो वायुतत्त्वे तु आकाशे तु सदाशिवः ।।३८।।

व्यवस्थितः । पूर्वम्–

'कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि' । (५।१३)

इत्युक्तत्वात्प्रतिष्ठादिकलाव्याप्ततत्त्वानुसारमप्तत्त्वादितत्त्वस्वरूपं मन्तव्यम् ।।३८।।

इससे यह निष्कर्ष भी निकला जा सकता है कि, उसमें देश कालादिकृत ऊर्ध्व, मध्य और अधः रूप किसी प्रकार की खण्डित परिकल्पना असम्भव है ।

यह अद्वयबोध परम उपादेय बोध है । इसका परिणाम भी अद्भुत होता है । इस दृढबोध के फल स्वरूप व्यक्ति जन्म का भागी नहीं बनता अर्थात् आवागमन के बन्धन में वह नहीं पड़ता ।।३५-३६।। ४।७।०३

इस प्रकार परमेश्वर शिव की ही स्वात्म प्रकाशरूपिणी अभेदव्याप्ति का प्रतिपादन यहाँ तक किया गया । इसके बाद शिव द्वारा स्वात्मभित्ति में जिस प्रपञ्च को उल्लसित किया गया है, मुख्य कारणों की जो व्याप्ति है, उसके विषय का स्पष्टीकरण भगवान् स्वयं कर रहे हैं–

उन्होंने देवी को सुनाते हुए यह स्वयं कहा कि, मैं संक्षेप में कारणों की व्याप्ति के सम्बन्ध में तुमसे कह रहा हूँ । पहले तो मैंने परमकारण पञ्चक रूप अनाश्रित से हूहुक पर्यन्त के व्याप्य व्यापक भाव का विवरण दिया है । इस समय अपरकारण रूप ब्रह्मा आदि पञ्चक के तत्त्वाधिष्ठान सम्बन्धिनी व्याप्ति के सम्बन्ध में ही कह रहा हूँ ।

१–पहली और मुख्य बात यह है कि, पार्थिवतत्त्व के अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' नाम से व्यवस्थित हैं ।।३७।।

२–अप् तत्त्व के अधिष्ठाता विष्णु हैं ।

३–तेजस् तत्त्व के अधिष्ठाता रुद्र व्यवस्थित हैं ।

४–वायु तत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वर हैं और

५–आकाश तत्त्व के अधिष्ठाता सदाशिव देव हैं ।

पहले आह्निक पाँच के श्लोक १३ में यह कहा गया है कि, कलाओं की जितनी व्याप्ति है, तत्त्वों की भी उसी प्रकार की उतनी ही है । इस उक्ति के

आदित्यश्च स्मृतो ब्रह्मा सोमो विष्णुश्च सुव्रते ।
ग्रहाणामधिपो रुद्रो नक्षत्राणां तथेश्वरः ।।३९।।
यजमानस्तु देवेशि स्वयं देवः सदाशिवः ।

इह पृथिव्यादिपञ्चकं सूर्यः सोमो यजमानश्चेति या अष्टौ महेश्वरस्य मूर्तयः, ततः कलाव्याप्तिसतत्त्वं मेयरूपं पृथिव्यादिमूर्तिपञ्चकं ब्रह्मादिकारणैरधिष्ठितमित्युक्तम् । यत्तु करणपक्षे निविष्टा च यजमानी मूर्तिः पञ्चमीति, तत्रापि ब्रह्माद्यधिष्ठितत्वमुक्तम् । आदित्य इति प्राणो दक्षिणस्रोतश्च । सोमोऽपानो वामस्रोतश्च । ग्रहनक्षत्राधिपौ बाह्यौ सोमसूर्यौ प्रमेयप्रकाशेनोपयुक्तौ । सदाशिवस्य यजमानत्वमशेषप्रमेयप्रमाणाधिष्ठातृपरप्रमातृमयत्वात् ।

अनुसार जितनी कलायें हैं, उन्हीं के अनुसार तत्त्वों के अधिष्ठाता भी निर्धारित है ॥३८॥

जैसे इस चित्र से समझा जा सकता है–

तत्त्व

	१	२	३	४	५
	पार्थिव	अप्	तेजस्	वायु	आकाश
कलायें	निवृत्ति	प्रतिष्ठा	विद्या	शान्ता	शान्तयतीता
अधिष्ठाता	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र	ईश्वर	सदाशिव
प्रमाता	आदित्य	सोम	ग्रह	नक्षत्र	यजमान
ब्रह्मपञ्चक	सद्योजात	वामदेव	अघोर	तत्पुरुष	ईशान
शास्त्रक्रम	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद	आगम
ज्ञान	लौकिक	वैदिक	आध्यात्मिक	अतिमार्ग	मन्त्र

आदित्य ही ब्रह्मा, सोम ही विष्णु, ग्रहों के स्वामी रुद्र, नक्षत्रों के स्वामी ईश्वर माने जाते हैं । यजमान स्वयं सदाशिव देव माने जाते हैं । शिव अष्टमूर्त्ति रूप माने जाते हैं । इस आठ मूर्त्ति रूप शिव की स्थिति यह है–१–पृथिवी, २–अप्, ३–तेज, ४–वायु, ५–आकाश, ६–सूर्य, ७–सोम और ८–यजमान इस सम्बन्ध का कवि-सम्राट् कालिदास का श्लोक इस प्रकार है–

समस्तमहेश्वरमूर्त्यधिष्ठातारो ये ब्रह्मादयस्तेऽपि सद्य आदिभगवन्मन्त्रमया एवेति इत्थमपि परमेश्वराद्वयमयमेव जगदित्यादिशति–

सद्योजातस्तु वै ब्रह्मा वामो विष्णुः प्रकीर्तितः ।।४०।।
अघोरो रुद्र इत्युक्तस्तथा पुरुष ईश्वरः ।
ईशानस्तु वरारोहे स्वयं देवः सदाशिवः ।।४१।।

या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्याच होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्यविश्वम् ।
यामाहुः सर्वभूत-प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।। अ० शा०१।१

अथवा

जलं वह्निस्तथा यष्टा सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।
आकाशं वायुरवनी मूर्त्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ।। इस अनुष्टुप् में भी अष्टमूर्त्ति शिव का वर्णन उपलब्ध है ।

इस तरह पृथिव्यादि पाँच महाभूत, सूर्य, सोम और यजमान ये आठ महेश्वर की मूर्त्तियाँ हैं । इसके बाद कलाव्याप्ति की मेय रूप पृथिवी आदि पञ्च-महाभूत रूप मूर्त्ति पञ्चक भी, ब्रह्मादि कारणों से अधिष्ठित है । इसके अतिरिक्त करणपक्ष में निविष्ट जो पाँचवी याजमानी मूर्त्ति उसमें भी ब्रह्मा आदि की अधिष्ठिति कही गयी है ।

जहाँ तक आदित्य का प्रश्न है, यह तो प्राण ही है । और यह दक्षिण स्रोतस् प्राण है । सोम भी अपान तत्त्व है और वाम स्रोतस् है । ग्रहों और नक्षत्रों के स्वामी जो सूर्य और सोम हैं, ये बाह्य जगत् के प्रकाश के प्रतीक हैं । दोनों में जो प्रकाश है, वह प्रमेय प्रकाशरूप ही है किन्तु शैव प्रकाश के अतिरिक्तवत् भासित प्रकाश है । सदाशिव का याजमानी स्वरूप, समग्र प्रमेय प्रमाण से अधिष्ठित परप्रमाता मय है । इसीलिये यजमान के लिये यह स्पष्ट उल्लेख है कि, वह स्वयं सदाशिव देव ही हैं ।

इस तरह अष्टमहेश्वर मूर्त्ति के अधिष्ठाता ये जो ब्रह्मा, बिष्णु आदि कहे गये हैं, ये भी भगवान् भैरव के पंचवक्त्र स्वरूप ही हैं । इन सभी दृष्टियों से यही सिद्ध होता है कि, यह जगत् अद्वय परमेश्वर रूप ही हैं । इसीलिये स्पष्ट उल्लेख भी है कि, सद्योजात वक्त्र ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा ही हैं और वामदेव भी विष्णु ही हैं ।।४०।।

इसी तरह अघोर वक्त्र रुद्र है । तत्पुरुषवक्त्र ईश्वर है । ईशान वक्त्र तो साक्षात् सदाशिव देव ही हैं ।।४१।।

यच्च एतद् ब्रह्माद्यधिष्ठातृ भगवच्छक्तिरूपं सद्य आदिमन्त्रपञ्चकम्, तदेव वेदादिसमस्तशास्त्रप्रपञ्चरूपमित्याह–

सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुः स्मृतः ।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते ।।४२।।
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः ।

ऋगादिवेदाः प्रत्येकं कर्मदेवताज्ञानकाण्डात्मका मन्तव्याः । सर्वविद्यात्मक इत्युक्त्या प्रोक्तोऽपि प्रविभागः अस्यैव भगवतः प्रपञ्च इति शास्त्रक्रमेणापि भगवद्-द्वयमयमेव जगत् ।

ज्ञानक्रमेणापि अद्वैतमित्याह–

लौकिकं देवि विज्ञानं सद्योजाताद्विनिर्गतम् ।।४३।।

जो ये सद्योजात आदि मन्त्र पञ्चक रूप हैं ये भी ब्रह्मा आदि कारण पञ्चकों से अधिष्ठित हैं । यहाँ यह स्पष्ट करने के बाद यह सिद्ध कर रहे हैं कि,

ब्रह्माद्यधिष्ठातृ भगवत् शक्तिस्वरूप सद्योजात आदि पञ्चक भी वेदादि समस्त शास्त्र प्रपञ्च रूप ही हैं । वही कह रहे हैं–

१–सद्योजात ही ऋग्वेद रूप हैं ।

२–वामदेव ही यजुर्वेद रूप हैं ।

३–अघोर ही सामवेद रूप है ।

४–तत्पुरुष ही अथर्ववेद है ।

५–ईशान के विषय में कह रहे हैं कि, समस्त देव वर्ग से श्रेष्ठ ईशान परमेश्वर सर्व विद्यात्मक हैं ।

ऋग् आदि वेद प्रत्येक कर्म देवता और ज्ञान काण्ड रूप तीन काण्डों में विभक्त हैं । सर्व विद्यात्म कहने का तात्पर्य यह है कि, इनके अतिरिक्त आगम आदि विद्याओं का स्वरूप ईशानात्मक ही है और इसी भगवान् की प्रपञ्च रूपा सारी विद्यायें हैं । इस तरह शास्त्र क्रम में भी भगवदैक्य रूपता का ही निरूपण है । सारे शास्त्र भगवदद्वयमय मात्र हैं ॥४२॥

ज्ञान क्रम की दृष्टि से भी अद्वैत सिद्धि का उपक्रम कर रहे हैं–

भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि देवि ! यह

१–लौकिक विज्ञान सद्योजात से विनिर्गत है ।

वैदिकं वामदेवात्तु आध्यात्मिकमघोरतः ।
पुरुषाच्चातिमार्गाख्यं निर्गतं तु वरानने ।।४४।।
मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम् ।

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यायुर्वेदनाट्यवेदादिप्रतिपाद्यकृषिनयानयचिकित्सादि-विज्ञानम् । वैदिकं नित्यनैमित्तिककाम्ययज्ञादिस्वरूपम् । आध्यात्मिकं सांख्य-

---

२-वैदिक विज्ञान वामदेव से विनिर्गत है ।

३-अतिमार्ग विज्ञान तत्पुरुष वक्त्र से विनिष्कृत है ।

४-मन्त्र नामक महाज्ञान, भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, ईशान देव से विनिर्गत माने जाते हैं ।

१-लौकिक विज्ञान के अन्तर्गत वार्त्ता, दण्डनीति, आयुर्वेद, नाट्यवेदादि प्रतिपाद्य कृषि, नयानय, चिकित्सादि विज्ञान परिगणित हैं ।

२-वैदिक विज्ञान में नित्य, नैमित्तिक, काम्य, यज्ञादि विषय आते हैं ।

३-अतिमार्ग विज्ञान के अन्तर्गत वेद, सांख्य, योगादि में उक्त उपासारूप प्रसिद्ध मार्गों को अतिक्रान्त कर, सामान्य पारमेश्वर शास्त्र प्रतिपादित विविध मुद्रा मण्डल, क्रियादि उपायादिरूप विज्ञान ही अभिप्रेत है ।

४-पारमेश्वर शास्त्रों में पञ्चप्रणवाधिकार प्रतिपादित नीति के अनुसार मन्त्रों में जो कुछ रहस्यात्मकता का उद्‌घाटन है, वह इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण मन्त्र वीर्यप्रद ज्ञान और क्रिया आदि विज्ञान है और तन्त्रादिविज्ञानों से विलक्षण अनुभवैकगम्य विज्ञान ही 'मान्त्र' विज्ञान रूप है ।।४३-४४।।

	१	२	३	४	५
	पार्थिव	अप्	तेजस्	वायु	आकाश
कलायें	निवृत्ति	प्रतिष्ठा	विद्या	शान्ता	शान्त्यतीता
अधिष्ठाता	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र	ईश्वर	सदाशिव
प्रमाता	आदित्य	सोम	ग्रह	नक्षत्र	यजमान
ब्रह्मपञ्चक	सद्योजात	वामदेव	अघोर	तत्पुरुष	ईशान
शास्त्रक्रम	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद	आगम
ज्ञान	लौकिक	वैदिक	आध्यात्मिक	अतिमार्ग	मन्त्र

योगादिप्रतिपादितप्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानसर्ववृत्तिनिरोधज्ञानादिकम् । आतिमार्गिकं वेद-सांख्ययोगाद्युक्तोपासात्मकप्रसिद्धमार्गातिक्रान्तं सामान्येन पारमेशशास्त्रप्रतिपादित-विविधमुद्रामण्डलक्रियाद्युपायरूपं विज्ञानमिह अभिप्रेतम्, न तु विशिष्टं चतुष्ट-यात् । मन्त्राख्यमिति तत्रैव पारमेशेषु शास्त्रेषु पञ्चप्रणवाधिकारप्रतिपादितनीत्या मन्त्रेषु आ समन्तात् ख्यानं यस्य तथाभूतं यन्महाज्ञानं मन्त्रवीर्यप्रदं ज्ञानपादप्रोक्त-क्रियादितन्त्रात्मकविज्ञानाद्वैलक्षण्येन अनुभवसारतां मन्त्राणां प्रथयति ।

पञ्चतत्त्वाधिष्ठानद्वारेण विश्वाधिष्ठातृत्वं ब्रह्मादिकारणपञ्चकस्य उक्तम्, वितत्य तु प्रतिपादयितुमाह–

तथा तत्त्वविभागेन पुनश्च शृणु सुव्रते ।।४५।।
चतुर्विंशतितत्त्वानि ब्रह्मा व्याप्य व्यवस्थितः ।
प्रधानान्तं तु देवेशि पौरुषं तु जनार्दनः ।।४६।।

गुणतत्त्वस्य पृथगविवक्षितत्वात् चतुर्विंशतितत्त्वानि व्याप्येति प्रागवदभेदेन अधिष्ठाय, अत एव प्रतिपादितहृदयविषया आलोचनादिसृष्टिकारिणी ब्राह्मी व्याप्तिरस्तीति तत्र तत्र उच्यते ।

नियतेरथ मायान्तं रुद्रो व्याप्य व्यवस्थितः ।
विद्या तथैश्वरं तत्त्वं व्याप्तं चैवेश्वरेण तु ।।४७।।

पञ्च तत्त्वों के अधिष्ठान के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के द्वारा विश्वाधिष्ठातृत्त्व के ही समर्थन के सन्दर्भ में ब्रह्मादि पाँच कारण पञ्चक का महत्त्व यहाँ तक प्रतिपादित है । अब उन कारण पञ्चकों व्याप्ति का स्वरूप क्या है ? इस विषय में कहने का उपक्रम करते हुए देवी को सम्बोधित कर तत्त्व विभाग के अनुसार उनका अधिष्ठातृत्व प्रतिपादित कर रहे हैं कि,

ब्रह्मा २४ तत्त्वों को व्याप्त कर व्यवस्थित हैं । इन २४ तत्त्वों में गुणों की गणना नहीं होती । इनमें ५ पंचमहाभूत ५ तन्मात्रायें १० इन्द्रियाँ ३ अन्तःकरण और प्रकृति तत्त्व आते हैं । जहाँ तक विष्णु का प्रश्न है, ये मात्र पौरुष तत्त्व में व्याप्त हैं । पहले हृदयविषया आलोचनादि सृष्टिरूपिणी ब्राह्मी स्थिति के विषयों की चर्चा आ चुकी है । उसी ब्राह्मी शक्ति की व्याप्ति यहाँ भी है ।।४५-४६।।

नियति से माया पर्यन्त रुद्र की व्याप्ति मानी जाती है । विद्या और ईश्वर इन दोनों में व्याप्त ईश्वर तत्त्व ही है । इसके ऊपर सदाशिव, शक्ति और शिव तीनों तत्त्वों का व्याप्त कर ईश्वर के ऊपर के तत्त्व सदाशिव सर्वत्र व्याप्त और व्यवस्थित हैं ।।४७।।

ऊर्ध्वं सदाशिवो देवः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।

ऊर्ध्वमिति सदाशिवशक्तिशिवाख्यं तत्त्वत्रयम् । सदाशिव इति अनाश्रितपरव्याप्त्येत्यर्थः ।

आत्मविद्याशिवाख्यतत्त्वत्रयविभागेन च कारणानां विश्वाधिष्ठितत्वमाह–

तत्त्वत्रयविभागेन पुनर्वक्ष्यामि सुव्रते ।।४८।।

कारणव्याप्तिमिति शेषः ।।४८।।

तत्र–

आत्मतत्त्वे तु वै ब्रह्मा मायान्ते च व्यवस्थितः ।
विद्यातत्त्वे तथा विष्णुर्यावत्सादाख्यगोचरम् ।।४९।।
शिवतत्त्वे तथा रुद्रो विज्ञेयस्तु वरानने ।
सादाख्यमूर्ध्वमध्वानं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।।५०।।

सादाख्यगोचरमिति सदाशिवतत्त्वम् । सर्वमिति शिवतत्त्वान्त एव ब्रह्मविष्णुरुद्रान्ता ब्रह्मणो व्याप्तिः, ईश्वरसदाशिवान्ता विष्णोः, शिवरूपा रुद्रस्येति कारणपञ्चकस्यापि अनया भङ्ग्या अभेद एव दर्शितः ।।५०।।

न केवलं कारणपञ्चकमेतावत्कारणत्रयव्याप्तिसतत्त्वम्, यावत्कारणत्रयमपि पारमेशरौद्र्यादिशक्तित्रयपरमार्थमित्याह–

इसी के बाद तीन तत्त्वों की बात आती है । इसलिये इन तीनों के आधार पर कारण व्याप्ति के विषय में कहने जा रहा हूँ । इसे ध्यान पूर्वक सूनो । १–पहला तत्त्व आत्मतत्त्व है । इस तत्त्व में ब्रह्मा की व्याप्ति है । ये मायान्त पर्यन्त व्यवस्थित हैं । २–दूसरा तत्त्व विद्यातत्त्व है । इसमें विष्णु की व्याप्ति है । इनकी अवस्थिति सदाशिव पर्यन्त गोचर होती है । ३–तीसरा तत्त्व शिव तत्त्व है । शिव तत्त्व में रुद्र की व्याप्ति है । यह सादाख्य के ऊर्ध्व अध्वा में विराजमान है ।।४९-५०।।

सादाख्य शब्द सदाशिव के विषय में प्रयुक्त होता है । सर्वम् शब्द (श्लोक ५०) शिव तत्त्वान्त अर्थ में प्रयुक्त है । इस सन्दर्भ में एक दूसरे प्रकार से भी सोचा जा सकता है । जैसे ब्रह्मा विष्णु और रुद्र पर्यन्त ब्रह्मा की व्याप्ति, ईश्वर और सदाशिवान्त विष्णु की तथा शिवरूपतत्त्व पर्यन्त रुद्र की व्याप्ति है । इस वैचारिक भङ्गी के अनुसार कारण पञ्चकों की अभेदता ही सिद्ध होती है ।।४९-५०।।

केवल कारण पञ्चक ही इस कारणत्रय व्याप्ति में व्यवस्थित है वरन् यह कारणत्रय भी पारमेश्वरी रौद्री, ज्येष्ठा और वामा में भी व्याप्त है, यह कहा जा सकता है । जैसे रौद्री में रुद्र व्याप्ति, वामा में विष्णु की व्याप्ति और ज्येष्ठा शक्ति से पितामह ब्रह्मा व्याप्त हैं ।।५१।।

रौद्र्या अधिष्ठितात्मा वै स रुद्रः परिकीर्तितः ।
व्याप्तश्च वामया विष्णुर्ज्येष्ठया च पितामहः ।।५१।।

समस्तरुग्द्रावणाद् विश्ववमनादभेदप्राधान्यप्राशस्त्यप्रकर्षाच्च रौद्रीवामाज्येष्ठाख्याः याः शक्तयस्तासामधिष्ठाने क्रमव्यतिक्रमः परमार्थाद्वयक्रमवस्तुतत्त्वप्रदर्शनाय ।।५१।।

किञ्च–

ज्ञानशक्तिः स्मृतो ब्रह्मा क्रियाशक्तिर्जनार्दनः ।
इच्छाशक्तिः परो रुद्रः

यश्च अयं परो रुद्रः–

स शिवः परिगीयते ।।५२।।

परशब्दस्त्रिष्वपि सम्बध्यते । अत्रापि क्रमान्यथात्वे प्रोक्त एव आशयः ।

विष्णुः सदाशिवो देवो ब्रह्मा चैवेश्वरस्तथा ।

एवं शक्तित्रयेण अपरं कारणत्रयमिव तद्व्यापकं परमपि कारणत्रयमधिष्ठितमित्युक्तं भवति ।

तदित्थमुपायोपेयाद्यैकात्म्योक्त्या कारणगताधिष्ठात्रधिष्ठेयमुखेन समस्ताध्वव्याप्त्या मूर्त्यष्टकाधिष्ठितयुक्त्या वाचकमुखेन तज्ज्ञानदृष्ट्या तद्वाच्यषट्त्रिंशत्पञ्चत्रिंशत्तत्त्वभेदोक्तिद्वारेण शक्तित्रयाधिष्ठाननिरूपणक्रमेण च परभैरवाद्वयमयं जगदिति व्याप्यव्यापकसतत्त्वप्रदर्शनेन परमौपनिषदिकमर्थ्यं प्रपञ्चप्रक्रान्तजगत्सृष्ट्यपेक्षं कार्यकारणविभागवैचित्र्यमेव अनुबध्नाति–

इस वैचारिकी भङ्गी का मूल स्वर यही है कि, रुद्र तत्त्व विश्वात्मक रुक् का द्रावण करने वाला और विश्ववमन कारक अभेद प्रधान प्राशस्त्य के प्रकर्ष से समन्वित तत्त्वों में सर्व श्रेष्ठ तत्त्व है । इसके बाद ही वामा और ज्येष्ठा शक्तियों का क्रम आता है । इन तीनों के अधिष्ठान में व्याप्ति के इन अधिष्ठाताओं का क्रम विपर्यय भी परमार्थिक अद्वयवाद का ही समर्थक है ।।५१।।

इसी तरह ज्ञान शक्ति ही ब्रह्मा है । क्रियाशक्ति विष्णु हैं और इच्छाशक्ति रुद्र है । क्रम का व्याप्तिक्रम यहाँ पर भी अभेद प्रदर्शनार्थक ही है । इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि, जो यह पररुद्र कहा गया है, यह शिव ही हैं ।।५२।।

विष्णु ही सदाशिव हैं और ब्रह्म ही ईश्वर रूप कारण तत्त्व हैं । इस रौद्री, वामा तथा ज्येष्ठा रूप शक्तित्रय से अपररूप कारणत्रय की तरह व्यापक परत्रय भी अधिष्ठित है, यह कहा जा सकता है । इस सन्दर्भ में पर और अपर कारणत्रय की परिकल्पना साकार हो रही है इस तरह,

सदाशिवः शिवाद्देवि उत्पन्नः प्रभुरीश्वरः ।।५३।।

यद्यपि–

'बिन्दो सदाशिवो ज्ञेयः................'। (११।१०)

इति प्रागुपक्षिप्तम्, तथापि प्रतिपादितव्याप्यव्यापकभावपरमार्थदृशा बिन्दुपर्यन्ते प्रसृत्य शिवभट्टारक एव प्रपञ्चव्याप्त्या सदाशिव ईश्वरश्च प्रभुः सम्पन्न इति अत्र तात्पर्यम् ।।५३।।

१–इन ऊपर के वर्णनों में उपाय और उपेय आदि के ऐकात्म्य, का समर्थन किया गया है ।

२–कारणगत अधिष्ठाता और अधिष्ठेय के माध्यम से समस्त अध्वावर्ग में इनकी व्याप्ति का प्रतिपादन किया गया है ।

३–मूर्त्यष्टक में अधिष्ठित तत्त्वों की व्याप्ति-सन्दर्भ द्वारा अभेदवाद की ही बात सिद्ध की गयी है ।

४–वाचकों के माध्यम से उनके ज्ञान की दृष्टि से उनके वाच्यरूप ३६ तत्त्वों और ३५ तत्त्वों की भेदोक्ति के माध्यम से वह अद्वय धर्म पूरी तरह समर्थित किया गया है ।

५–तीन शक्तियों के अधिष्ठान निरूपण के क्रम से परभैरव के तादात्म्य में अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित जगत् है, यह रहस्य समझाया गया है ।

६–व्याप्य और व्यापक सतत्त्व विज्ञान के प्रदर्शन द्वारा परम आगमौपनिषदर्थ का प्रकाशन किया गया है ।

इन मुख्य रूप से वर्णित विषयों के द्वारा प्रपञ्चरूप इस प्रकान्त जागतिक सर्जन व्यापार द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि, इसमें कार्यकारण विभाग का वैचित्र्य भी कूट कूटकर भरा हुआ है । इसी भाव की पुष्टि अर्धाली से भी हो रही है–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ये सर्वसमर्थ सदाशिव और ईश्वर भी शिव से ही उत्पन्न हैं । यद्यपि विगत पटल के श्लोक दश में लिखा गया है कि 'बिन्दु से सदाशिव हैं, यह जानना चाहिये' ।

फिर भी पूर्व प्रतिपादित व्याप्य व्यापक भाव की पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार यही विचार सामने आता है कि, बिन्दु पर्यन्त प्रकर्ष पूर्ण प्रसृति में समर्थ शिव भट्टारक ही प्रपञ्च प्रसार के क्रम में स्वयं शिव ही ईश्वर और सदाशिव रूपों में व्यक्त हुए हैं । इसी दृष्टि से यहाँ 'शिव से ही सदाशिव और ईश्वर उत्पन्न हैं',

तस्माद्विद्या ततो माया विद्यायाः पुनरीश्वरः ।

तत इति विद्यातत्त्वात् । एषां च तत्त्वानामुत्पत्तिक्रमे युक्तिः पूर्वमेव दर्शिता । किञ्च–

ज्ञानशक्तिकराग्रेण स्वेच्छया परमेश्वरः ।।५४।।

सप्त कोटीस्तु मन्त्राणां सृजेज्ज्ञानक्रियात्मिकाः ।

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका परा' । (१०।११४४)

इति पूर्वमुक्तस्वरूपाया विद्यायाः सकाशात् परमेश्वर इति परमशिवस्वरूप ईश्वर-भट्टारकः स्वेच्छामात्रेण अनुग्रहाख्यकृत्यप्रपञ्चनार्थं ज्ञानशक्तिरेव कराग्रं तेन सप्त कोटीर्मन्त्राणां मननत्राणसतत्त्वानां सृजति । ज्ञानशक्तिकरणत्वात् सृज्यमानत्वाच्च एताः कारणानुगुण्येन ज्ञानक्रियात्मिका इति पूर्णज्ञानक्रियासतत्त्वा भोगमोक्षप्रदाः ।

इसका उल्लेख किया गया है । वास्तव में कार्य कारण भाव की मौलिकता से यह मनीषा भी मण्डित है ।।५३।।

उसी से विद्या, उसी से माया, उसी विद्यातत्त्व से ईश्वर की उत्पत्ति हुई, वस्तुतः कोई काम तो हाथ का अगला भाग ही सम्पन्न करता है । भगवान् कह रहे हैं कि, ज्ञान शक्ति ही परमेश्वर का कराग्र है । इसी ज्ञानशक्ति रूपी कराग्र से स्वेच्छा पूर्वक परमेश्वर शिव सात करोड़ मन्त्रों का सृजन भी करते हैं । ये मन्त्र ज्ञानक्रियात्मक ही होते हैं ।

इसी ग्रन्थ के पटल दश श्लोक ११४४ में यह उल्लेख है कि विद्या रूपिणी मातृका शक्ति आठ वर्गों में विभक्त है । उसी विद्या रूपी मातृका शक्ति से परमेश्वर परमशिव रूप ईश्वर भट्टारक ने अपनी इच्छा से ही अनुग्रह कर ज्ञान शक्ति रूपी कराग्र से मननत्राणधर्मा मन्त्रों का सृजन किया । यहाँ ज्ञान शक्ति ही करण है । उसी से इन मन्त्रों का सृजन हुआ । ये दोनों बातें यहाँ यह स्पष्ट कर रही हैं कि, मन्त्रों की कारणता मन्त्रप्रसवकारिणी ज्ञानक्रियात्मिका रूप पारमेश्वरी शक्ति में ही निहित है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, ये मन्त्र पूर्णज्ञान क्रिया सतत्त्व हैं । सतत्त्व शब्द क्षेमराज का प्रियशब्द है । यद्यपि इसका प्रयोग आगमिकों में प्रचलित है फिर भी इन्होंने इसका बहुल प्रयोग किया है । इसका अर्थ तत्त्वसहित होता है । अर्थात् मन्त्र ज्ञान और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होते हैं । साथ ही भोग और मोक्ष प्रद भी होते हैं । भोग-मोक्ष प्रदता में शिव का अनुग्रह कारण है क्योंकि मातृका शक्ति से इच्छा द्वारा मन्त्र सृजन के समय अनुग्रह का ही भाव विद्यमान रहता है ।।५४।।

परमेश्वर शब्द विशेषण शब्द है । इस विशेषण से ईश्वर का परम शिवत्त्व भी प्रतिपादित होता है । क्योंकि, उसी पद से उसी के द्वारा सृष्ट मन्त्रों में अणुता,

परमेश्वर इति विशेषणेन ईश्वरस्य परमशिवरूपत्वमुक्तं यतस्ततएव तत्सृष्टानां मन्त्राणामणुशक्तिशम्भुपक्षतया सर्वत्रैव अनुग्रहार्थमवस्थितत्वमस्तीत्याह–

ते च सादाख्यपर्यन्ते पार्थिवाद्ये तु सुव्रते ।।५५।।
अनुग्रहं प्रकुर्वन्ति देहिनां भुवने स्थिताः ।

पृथ्व्याद्यनाश्रितान्ते यानि भुवनानि तेषु स्थिताः सन्तो देहिनां भोगमोक्षरूपमनुग्रहं प्रकर्षेण अनवरतं कुर्वन्ति ।

एते च–

शिवशक्तिसमाविष्टास्त्रिनेत्राश्चन्द्रमौलयः ।।५६।।

शिवशक्तिसमाविष्टत्वादेव एषामनुग्रहकर्तृत्वम् ।।५६।।

युक्तं च एतद्यतः–

रुद्रमूर्तिभिरेकोऽसौ शिवः परमकारणम् ।
जगद्व्याप्य स्थितो मायी शूलपाणिरनेकधा ।।५७।।

रुद्राः सर्वरुग्द्राविणो मन्त्राः । एकोऽपि अनेकधा रुद्रमूर्तिभिर्जगद्व्याप्य स्थित इत्यत्र विशेषणद्वारको हेतुर्मायीति । स्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या हि असौ

शक्तिमत्ता और शिवता की पक्षधर्मता व्याप्त है । इससे वे सब पर अनुग्रह करने के लिये भी समर्थ हैं । उनमें अनुग्रह करने की शक्ति सुव्यवस्थित और सुरक्षित है । इसी उद्देश्य से कह रहे हैं कि, वे पार्थिव से लेकर सादाख्य पर्यन्त अनुग्रह करने में समर्थ हैं ।।५५।।

पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त जितने भुवन हैं, इन भुवनों में अवस्थित जितने प्राणी हैं, उन सबके भोग और मोक्ष प्रदान करने रूप अनुग्रह करने में ये समर्थ हैं । मन्त्रों में शिव और शक्ति का शाश्वत समावेश होता है । ये त्रिनेत्र होते हैं और सभी चन्द्र को अपने शिर पर धारण करते हैं । अतः चन्द्रशेखर हैं । मन्त्रों में इस तरह की अगाध श्रद्धा से ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति सम्भव है ।।५६।।

ये सभी मन्त्र स्वयं स्वयं रुद्र है । सबके रुग् अर्थात् रोगों के द्रावक है अर्थात् रोगनाशक हैं । यह एक मन्त्र भी अनेकानेक रुद्र मूर्त्तियों से समन्वित होता है । अर्थात् अपनी शक्ति से विश्व में व्याप्त रहने में ये समर्थ हैं । इसीलिये इन्हें 'मायी' कहते हैं । स्वरूप गोपन में समर्थ मायाशक्ति और महामाया शक्ति से सम्पन्न होने के कारण अनुग्रह करने में रुद्रमूर्त्तियों को यह प्रेरित करते हैं । क्योंकि अनन्त रुद्र इसकी शक्ति में अन्तर्निहित हैं ।

अनुग्रहाख्यकृत्यनिर्वाहाय नानारुद्रमूर्तिभिः स्फुरितः । मायाशक्त्यैव वक्ष्यमाणजगद्रूपतया परमेश्वरः स्वाभासस्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरः स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् स्वानधिकेनापि अधिकेनेव केन नाम रूपेण न भवतीत्युक्तमसकृत्, अतो यत् श्रीसद्योज्योतिषा उक्तम्–

'एकः शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ योग्यौ ।

बहुधा स्थातुं यद्वाचैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात्' ॥ (त० ४५)

इति, तत् प्रोक्तश्रुतियुक्तिभ्यां बाधितत्वादपर्यालोचिताद्वयपादसतत्त्वमित्युपेक्ष्यमेव ॥५७॥

किञ्च, अयमनाश्रितानन्तभट्टारकमूर्तिः–

ज्ञानशक्त्या पुनश्चैव समालोक्य वरानने ।

इच्छाशक्त्या समाविष्टः क्रियाशक्त्या तु सुव्रते ॥५८॥

मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभुतयाव्ययम् ।

तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत्क्षोभयेत्प्रभुः ॥५९॥

यह सबको ज्ञात है कि, मायाशक्ति के द्वारा ही चिदानन्दसुन्दर परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से दर्पण नगर की तरह अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह विश्व का सर्जन कर सभी नामों और रूपों में व्यक्त हो रहे हैं । श्री सद्योज्योति नामक ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में जो यह लिखा है कि,

'शिव एक हैं । वे अविकारी हैं । उनकी शक्ति भी ऐसी ही है । इसलिये ये दोनों योग्य नहीं हैं कि, विकारी विश्व का निर्माण कर सकें' ।

आचार्य श्री ने अनावश्यक रूप से अप्रासंङ्गिक उदाहरण से ग्रन्थ को व्यर्थ का विस्तार देकर यह भी लिखा कि, यह उपेक्ष्य है । सद्योज्योति को उद्धृत कर उसे अप्रतिष्ठित करने की यह मनोवृत्ति अच्छी नहीं ॥५७॥

और इस सम्बन्ध में विशेष विमर्श करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि, यह अनाश्रित अनन्त भट्टारकमूर्त्ति, मायाशक्ति को प्रधानकारणकार्य परवश कर जगत् सम्पादित करता है । यही कह रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, सुव्रते सुमुखि देवि ! प्रभु परमेश्वर ज्ञान शक्ति से देखकर, इच्छा शक्ति से उसमें समाविष्ट होकर युगपद् अर्थात् अक्रम रूप से ही जगत् के बीज रूप, नित्य, विभु, अव्यय माया तत्त्व को क्रियाशक्ति से क्षुब्ध करते हैं । अर्थात् प्रधान कारणकार्य के परवश कर देते हैं ॥५८-५९॥

१. जगद्बीजं–माया तत्त्व जगत् का बीज है । कला से क्षिति पर्यन्त इस विश्व की वह मूल कारण है ।

जगतः कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य यद्बीजं कारणं मायातत्त्वं नित्यमिति तच्छक्तेरनिदंप्राथमिकतया प्रवृत्तत्वात्, अत एव च अव्ययम्, न तु तत्त्वात्मतया तन्नित्यमविनाशि च भवति 'ततो माया' इत्युक्तत्वात् तत्संहारस्य प्रतिपादयिष्य-माणत्वात् । एवंभूतं यद् मायातत्त्वं तत्स्थमिति तद्वशाद्रोपितज्ञानक्रियारूपमात्मवर्गं कृत्वेति स्वभित्तावाभास्य, पुनश्च तं तथाविधं ज्ञानशक्त्या समालोक्य युगपदक्रम-मेव क्षोभयेदिति सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वनैराकांक्ष्याकालकलितत्वसार्वात्म्यरूपाद्धर्माद् अपरा-मर्शनमयकिञ्चित्कर्तृत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वसाकांक्षत्वकालकलितत्वनियतोत्थापककलाविद्या-रागकालनियत्यात्मककञ्चुककलनापुरःसरं प्रधानकारणकार्यपरवशं सम्पादयति परमेश्वरः । कीदृगसावित्याह इच्छाशक्त्या क्रियाशक्त्या च समाविष्टः-

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते' ॥ (८।१५)

---

२. नित्यं-माया की शक्ति इदंप्राथमिकतया नहीं वरन् सामान्यतया प्रवृत्त रहती है । अतः जगदर्थ नित्य है ।

३. अव्ययं-इसकी शक्ति का खर्च नहीं होता । अनवरत काम करती है । तत्त्व रूप से यह ऐसी नहीं । इसका संहार भी होता है ।

४. तत्स्थं-उक्त विशेषणों से विशिष्ट मायातत्त्व में आत्मवर्ग को अवस्थित करके विभुतया परमेश्वर मायातत्त्व को अक्रम भाव से प्रधानकारणकार्य परवश कर देते हैं । यह कार्य प्रभु परमेश्वर स्वयं करते हैं ।

यदि प्रभु विशेषण शब्द को मन्त्र का विशेष्य मान लिया जाय, तो मन्त्र रूप यह शक्तिमन्त भी मायाशक्ति को परवश कर लेता है यह अर्थ भी हो सकता है क्योंकि मन्त्र भी इच्छा और क्रियाशक्तियों से समाविष्ट होता है और ज्ञानशक्ति से उसमें द्रष्टृत्व भी आ जाता है ।

वस्तुतः शिव सर्वज्ञ होता है । सर्व कर्तृत्व समर्थ होता है । रागरहित, अकालकलित और सार्वात्म्य से विभूषित होता है । वह अल्पज्ञ, अल्पकर्त्ता, रागमय, कालकलित और अनियत आत्मवर्ग को पञ्चकञ्चुकों से अंचित जीववर्ग को माया की गोद में ही रखकर अपनी शक्ति से माया को प्रधान कार्य कारण भाव परवश बना देता है । यही परवश करना ही उसे क्षुब्ध करना हैं ।

८।१५ मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि,

इति श्रीमालिनीविजयानिर्दिष्टनीत्या इच्छामात्रानन्तरमेव क्रियाशक्त्या आभासयतीत्यर्थः ॥५९॥

युगपत्क्षोभयेदित्युक्तिं दृष्टान्तेन परिघटयति–

हेलादण्डाहतायाश्च बदर्या वा फलानि तु ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च निर्गच्छन्ति समासतः ॥६०॥

वाशब्द इवार्थे । बदर्या इव फलानि मायाया आत्मानः समनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यगूर्ध्वाधरभूमीर्गच्छन्ति ॥६०॥

तत्र–

मुक्तेस्तु भाजनं येऽत्र अनुध्याताः शिवेन तु ।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते सर्वे शिवं परमनिर्मलम् ॥६१॥

अनुध्याता इति कृतशक्तिपाताः । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्–

'यह वस्तु ऐसी हो इस तरह सोचते ही वह वैसी हो जाती है । ऐसी स्थिति को अन्वित करने वाली शक्ति ही क्रिया कहलाती है' । अर्थात् इच्छा होते ही ऐसा होने लगना ही क्रिया शक्ति का आभासक हो जाता है ॥५८-५९॥

अक्रम रूप से क्षुब्ध करने का समर्थन दृष्टान्त के द्वारा कर रहे हैं–

जैसे कोई व्यक्ति अनायास ही बदरी फलों की प्राप्ति के लिये दूर से बदरी तरु पर दण्ड प्रक्षेप करता है । परिणामतः बदरी के फल तिर्यग् ऊर्ध्व और अधस्तात् अक्रम भाव से ही विकीर्ण हो जाते हैं । उसी तरह समस्त मायाधीन जीव-वर्ग इधर उधर ऊपर नीचे बदरी फलों के समान पारवश्य प्रेरित उड़ते हुए बिखरने लगते हैं । यह क्षोभयेत् का रहस्य है ॥६०॥

यहाँ मुक्ति के भाजन वही लोग होते हैं या हो सकते हैं, जो स्वयं शिव के द्वारा अनुध्यात होते हैं । वही लोग परनिर्मल शिव की ओर संगमित होते हैं अर्थात् शिवभाव को उपलब्ध कर लेते हैं ॥६१॥

अनुध्यात का तात्पर्य शिव-शक्तिपात-पवित्रित लोगों से लिया जाता है । श्रीकण्ठी नामक ग्रन्थ में यह कहा गया है कि,

"ऐश्वरी शक्ति वही है, जिससे रहित शिव सर्वज्ञ नहीं हो सकते । वही वह शक्ति शिव द्वारा प्रयुक्त करने या होने पर ही पशुजनों को मोक्ष प्रदान करती है । ज्ञानादिलक्षणा दीक्षा भी तभी सफल होती है, जब दीक्षा के अनुसन्धान में वह शक्ति पतेत् अर्थात् स्वयं शक्तिपात कर दे" ।

'यया विना न सर्वज्ञः शिवः सा शक्तिरैश्वरी ।
या सा शिवप्रयुक्ता तु पशूनां मोक्षयेत्ततः ।।
पतेद्दीक्षानुसन्धाने दीक्षा ज्ञानादिलक्षणा' । इति ।
ऊर्ध्वमिति शिवैक्यप्राप्तिरेव एषामूर्ध्वगतिरित्यर्थः ।।६१।।

तथा–

विद्याया भाजनं तिर्यङ्मन्त्ररूपा भवन्ति वै ।

तदुक्तमन्यत्र–

'विद्याविद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः............'। इति ।। (त० ५१)

किञ्च–

संसारभाजनं ये तु मलकर्मकलान्विताः ।।६२।।
अधस्तात्ते व्रजन्त्यत्र घोरेऽध्वन्यतिदारुणे ।

मल अख्यात्यात्मक आणवः, शुभादिवासनात्मकं कर्म, कलादिकं तु मायीयम् । घोरे भेदमये । अतिदारुणे दुःखबहले ।।६२।।

एवं प्रसङ्गाद् मन्त्राणां बद्धमुक्तानां च स्वरूपं प्रतिपाद्य प्रकृतामेव तात्त्वीं सृष्टिं दर्शयति–

हेला दण्डाहत बदरी फल ऊर्ध्व की ओर वही जाते हैं, जो दण्ड की शक्ति से प्रेरित होते हैं । उसी तरह उपासकों में वही श्रेष्ठ होता है, जो शिव द्वारा अनुध्यात होता है । उसी की ऊर्ध्वगति होती हैं ।।६१।।

विद्या के भाजन वे होते हैं जो तिर्यक् गतिशील हैं, वे मन्त्र रूप होते हैं । शास्त्र इस बात की पुष्टि करते हैं । सद्योज्योति के ग्रन्थ का उदाहरण है कि, विद्या विद्येशत्व की प्राप्ति अपरामुक्ति मानी जाती है । त० ५१

संसार के भाजन वे लोग होते हैं जो मल, कर्म और कला से प्रभावित होते हैं । मल अख्यातिरूप आणव मल को कहते हैं । कर्म शुभाभुभा वासनाओं से प्रेरित होते हैं । और कला तो मायीय कञ्चुकरूपा ही होती है । इनसे प्रभावित जीव संसार के ही भाजन होते हैं । ये लोग नीचे की ओर जाने को विवश हैं । घोर अर्थात् भेदमय अत्यन्त दारुण दुःखपूर्ण संसार में उन्हीं का जन्म होता है ।।६२।।

इस प्रकार ऊर्ध्व, तिर्यक् और अधोगति के योग्य मुक्तों, अपरामुक्ति भाजनों मन्त्रों और सांसारिकों की स्वरूपसत्ता का चित्र प्रस्तुत कर भगवान् प्रकृता तात्त्वी सृष्टिं का क्रम निर्दिष्ट कर रहे हैं । इनके अनुसार इसी मायातत्त्व से कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप पाँच कञ्चुक, पुंस्तत्त्व और प्रकृति सभी युगपत् उत्पन्न हुए ।।६३।।

तस्मात्कला समुत्पन्ना विद्या रागस्तथैव च ।।६३।।
कालो नियतितत्त्वं च पुंस्तत्त्वं प्रकृतिस्तथा ।

केवलमेतदुच्यते कञ्चुकपञ्चकवलिता: पुमांसो भोक्तार:, भोग्यसामान्यरूपा च प्रकृति: युगपदेव मायात: सम्भूता भोक्तृभोग्ययो: परस्परापेक्षित्वात्, अत्रोऽत्र कलादीनां युगपदेव तस्मादिति मायातत्त्वादुद्भव उक्त: । श्रीमालिनीविजये तु कलातो विद्यादिचुष्टयं प्रकृतिश्च, श्रीरौरवादौ तु कला रागविद्ये प्रसूय, अव्यक्तं जनितवतीत्यादिरागमेषु य: क्रम उक्त:, तथा क्वचित्कञ्चुकानां चतुष्टयं क्वचित्त्रय-मिति संख्यान्यथाभावोऽपि दृश्यते, न तत्र भ्रमितव्यम् ।

'कदलीगर्भदलवन्मोदकादिरसादिवत् ।
कदम्बगोलवच्चित्रा: कञ्चुकाश्चित्रसंविद:' ।।

पाँचों कंचुकों से अंचित पुरुष ही भोक्ता माने जाते हैं । जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है, यह भोग्य सामान्य रूपा है । इस तरह ये सात तत्त्व माया से ही एक साथ उत्पन्न होते हैं । भोग्य और भोक्ता परस्पर सापेक्ष होते हैं । अत: प्रकृति और पुरुष दोनों भोग्य भोक्ता रूप में साथ उत्पन्न हुए । यह स्वाभाविक है ।

श्रीमालिनीविजयतन्त्र में कला से विद्यादि चतुष्टय, और प्रकृति हुए, ऐसा लिखा है ।

श्रीरौरव आदि के अनुसार कला राग और विद्या को उत्पन्न कर अव्यक्त को उत्पन्न करती है । इसी तरह के भिन्न भिन्न क्रम आगमों में व्यक्त हैं । कहीं कञ्चुक चतुष्टय कहीं कञ्चुकत्रय आदि के अतिरिक्त विभिन्न मत भी देखे जाते हैं । इस उक्तिभेद से स्वयं भ्रान्त होने की कोई आवश्यकता नहीं ।

श्रीत्रिकसार ग्रन्थ में इसका समाधान दिया गया है । वहाँ कहा गया है कि, ये कञ्चुक चित्र विचित्र संवित्तियों वाले होते हैं । जैसे १-केला के तने से पत्तों का निकलना क्या है ? २-मोदकों से विविध प्रकार के रसास्वाद होते हैं और कदम्ब गोलकों की आकृतियाँ इन उदाहरणों से कञ्चुकों के विचित्र क्रमों का पता चलता है ।

पुरुषों की प्रकृति भी ऐसी होती है । कोई रागानुरक्त होकर उस विषय का वेत्ता बन पाता है और कोई जानता है, तब उसमें अनुरक्त होता है । यह स्व-भाव वैचित्र्य है । 'स्वभावस्तु दुरतिक्रम:' कहते भी हैं । प्रतिपुरुष अन्यथा कलादि तत्त्वों का प्रभाव देखने में आता भी है । इसके अनुसार विभिन्न शास्त्रों को प्रवर्त्तित करने वाले शास्त्रकारों द्वारा इस प्रकार के क्रम भेद यही सिद्ध करते हैं कि, यह प्रकृति वैचित्र्य माया का ही स्वभाव है । अन्तर्भावादि दृष्टि भी संख्या

इति श्रीत्रिकसारनिरूपितनीत्या कश्चिद्रज्यन्वेत्ति कश्चिच्च विदन्रज्यतीत्यादिः पुंसां विचित्रप्रतीतिक्रमानुसारी कञ्चुकक्रमः, अन्यथा अन्यथा च सम्भाव्यते प्रतिपुं कलादितत्त्वक्रमस्योक्तत्वादिति तदनुसारं तत्तच्छास्त्रावतारकैस्तथा तथा क्रमभेदमात्रप्रतिपादनमेतत् कृतमन्तर्भावानन्तर्भावाच्च संख्याभेदोऽपि दर्शितः । वस्तुतश्च किञ्चित्करोमीत्यादिप्रतीतिपञ्चकाक्षिप्ततत्त्वपञ्चककञ्चुकवलिताः पुमांसो भोक्तारः, किञ्चिदंशात्मा भोग्यसामान्यरूपा प्रकृतिर्मायातो युगपदेव उद्भूता इति एतत्तन्त्रोक्तमेव ज्यायः प्रतिभाति ।

अथ–

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्रकृतेस्तु गुणास्त्रयः ।।६४।।

त्रिरूपं गुणतत्त्वं जातमित्यर्थः ।।६४।।

एतद् व्यापारभेदेन विभजति–

सत्त्वं प्रकाशजनकं प्रवृत्तिजनकं रजः ।
तमोऽवष्टम्भकं प्रोक्तं विज्ञेयं तु गुणत्रयम् ।।६५।।

भेदप्रद है । वास्तविकता यही है कि, सक्रियता में किञ्चित् भाव के समावेश होते ही पाँच प्रकार की दृष्टि उपस्थित होती है । १–वह कुछ कुछ जानता है, सर्वज्ञ नहीं है । २–वह कुछ कुछ करता है, सर्वकर्त्ता नहीं है । ३–वह कुछ में राग रखता है, सब पर कृपालु नहीं है । ४–कुछ दिन जीता है शाश्वत नहीं है । ५–वह सीमित है, असीम नहीं । ये पाँचों वाक्य पाँच प्रकार की कमी बताते हैं । ऐसे ही जीव माया से प्रभावित हैं । यही कमी कञ्चुकों से मिलती है । पुरुष भोक्ता रूप में पाँचों विवशताओं से युक्त अंशरूप भोग भोगता है । सामान्य भोग्या प्रकृति है । ये सभी माया से एक साथ उत्पन्न होते हैं । यही इस तन्त्र का दृष्टिकोण है और यह सर्वोत्तम है । इसलिये सन्देहमयी भ्रान्ति को छोड़कर दृढ़ता अपनानी चाहिये ।।६३।।

प्रकृति के जन्म की मायामयी गाथा सुनाने के बाद यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, इसमें तीन गुण होते हैं । प्रकृति को त्रिगुणवती कहते भी है । सत्त्व, रजस् और तमस् इनके ये नाम भी हैं । इनके तीन रूप हैं । प्रकृति के ये सहजात गुण हैं ।।६४।।

इनके व्यापार अलग अलग हैं । उसी के अनुसार इनको विभाजित करते हैं । जैसे–

१. सत्त्व–यह प्रकाश का जनक है । बुद्धि में इसके द्वारा बोध का आसूत्रण होता है ।

अवष्टम्भकमावारकम् । अत्र सर्वत्र उपपत्तिः प्रागेव दर्शिता ॥६५॥

गुणत्रये अधिष्ठातृदेवता आह–

सत्त्वं ब्रह्मा रजो विष्णुस्तमो रुद्रः प्रकीर्तितः ।

सामानाधिकरण्योक्त्या अधिष्ठात्रभेद एव आदिष्टः । अधिष्ठातारोऽपि व्यापारभेदात् त्रयः, वस्तुतस्तु एक एव परमेश्वरस्तत्तद्व्यापार वान् इति ।

पूर्वोपक्रान्तमेव अर्थं भावप्रत्ययभङ्ग्या प्रथयति–

ब्रह्मत्वे सृजते लोकान्विष्णुत्वे स्थितिकारकः ॥६६॥
रुद्रत्वे संहरेत्सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।

एतदनुसारतश्च–

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च तिस्रोऽवस्थाश्च तद्गताः ॥६७॥

तद्गता इति सत्त्वादिगुणवशोत्थिता इत्यर्थः ।

अथ–

गुणेभ्यो धिषणा जाता भावभेदैः समन्विता ।

धिषणा बुद्धिः । भावा धर्मादयः, भेदाश्च अहङ्कारेन्द्रियादयो वक्ष्यमाणाः ।

किञ्च–

ब्रह्मा तत्राधिपत्येन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ॥६८॥

---

२. राजस्–यह प्रवृत्ति जनक है । सारी सांसारिक प्रवृत्ति इसी से होती है ।

३. तमस्–यह अवष्टम्भ कारक गुण है । अन्धकार और अज्ञान का पक्षधर है । इन तीनों की प्रधानता और अप्रधानता में गुणों का प्रभाव पृथक् पृथक् होता है ॥६५॥

तीनों गुणों के अधिष्ठाता कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, सत्त्व के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं । रज के अधिष्ठाता विष्णु हैं और तम के अधिष्ठाता रुद्र माने जाते हैं । ये व्यापार भेद के ही अनुसार अधिष्ठाता कहे गये हैं । सामानधिकरण्य में तो एक ही अधिष्ठाता होता है । वास्तविकता तो यह है कि, एक ही परमेश्वर इन व्यापारों में इन रूपों में व्यापारवान् होता है ।

जब ब्रह्मभाव में भगवान् व्यापारवान् होते हैं, तो लोकसृष्टि का व्यापार करते हैं । विष्णु भाव में स्थिति प्रवणता रहती है और रुद्र भाव में चराचर जगत् का संहार करते हैं । इसी तरह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भी इसी त्रैगुण्य से संचालित और प्रभावित हैं ॥६६-६७॥

गुणों से बुद्धि उत्पन्न होती है । बुद्धि भी अनेक भाव-भेदों से समन्वित होती है । भाव बुद्धि के धर्म होते हैं और भेद अहङ्कार एवम् इन्द्रियाँ हैं । वहीं बुद्धि-तत्त्व में अधिपति भाव से ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं और सुष्ठु रूप से व्यवस्थित हैं ॥६८॥

सर्वज्ञं च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ।

तमेव ब्रह्माणं सर्वज्ञम्, न तु सर्वकर्तारं बौद्धानां परमं पदं मोक्षधाम आगमिकाः कथयन्ति । सर्व एव तदेवाहुहिति पाठः सर्व एव आगमिका बुद्धितत्त्वं बौद्धानां परमं पदमाहुरिति व्याकार्यः ।

एवमुत्पत्तिप्रतिपादनप्रसङ्गेन बुद्धिवृत्त्यात्मकहर्षविषादादिरूपक्षणिकज्ञानसन्ततिभावनानिष्ठानां बौद्धानां बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेव मोक्ष इति प्रतिपाद्य, वाद्यन्तराभिमतप्राप्यपदरूपान्मोक्षाभासान्प्रदर्श्य शैवानां सर्वोत्तमसत्यमोक्षभाजनत्वमिति स्फुटयति । यदुक्तं पुरस्तात्–

'इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् ।
त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये वादिनां भ्रान्तचेतसाम् ॥
अज्ञानतिमिरान्धानामुन्मीलनकृदुत्तमम्' । इत्यादि । (१०।६८१)

इसी ब्रह्मा को सर्वज्ञ रूप में और परमपद रूप में स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि, यही सत्त्व मोक्षधाम है । सर्वज्ञ बौद्धों का परममान्यपद है । यहाँ 'सर्वएव तदेवाहुः' यह पाठ भेद के अनुसार यह होता है कि, सभी आगमिक यही मानते हैं कि बुद्धितत्त्व ही बौद्धों का परमपद है ।

इस प्रकार बुद्धि की उत्पत्ति का प्रतिपादन कर रहे थे । इसी के सन्दर्भ में बुद्धि के अधिष्ठाता, ब्रह्मा की चर्चा हुई । ब्रह्मा ही सर्वज्ञ हैं । इसी रूप में बौद्धों के स्वाभाविक अधिदेव ब्रह्मा हो जाते हैं ।

बुद्धि वृत्ति में हर्ष विषाद आदि क्षणिकज्ञान की परम्परा की भावना होती है । उसी में उनकी निष्ठा होती है । इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, बुद्धितत्त्व की प्राप्ति ही बौद्धों का परमपद है । यह उनका मोक्षभाव है । बुद्धि के सन्दर्भ में इसका भी प्रतिपादन हो गया है ।

गम्भीरता से सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह मोक्षाभास मात्र है; वास्तविक मोक्ष धाम नहीं है । वस्तुतः सत्य मोक्ष का सर्वोत्तम पक्ष शैवों का ही पक्ष है । इस सम्बन्ध में पहले ही पटल दश के श्लोक ६८०-८१ में कहा गया है कि,

वाद की दृष्टि से बुद्धिवाद का आश्रय लेकर चलने वाले लगभग ३०० मतवाद हैं । इनके साथ ६३ अन्य वाद भी प्रचलित हैं । ये मतवाद भ्रान्तचेतना वाले विद्वन्मन्यों के द्वारा प्रवर्त्तित हैं । सचमुच अज्ञान रूपी तिमिर के रोग से ये सभी ग्रस्त हैं । उन्हें जो दीख पड़ा हो, उसमें उन्मीलन के समय की धुँधलाहट का रहना भी स्वाभाविक है ।

तत्र–

गुणेष्वारहतानां च प्रधानं वेदवादिनाम् ।।६९।।

परमं पदमिति सम्बन्धः, एवमुत्तरत्र । आर्हता हि लोकपञ्जरस्थानीयशोकमोहाद्यावरणस्य तप्तशिलारोहादितपोवशात् प्रशमे सुखसंविदात्मकपुद्गलोन्मज्जान्मुक्तिमाहुः, सुखं च सत्त्वगुणरूपमिति गुणेषु स्थिताः । ते हि–

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' ॥ (श्वे०४।५)

इत्यादि वदन्तः प्रायः प्रकृतिमेव परं पदमित्याहुः । तदुक्तं गीतासु–

'त्रैगुण्यविषया वेदा..........'। (भ०गी० २।४५) इति ॥६९॥

इसी तरह प्रकृति के तीन गुण प्रसिद्ध है । इन गुणों में उन्मज्जन ही आर्हतों का परमपद है । आर्हत मतवाद में शोक मोह आदि आवरण लोक पञ्जर माने जाते हैं । इनका प्रशमन घोर तप से होता है । तपस्या के रूप में तपती हुई शिलापर आरोहण आदि की मान्यता इनके यहाँ है । तपस्या से होने वाले 'प्रशम' अर्थात् सुख संविदात्मक भाव में उन्मज्जन ही मुक्ति है, यह भी मानते हैं । इनका यह सुख भी सत्त्व गुणरूप ही है । इसी आधार पर इन्हें गुणों में अवस्थित अत एव सीमित ज्ञान वाला मानते हैं ।

जहाँ तक वेदवादी मतवादियों का प्रश्न है, ये प्रकृति को ही परम पद के रूप में स्वीकार करते हैं । श्वताश्वतरोषनिषद् ४।५ के अनुसार इसी मान्यता का समर्थन होता है । वहाँ कहा गया है कि,

'सरूपाः अर्थात् त्रिगुणमयी बहुत सारी प्रजाओं को सृष्ट करने वाली लोहित (राजसिक) शुक्ल (सत्त्व) और कृष्ण (तमस्) गुणों से युक्त त्रिगुणात्मिका एकाकिनी अजा रूप प्रकृति में आसक्त रहने वाला अज्ञ अजन्मा (कञ्चुकाञ्चित) जीव उसी में सो रहा है अर्थात् अज्ञ भोक्ता बनकर भोग्य प्रकृति का उपभोग कर रहा है । इसी प्रकृति का कोई विरक्त जीवन्मुक्त पुरुष परित्याग भी कर रहा है' ।

इस मन्त्र में त्रिगुणात्मिका प्रकृति में ही अज पुरुष जुषमाण है । यह कह कर प्रकृति को परमपद मानता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में २।४५ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, वेद त्रैगुण्य की विषय सीमा से ऊपर नहीं उठ सकता । इसलिये भगवान् उसे निस्त्रैगुण्य होने की सलाह देकर उसे सच्चे मोक्षमार्ग की ओर चलने को प्रेरित करते हैं । त्रैगुण्य प्रधान तत्त्व में समाहित है । अतः वेदवाद में रत पुरुषों का परम पद 'प्रधान' है, यह सिद्ध हो जाता है ॥६९॥

पौरुषं चैव सांख्यानां सुखदुःखादिवर्जितम् ।

तेषां हि सुखदुःखाद्यात्मकप्रकृतिविविक्तचितिशक्तिमात्ररूपस्वरूपावाप्तिर्मोक्षः ।

षड्विंशकं च देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ।।७०।।

षड्विंशमेव षड्विंशकम् । यद्यपि-

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १।३)

इत्युक्त्या विविक्तपुंरूपतावाप्तिर्योगस्थैर्मोक्ष उक्तः, तथापि-

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' । (यो०सू०१।२४)

इत्येतत्सूत्रभाष्ये भगवता व्यासमुनिना प्राग्बन्धकोटिवद्भ्यो मुक्तपुरुषेभ्योऽपि ईश्वरस्य नित्यनिर्मुक्तत्वनित्यैश्वर्ययोगरूपो विशेषो दर्शित इति पञ्चविंशसंख्यकमुपेक्ष्य, तदनुग्रहकारि षड्विंशकमीश्वररूपं परमं पदं योगशास्त्रे दर्शितम् ।।७०।।

व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम् ।

'लाकुलं मौसुलं चैव द्विधा तन्त्रं प्रकीर्तितम्' ।

इति द्विधा यत्पाशुपतम्, ततो मौसुलस्य निर्णेष्यमाणत्वात् लकुलेशप्रतिपादितमेव इह पाशुपतव्रतमुच्यते । तत्र च ईश्वरतत्त्वावाप्तिरेव परमं पदम् । पूर्वमेव-

---

जहाँ तक सांख्यों का प्रश्न है, इनका परमपद पुरुष तत्त्व है । सुख दुःखाद्यात्मक प्रकृति से विविक्त अर्थात् पृथक् चितिशक्तिमात्ररूप स्वरूपवान् पुरुषत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है ।

योगसूत्र १।३ में यह स्पष्ट उक्त है कि, क्लेश, कर्म-विषाक, इसके अनुकूल उत्पन्न वासना रूप आशयों से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर माना जाता है । षडविंश अर्थात् २६वाँ तत्त्व योगशास्त्र का परमपद है ।

इसी तरह द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान रूप १।३ का सूत्र भी पुरुषार्थ रूप दुःखनिवृत्ति प्रद ईश्वर की ओर संकेत करता है । योगसूत्र के भाष्यकार भगवान् व्यास ने भी नित्यनिर्मुक्तता, नित्यैश्वर्य योग रूप वैशिष्ट्य से समन्वित ईश्वर को पंचविशक पुरुष की उपेक्षा कर षडविंशक तत्त्व को ही परमपद माना है । इससे यह सिद्ध होता है कि, योग शास्त्र का परमपद ईश्वर ही है ।।७०।।

यही मान्यता पाशुपत मत में भी है । इस मतवाद में भी ईश्वर को ही परमपद के रूप में स्वीकार किया जाता है । पाशुपत मत लाकुल और मौसुल दो भागों में विभक्त है । यहाँ पर इस श्लोक में जिस पाशुपत मत की चर्चा है, वह वस्तुतः लाकुल (लकुलेश) प्रतिपादित मतवाद ही है । इस मत में भी ईश्वर तत्त्व की प्राप्ति ही परमपद के रूप में स्वीकृत है ।

'व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ।
भस्मनिष्ठा जपध्यानास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम्' ॥ इत्युक्तम् । (१०।११७०)
पाशुपतभेद एव तु क्रियाप्रधाने–

मौसुले कारुके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम् ।।७१।।

श्रीलकुलेशशिष्येण मुसुलेन्द्रेण कारोहणस्थानावतीर्णेन च अपरेण मायातत्त्वगतक्षेमेशब्रह्मस्वामिप्राप्तिहेतुक्रियाबहुलाः स्वे स्वे शास्त्रे व्रतविशेषा उक्ता इति मायातत्त्वमेव तत्र परमं पदम् ॥७१॥

तथा च मायातत्त्वनिविष्टः–

क्षेमेशो ब्रह्मणः स्वामी तेषां तत्परमं पदम् ।

इस सम्बन्ध में पटल १० के ११७० वें श्लोक के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि,

पाशुपत व्रत (मत) अत्यन्त दिव्य माना जाता है । ऐसे साधक जो जितेन्द्रिय हैं, वही इस व्रत का आचरण करते हैं । अथवा जो आचरण करते हैं, वे जितेन्द्रिय होते हैं । वे लोग भस्मनिष्ठ होते हैं । इसके पृथक् मन्त्र हैं । ध्यान की पूरी प्रक्रिया है । जप और ध्यान के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर अन्त में ईश्वर रूप परमपद की प्राप्ति कर लेते हैं ।

यह मत क्रिया-प्रधान होता है । इसका दूसरा भेद जिसे मौसुल कहते हैं । मौसुल को ही 'कारुक' भी कहते हैं । 'कारोहण' नामक स्थान मे ये अवतीर्ण हुए थे । ये भी लकुलेश के ही प्रिय शिष्य थे । वास्तव में इनका नाम 'मुसुल' था । इन्होंने माया तत्त्व के अन्तर्गत क्षेमेश ब्रह्म नामक मायांशों को प्राप्त करने के लिये विशेष उपायों और आचारों की घोषणा की थी । यह भी क्रिया-प्रधान आचार हैं । इन विशिष्ट व्रतों द्वारा मायातत्त्व की उपलब्धि का निर्देश उन्होंने दिया था । इसलिये यह प्रसिद्ध है कि, इनका परमपद माया तत्त्व ही है ॥७१॥

इसी पाशुपत मत के अवान्तर मतों में एक मतवाद है, जिसे 'विमल' द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण 'वैमल' मतवाद कहते हैं । यह मत भी मायातत्त्व निविष्ट मत ही माना जाता है । ऊपर के श्लोक में क्षेमेश ब्रह्मस्वामी की चर्चा आयी है । इस प्रस्तुत श्लोक से प्रतीत होता है कि, क्षेमेश भी ब्रह्मस्वामी के गुरु थे । इन दोनों के द्वारा प्रवर्त्तित मतवाद ही वैमल मतवाद है । पञ्चार्थ प्रमाणाष्टक सिद्धान्त ग्रन्थ के द्वारा निर्दिष्ट विशेष उपासना करने वाले कुछ दूसरे पाशुपत हैं । इन लोगों का परमपद ईश्वर तत्त्वगत 'तेजेश' और 'ध्रुवेश' हैं । यही कह रहे हैं–

यथासंख्येन । येऽपि वैमलाख्याः पाशुपतभेदाः, तथा पञ्चार्थप्रमाणाष्ट-कोक्तोपासापराः परे, तेषामीश्वरतत्त्वगततेजेशध्रुवेशौ परं पदमित्याह–

तेजोशो वैमलानां च प्रमाणे च ध्रुवं पदम् ।।७२।।

वैमलप्रमाणशास्त्रनिष्ठो हि–

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्तं यावच्चर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ।।७३।।

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मेतिपदेन प्रोक्तक्रियाप्रधानव्रतमात्रनिष्ठमौसुलकारुकेभ्योऽत्र विशेषो दर्शितः । स्वं स्वं प्रोक्ततेजेशध्रुवेशरूपम् । यदुक्तं पुरस्तात्–

'तेजेशश्च ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम्' । (१०।११७४) इति ।।७३।।

ये तु कपालाद्यस्थिव्रतधारिणः पूर्वोक्तलाकुलाम्नायात्–

'भस्मनि शयीत'

इत्यादिपाशुपतशास्त्रचोदनातः–

जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।

'तेजेश' हीं वैमल मतवाद के आराध्य हैं । इनके 'प्रमाण' नामक ग्रन्थ में, जिसे ऊपर 'पञ्चार्थ' नाम से कहा गया है, इसके भी ध्रुवपद ईश्वर तत्त्वगत तेजेश और ध्रुवेशपद ही हैं ।।७२।।

वैमल प्रमाण शास्त्र निष्ठ आचारवान् उपासक दीक्षा के ज्ञान से विशुद्धात्मा बनकर देहान्त पर्यन्त अपनी चर्या में लगे रहते हैं । इन्हें तब तक अपने व्रत का पालन अनिवार्य है । इन्हें एक विशिष्ट व्रत जिसे कपाल-व्रत कहते हैं, उसका विशेष आचरण करना पड़ता है । इससे इन्हें अपने गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट अपने अपने मान्य पदों की प्राप्ति होती है ।

यहाँ दीक्षा ज्ञान विशुद्धात्मा शब्द क्रिया-प्रधान व्रत मात्र में निष्ठ मौसुल और कारुकों से वैशिष्ट्य की ओर संकेत करता है । स्वं, स्वं शब्दों से भी तेजेश और ध्रुवेश अर्थ ही लेना चाहिये । १०।११७४ में कहा भी गया है कि, तेजेश और ध्रुवेश ही प्रमाण वादियों के परमपद हैं ।।७३।।

कुछ ऐसे भी उपासक हैं, जो कपालादि अस्थिव्रत धारण करते हैं । वे भी लाकुलाम्नाय के 'भस्म पर शयन करना चाहिये' इस प्रकार की अवान्तर उपासक के क्रम पाशुपत के ही अन्तर्गत है और इसी से प्रेरित हैं । इनका भी परमपद 'ईश्वर' ही है ।

मध्यविषयान्तर्गत मौसुल की मान्यता 'मायातत्त्व' का अतिक्रमकर १०।११७१ के द्वारा यह कहा गया है कि, पाशुपत व्रत में ईश्वर ही परमपद के रूप में स्वीकृत

अत्र मध्ये मौसुलादिविषयां मायातत्त्वावस्थितिमुल्लङ्घ्य–

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम्' । (११।७१)

इति यद् व्युत्क्रमेण उक्तम्, तन्मौसुलादीनां पाशुपतभेदप्रदर्शनाय ।

तदेवमा बौद्धेभ्यो लाकुलान्तास्तत्त्वाध्वभोगभाजः, न तु मुक्ताः । ये तु षट्स्रोतोभेदभिन्नं शैवशास्त्रमास्थिताः, तेषाम्–

सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ।।७४।।

उक्तं च अन्यत्र–

'वेदादिभ्यः परं शैवं....................'। इति ।

यत्तु–

'..................शैवाद्वामं तु दक्षिणम् ।

दक्षिणात्परतः कौलं कौलात्परतरं नहि' ।।

इत्युच्यते, तत् शिवप्रोक्तशास्त्राणामवान्तरवैचित्र्यप्रतिपादनाभिप्रायेणैव । शैवाद्वाममित्यत्र हि शैवशब्देन अनुत्तीर्णशिवपदप्रापकं कैरणादि सिद्धान्तशास्त्रमुच्यते ।।७४।।

हैं । यह उक्ति व्युत्क्रम का ही उदाहरण है । इससे स्पष्ट है कि, ये जो मौसुल आदि हैं, इनका पाशुपत मतवाद में ही वैमत्य है ।

इस तरह बौद्ध मतवादियों (श्लो० ६९) से लेकर लाकुलान्त सभी मत मतान्तरों में लिप्त सम्प्रदायवादी तत्त्वाध्वा के विभिन्न स्तरों के अन्तर्गत जो भोग बताये गये हैं, उन्हीं के अधिकारी हैं, ये वास्तविक मुक्ति के सर्वातिशायी स्तर से नितान्त अपरिचित हैं । अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा से विभ्रान्त ये लोग मुक्त नहीं कहे जा सकते । इसीलिये यह उद्घोषित करते हैं कि, समस्त अध्वावर्ग को अतिक्रान्त कर जो लोग सर्वोच्च सर्वातिशायी पद को प्राप्त कर चुके हैं, उन शैव उपासकों का परमपद ही वास्तविक परमपद है ।

इसलिये एक स्थान पर कहा गया है कि, वेदवादरत उपासकों की अपेक्षा शैवमत ही श्रेष्ठ है ।

इसके विपरीत एक स्थान पर कहा गया है कि, 'शैवमत से श्रेष्ठ वामाम्नाय है । इससे भी श्रेष्ठ दक्षपद है । दक्षिणपन्थ से भी उत्कृष्ट 'कौल' मत है । और कौल मत से श्रेष्ठ कोई मतवाद नहीं है' ।

ये सभी उक्त बातें शिवप्रोक्त शास्त्रों के अवान्तर वैचित्र्य के ही चित्र प्रस्तुत करते हैं । इन उक्तियों में प्रयुक्त शैवशब्द वस्तुतः अनुत्तीर्ण शिवपद प्रापक किरणादि शास्त्रों के ही सिद्धान्त के अनुकूल है । इसे पूर्ण प्रामाणिक बात नहीं कह सकते ।।७४।।

तदेवं प्रासङ्गिकमेतन्निर्णीय प्रकृतमाह–

बुद्धितत्त्वादहङ्कारः पुनर्जातस्त्रिधा प्रिये ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च प्रकीर्तितः ।।७५।।

पारिभाषिकसंज्ञाभेदस्तु प्रातिलोम्यक्रमेण–

भूतादिर्वैकृतश्चैव तैजसश्च त्रिधा स्थितः ।

तत्र–

तन्मात्राण्यथ भूतादेस्तेभ्यो भूतान्यजीजनत् ।।७६।।

परमेश्वर इति शेषः । भूतानां स्थूलसूक्ष्माणामादिः कारणमिति व्युत्पत्तितोऽपि भूतादिः ।

तन्मात्राणि आह–

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एतानि पञ्च ख्यातानि तन्मात्राणि क्रमेण तु ।।७७।।

एषां मध्ये–

शब्दाद्व्योम समुत्पन्नं स्पर्शाद्वायुस्तथा पुनः ।
रूपात्तेजः समुत्पन्नमापो जाता रसात्पुनः ।।७८।।
गन्धात्तु पृथिवी जाता

प्रसङ्ग वश उक्त तथ्यों की वैचारिक मीमांसा करने के बाद अब प्रकृत विषय का वर्णन कर रहे हैं–

बुद्धि तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति हुई । यह भी तीन प्रकार का ही होता है । १–सात्त्विक, २–राजस और ३–तामस । यही इसके तीन भेद हैं ।।७५।।

प्रतिलोम क्रम से तामस भूतादि, राजस वैकृत और सात्त्विक तैजस संज्ञाओं से व्यक्त होते हैं । ये परिभाषा के माध्यम से बनने वाली संज्ञायें हैं । जैसे भूतानां (स्थूल, सूक्ष्म आदि का) आदि कारण ही भूतादि कहलाता है । इसी तरह वैकृत और तैजस सभी पारिभाषिक संज्ञायें हैं ।

भूतादि से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है । इन तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई । परमेश्वर की क्रियाशक्ति ने यह सम्पन्न किया ।।७६।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों क्रमशः तन्मात्रायें हैं ।।७७।।

शब्द से व्योम उत्पन्न हुआ । स्पर्श से वायु की उत्पत्ति हुई । रूपमात्र से तेज समुत्पन्न हुआ और फिर रस से अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ । वहीं गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति हुई ।

स्पर्शादयो यथोत्तरं पूर्वपूर्वतन्मात्रसहितवाय्वादीनां द्व्यादिगुणानां कारणमिति समानतन्त्रादनुसर्तव्यम् ।

तदेतत् तन्मात्रभूतजन्म–

समासात्कथितं तव ।

किञ्च–

कर्मेन्द्रियाणि जातानि तस्माद्वैकारिकादथ ।।७९।।

विकारोऽन्यान्यरूपतात्मकं चाञ्चल्यं प्रयोजनं यस्य तद्वैकारिकं राजसमिह विवक्षितम् । अथेति पादपूरणाय ।।७९।।

कानि तानीत्याह–

वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमम् ।

तथा–

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव तैजसात्तु भवन्त्यथ ।।८०।।

अथेति प्राग्वत् । तेजः प्रकाशः प्रयोजनं यस्य, तत् तैजसं सात्त्विकमिह अभिप्रेतम् ।

स्पर्श के बाद चारों तन्मात्राओं से जो क्रमशः उत्तरोत्तर लिखी गयी हैं, उनमें पूर्व पूर्व के गुण भी आ जाते हैं । जैसे वायु स्पर्श से हुआ । जैसे तेज में रूप गुण है और स्पर्श भी है । जल तत्त्व में रस गुण है पर इसमें रूप भी है । पृथिवी में गन्ध गुण पर इसको रस भी गुणान्वित करता है । संक्षेप में भगवान् ने यह सब कहा । इसके बाद भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, वैकृत (वैकारिक) जिसे राजस अहङ्कार कहते हैं, इससे कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई ।

अन्यान्य रूपात्मक चाञ्चल्य ही प्रयोजन है, जिसका इस विग्रह के अनुसार वैकृतही वैकारिक अथवा राजस कहलाता है । इस श्लोक के अन्त में अथ शब्द का प्रयोजन प्रारम्भ नहीं, वरन् श्लोक के चतुर्थ चरण की पूर्त्ति मात्र है ।।७९।।

कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः १–वाक्, २–पाणि (हाथ), ३–पाद (दोनों पैर), ४–पायु (पुरीष और अपान वायु के उत्सर्ग का देह द्वार), ५–उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच हैं ।

इसी तरह ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं । ये तैजस अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न हैं । तेज का प्रकाश ही जिसका प्रयोजन है, उसे तैजस कहते हैं ।।८०।।

तानि आह–

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

चाञ्चल्यात् सर्वविषयप्रकाशकत्वाच्च–

उभयात्म मनः प्रोक्तं व्याप्तृ सर्वेन्द्रियाणि तु ।।८१।।

व्याप्तृ इति तृन्प्रत्ययः, अत एव सर्वेन्द्रियाणीत्यत्र षष्ठ्यभावः । श्रीपूर्वशास्त्रे तु–

'.........तैजसात्तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत ।

वैकारिकात्ततोऽक्षाणि.....................'।। (१।३१)

इति प्रक्रियाभेदमात्रमस्ति ।।८१।।

तदेवंप्रतिपादितोत्पादक्रमाणि सर्वाणि एतानि तत्त्वानि–

आत्मोपकारकाण्येव कथितानि यथार्थतः ।

वक्ष्यमाणविभागस्य आत्मनो लौकिकालौकिकभोगतत्साधनतदाश्रयादिदानेन यथार्थेन निजनिजानुरूपप्रयोजनसम्पादनेन एतानि उपकारकाण्येव ।

अतश्च एतत्कृतविचित्रोपस्कार आत्मा विचित्ररूप इत्याह–

आत्मा चैवान्तरात्मा च बाह्यात्मा चैव सुन्दरि ।।८२।।

ज्ञानेन्द्रियाँ ही बुद्धीन्द्रियाँ भी कही जाती हैं । ज्ञान प्रधान होने के कारण इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहने का ही प्रचलन है । ये क्रमशः १–श्रोत्र, २–त्वक्, ३–दोनों नेत्र, ४–रसना और ५–नासिका भी इस तरह पाँच ही हैं । इनमें भी चाञ्चल्य और विषय प्रकाश का गुण है किन्तु यह गुण मुख्य रूप से मन में माना जाता है । इसीलिये इसे उभयात्म कहते हैं । यह सभी इन्द्रियों को व्याप्त कर अवस्थित होते हुए भी चञ्चल बना रहता है । 'चञ्चलं हि मनः' गीता की यह प्रसिद्ध उक्ति हैं । श्रीपूर्वशास्त्र १।३१ में कहा गया है कि, तैजस अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ और वैकारिक अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई । इन कथनों में अन्तर है, वह प्रक्रिया भेद मात्र है ।।८१।।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार आसदाशिवादि पृथिवी पर्यन्त उत्पत्ति का यह क्रम प्रदर्शित किया गया । यही सारे तत्त्व हैं । इन तत्त्वों और इनके ज्ञान से विश्व का यथातथ बोध होता है । इससे आत्मतत्त्व, जो आणव, मायीय और कार्म आवरणों से आवृत है, इसका ही कल्याण होता है । क्योंकि वस्तुबोध से इसकी सृष्टि के साथ इनके संहार का भी ज्ञान हो जाता है । जानकार साधक इन आवरणों को तोड़ फेंकता है और चिदैक्यदार्ढ्य से शैवतादात्म्य को उपलब्ध हो जाता है । यही इसका यथार्थ उपकार है ।

निरात्मा परमात्मैतान्कथयामि समासतः ।

यथा–

अबुधश्च बुधश्चैव बुध्यमानस्तथैव च ।।८३।।

प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च पुनश्च कथयामि ते ।

एतानित्येव । तत्र–

प्रधानसाम्यमाश्रित्य सुखदुःखविवर्जितः ।।८४।।

यदा तस्मिन्स्थितो देवि तदात्मा तु स उच्यते ।

प्रधानस्य प्रकृतिरूपस्य यत् साम्यं गुणानामन्योन्याभिभवाद्यभावात् सामरस्येन अवस्थानम्, तदाश्रित्य । तस्मिन्निति प्रधान एव । सुखादिरहितः प्रकृतिलीनत्वाद्व्यामूढः । यद्वक्ष्यति–

'गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।

तस्मिञ्जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति' ॥ इति । (११।२८३)

एवमेष कञ्चुकमात्रशरीरः प्रकृतिलीन आत्मेत्युक्तः ।

लौकिक भोग साधनों और अलौकिक लोकोत्तर विज्ञान के माध्यम से सूक्ष्म भोगों के बोध से स्वात्मोपकारी प्रयोजनों और साधनों का उपयोग साधक करने में प्रवृत्त हो जाता है । इससे बड़ा उपकार हो भी क्या सकता है ?

इस उपकार से विचित्र उपस्कार अर्थात् क्षतिपूर्त्तिरूप अध्याहृत उपायों से परिष्कृत आत्मा सज जाता है और इसमें उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने की शक्ति आ जाती है । तब इसी क्रम से आत्मा, अन्तरात्मा, बाह्यात्मा, निरात्मा और परमात्मा के पदों पर आसीन होने का अधिकारी हो जाता है ॥८२-८३॥

पहले यह अबुध रहता है । फिर बुध बनता है । तब बुध्यमान हो जाता है । फिर प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध रूप से परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है । यह वह अवस्था होती है, जब प्रधान के गुणों का वैषम्य विलीन हो जाता है । कञ्चुक फट जाते हैं । शक्ति जग जाती है । तब सामरस्य का रस लेने वाला आत्मा सुख दुःखों की भोक्तृत्वावस्था को पार कर शैवमहाभाव को प्राप्त कर लेता है ॥८३-८४॥

यह ध्यान देने की बात है कि, जब यह विषमतायुक्त प्रकृति में लीन रह कर आणव समावेश से आलीढ रहता है, तो इसे व्यामूढ की संज्ञा दी जाती है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! उस समय यह मात्र आत्मा होता है । एक स्थान पर कहा गया है कि, देवि ! गुणसाम्य अनिर्देश्य, अप्रतर्क्य, अनौपम प्रकृति में लीन जगत् सोये हुए की तरह प्रसुप्त बना रहता है । तब कञ्चुक मात्र

अयमेव च–

पुर्यष्टकसमायोगात्पर्यटेत्सर्वयोनिषु ॥८५॥
अन्तरात्मा स विज्ञेयो निबद्धस्तु शुभाशुभैः ।

आन्तरसूक्ष्मशरीरात्मकपुर्यारम्भकतन्मात्रपञ्चकमनोबुद्ध्यहङ्कारात्मकं पुर्यष्टकम्, तत्सम्बन्धाद्वासनारूपैः शुभाशुभैः निबद्धः सन् योनेर्योन्यन्तरं प्रसरन्नात्मबाह्यात्मनो-रन्तर्मध्ये अवस्थितत्वादन्तरात्मा ज्ञेयः ।

एष एव तु–

बुद्धिकर्मेन्द्रियैर्युक्तो महाभूतैः समावृतः ॥८६॥
बाह्यात्मा तु तदा देवि भुङ्क्तेऽसौ विषयान्सदा ।

स्थूलदेहवानिति यावत् । यदा तु अयम्–

भूतभावविनिर्मुक्तस्तत्त्वधर्मकलोज्झितः ॥८७॥
मलधर्मैकयुक्तात्मा मायाधर्मतिरस्कृतः ।
निरात्मा तु सदा ज्ञेयः

भूतैः स्थूलसूक्ष्मैः भावैश्च बुद्धिधर्मैर्विनिर्मुक्तः, तत्त्वधर्मेण पुंस्तत्त्वात्मना रूपेण कलोपलक्षितेन च कञ्चुकेन उज्झितः, केवलं मलधर्मेणैव एकेन अपूर्णमन्यतात्म-काणवमलस्वभावेन युक्तः संकुचितस्वभावः, यतो मायायाः पूर्वोक्तशक्तिरूपायाः, न तु तत्त्वात्मनः, धर्मेण अख्यात्यात्मना रूपेण तिरस्कृतः संकुचिताभासीकृतः, एवंभूतो निरात्मा आत्मनः पूर्वोक्तपाशशतवलितात् पुंस्तत्त्वलक्षणात् स्वभावाद्

शरीर ही शेष रहता है । प्रकृति में लीन रहने के कारण यह 'आत्मा' ही रहता है । इसमें पुर्यष्टक का समायोग होता है । उस समय आत्मा ८४ लाख योनियों में भटकता फिरता है ॥८५॥

जब वह शुभ और अशुभ रूप वैकल्पिक वासनाओं से लिप्त होता है और आन्तरिक सूक्ष्म शरीरात्मक, पुर के आरम्भ करने वाले तन्मात्र पञ्चक, मन, बुद्धि, अहङ्कार रूप पुर्यष्टक में इनके अन्तस्तत्त्वों के प्रभाव से उत्पन्न वासनाओं से उत्पन्न शुभ और अशुभ परिणामों से बद्ध होकर एक योनि से दूसरी योनि में जगत्प्रसार के अंग के रूप में आत्म और बाह्यात्म के अन्तराल में ही अवस्थित रहने को बाध्य हो जाता है, उस समय अन्तरात्मा कहलाता है ।

जब यही १–ज्ञान और कर्मेन्द्रियों से युक्त होकर पञ्चमहाभूतों से समावृत रहते हुए विषयोपभोग में रचा पचा रहता है, उस समय यह बाह्यात्मा कहलाता है । स्थूलदेह का विषयोपभोग बाह्यात्मा ही करता है ।

निष्क्रान्तः परमेशशास्त्रदृशा अभ्यस्तमायापुंस्तत्त्वविवेकज्ञानो विज्ञानाकल इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीपूर्वे–

'.............तत्र विज्ञानकेवलः ।

मलैकयुक्तः.....................'॥ इति । (१।२३)

मलकर्मैकयुक्तात्मेति अपपाठः । यदा तीव्रतमानुग्रहात्पूर्णतया स्फुरत्ययम्, तदा–

परमात्माथ कथ्यते ।।८८।।

न तु पूर्ववत्पशुरूपः ॥८८॥

यतः–

मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मुक्तश्च यदा प्रिये ।
सर्वाध्वसमतीतश्च मायामोहोज्झितश्च यः ।।८९।।

२–जिस समय आत्म परिष्कार के फल स्वरूप भूतभाव से विनिर्मुक्त हो जाता है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म रूप बुद्धि के धर्मों से विनिर्मुक्त हो जाता है; साथ ही तत्त्वधर्म अर्थात् पुंस्तत्त्व रूप से कला कञ्चुक से उपलक्षित धर्मों से उज्झित (रहित) हो जाता है; केवल एक ही मल से जिससे उसमें अपूर्णम्मन्यतात्मक आणव-भावना जागृत होती है और संकोच से संकुचित रहता है; साथ ही शक्ति-रूपमाया के अख्याति रूप धर्म से तिरस्कृत अनुभव करता है । संकोच का आभास भी जिसे हो जाता हो, उस समय इसे निरात्मा कहते हैं ।

निरात्मा का तात्पर्य यह है कि, यह शताधिक पाशों से संवलित पुंस्तत्त्व लक्षण के स्वभाव से ऊपर उठकर पारमेश्वर शास्त्र की दृष्टि से माया पुंस्तत्त्व विवेक ज्ञान में अभ्यस्त होकर अवस्थित होता है । उस समय जो अवस्था होती है; वह विज्ञानाकल पुरुष की अवस्था होती है । श्रीपूर्व शास्त्र में १।२३ में एक मल युक्त पुरुष ही विज्ञान केवल होता है । यह उपर्युक्त स्वरूप निरात्मा पुरुष का है ।

इसी सन्दर्भ में पूर्णतया निर्मल अवस्था में तीव्रतम भगवदनुग्रह पूर्ण शक्ति-पात से पवित्रित होकर पूर्णरूप से पशुभावनिर्मुक्त स्फुरित होने लगता है, तब यह 'परमात्मा' शब्द से अभिहित किया जाता है ॥८६-८८॥

परमात्मा का भाव असाधारण भाव है । उस समय १–आणवादि तीनों मलों से मुक्त हो जाता है । संसार पर्यन्त सभी मलों से निर्मुक्त हो जाता है । अकर्म निष्कल रूप में आ जाता है ।

२–सभी अध्वावर्ग को अतिक्रान्त कर जाता है । उस समय समना पर्यन्त सभी अध्वावर्ग को विलापन युक्ति से समाप्त कर व उन पर विजय प्राप्तकर उनसे अतीत हो जाता है । किसी अध्वा में स्वात्माभिमान नहीं रह जाता है ।

निर्मलत्वं यदा याति पदं परममव्ययम् ।

परमात्मा तदा देवि प्रोच्यते प्रभुरव्ययः ।।९०।।

यत एव आणवादिमलत्रयेण निःशेषेण संसारपर्यन्तेन रूपेण मुक्तः, अत एव सर्वं समनान्तमध्वानं सम्यक् तेषां विलापनयुक्त्या अतीतो न क्वापि अध्वनि गृहीतात्माभिमानः, अतश्च मायामोहेनेति–

'कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली' । (१०।१२६३)

इति पूर्वमुक्ता या माया, तत्कृतेन मोहेन मुसूक्ष्मेणापि महामायासंकोचेन उज्झितो रहितः, इत्थंभूतः सन् यदा परमं पदं परमशिवैक्यरूपं निर्मलत्वमायाति, तदा असावव्ययोऽविनाशी प्रभुः सर्वत्र स्वामी परमात्मेत्युच्यते ।

अथ अबुधादिभेदान् व्याकर्तुमुपक्रमते–

अबुधं च पुनर्देवि कथयामि समासतः ।

तथा च–

तत्त्वभूतात्मसंहारे कलाक्षित्यन्तगोचरे ।।९१।।

३–अध्वातीत होने पर माया मोह से भी निर्मुक्त हो जाता है । पटल १० के १२६३ श्लोक में यह निर्दिष्ट है कि,

'शरीर में अवस्थित अधःकुण्डली कर्म रूप में अवस्थित माया ही है' ।

ऐसी इसी माया से मोह उत्पन्न होता है । अध्वातीत अवस्था में माया परम सूक्ष्मरूपा महामाया के अत्यन्त सूक्ष्म संकोचों से भी रहित हो जाता है ।

४–पूर्ण नैर्मल्य को प्राप्त कर लेता है । नैर्मल्य शैवभाव का सर्वोत्तम गुण है । इसी नैर्मल्य के कारण शिव के स्वात्मदर्पण में रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द सभी प्रतिबिम्बित होते हैं । उतनी ही निर्मलता आत्मा में आ जाती है ।

ऐसा शैवमहाभाव को प्राप्त वह साधक परम अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है । उस अवस्था में वह अव्यय अविनाशी सर्वसमर्थ प्रभु 'परमात्मा' बन जाता है, परमात्मा कहलाता है । इसी रूप में वह आराधकों का आराध्य कहलाता है ॥८९-९०॥

अबुध आदि भेदों के सम्बन्ध में इनकी परिभाषायें व्याख्यात करने के लिये देवी को सम्बोधित करते हुए भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त जितने तत्त्व हैं, उनके आश्रय स्थावरों से लेकर ब्रह्म पर्यन्त जितने जीवतत्त्व हैं, इन ३० तत्त्वों और चौदह महाभूतों का जो आत्मतत्त्व अर्थात् स्वभाव है, इसके संहार में प्रवृत्त परमेश्वर के कर्तृत्व पर पहले विचार करना चाहिये ॥९१॥

मायासाम्यनिशायां वै संहृत्य परमेश्वरः ।
निर्व्यापारो भवेत्तावद्यावद्वै नोदयः पुनः ।।९२।।

'अबुधस्तिष्ठते तत्र..................'।

इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कलादिक्षित्यन्तं यानि तत्त्वानि त्रिंशत्, तेषां तदाश्रयाणां च स्थावरादिब्रह्मान्तानां चतुर्दशानां भूतानां य आत्मा स्वभावः, तस्य संहारे प्रवृत्तः परमेश्वरो मायायाः साम्यं समस्तविकृतिप्रशमात्मकं तदेव विश्वप्रस्वापाद् निशा तस्यां मायीयमशेषमध्वप्रपञ्चमनन्तभट्टारकमुखं संहृत्य निर्व्यापारो भेदसृष्ट्यनुन्मुखस्तावद्भवति, यावद् वक्ष्यमाणमायानिशाकालप्रशमात्मा नोदय इति, यावन्नायं सुखप्रवृत्तः । तत्प्रवृत्तौ हि स पुनरन्तर्मुखेन जगत्सृजन्सव्यापार एव भवति ।।९२।।

अस्मिंश्च समये-

सुखदुःखाद्यभावश्च ह्यात्मवर्गस्य कर्मणः ।

कर्मणः कार्यस्य, कलादिक्षित्यन्तदेहयोगेन उल्लासस्य आत्मवर्गस्य सर्वस्य जीवजातस्य सुखदुःखशरीराद्यभावो भवति गाढमूढत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः ।

वही परमेश्वर माया की साम्य निशा में अशेष प्रपञ्च का संहार कर निर्व्यापार हो जाते हैं । तब तक निशा में नवोदय नहीं होता । तात्पर्य यह कि, माया की साम्यावस्था में माया द्वारा उत्पन्न विकृतियों का एक तरह से शमन सा होता है । उस प्रशम की अवस्था को माया की रात कहते हैं । क्योंकि इसी में सारा विश्व सोया हुआ है । इसमें सम्पूर्ण अध्व प्रपञ्च जो अनन्त भट्टारक के साथ मिलकर किया गया था, परमेश्वर संहृत कर भेद सृष्टि की ओर अपनी उन्मुखता समाप्त कर देते हैं । उस समय परमेश्वर निर्व्यापार हो जाते हैं । यह निर्व्यापारता तब तक चलती है, जब तक स्वयं परमात्मा भेदमयी सृष्टि के लिये उन्मुख नहीं होते । निर्व्यापार अवस्था में परमेश्वर भेदमयी सृष्टि संरचना से अनुन्मुख रहते हैं । यह प्रक्रिया माया की निशाकाल की समाप्ति पर ही होती है । पुनः भगवान् स्वात्मोन्मुख होते हैं । भोग सुख से निवृत्ति के इस समय में ही भगवान् की निर्व्यापार मयता आती है । परमेश्वर भोग सुख में प्रवृत्त नहीं होता । भोग सुख में प्रवृत्ति होने पर पुनः उन्मुखरूप से जगत् की सृजन प्रक्रिया में वह सव्यापार हो जाता है ।।९२।।

इस समय सुख और दुःख आदि का एक प्रकार से अभाव रहता है । आत्मवर्ग के कर्म के अभाव का तात्पर्य यह है कि, कला से क्षिति पर्यन्त देहयोग

तदा हि असौ आत्मवर्गः–

मलनिद्राविमूढात्मा रुद्धचैतन्यदृक्क्रियः ।।९३।।

मलेन अख्यात्यात्मना जनितया निद्रया स्वापेन विशेषेण मूढो जाड्यं प्रापित आत्मा, यतश्च रूद्धे चैतन्यात्मिके पूर्णे दृक्क्रिये यस्य, यतश्च संहारवशात् लुप्ते अक्षसम्बन्धिन्यौ दृक्क्रिये यस्य तथाभूतोऽयम् ।

न विजानाति शब्दादीनात्मानं च वरानने ।
कारणं न विजानाति न च स्थानं स्वकं प्रिये ।।९४।।

अत एव न विजानाति शब्दादीन् आत्मानं च ग्राहकस्वरूपम्, ईदृगहमिति अन्तःकरणेनापि निश्चिनुते न । कारणं च परमेशमीदृशव्यामोहादिदशोत्थापकं स्वं च मायात्मकं स्थानमाश्रयं न जानाति ।

सर्वमेतन्न जानाति यतो लुप्ताक्षदृक्क्रियः ।
अबुधस्तिष्ठते तत्र यावन्माया अहर्मुखम् ।।९५।।

एतत्सर्वं यतो न जानाति, ततोऽयमबुध्यमानत्वादबुधः । तत्रेति मायायां तावदास्ते यावन्मायीयमहर्मुखम् । माया अहर्मुखमिति सन्ध्यभावश्छान्दसः । यतःशब्दापेक्षं तत इति अध्याहार्यम् । तदयमित्थं मायालीनः प्रलयाकलोऽबुध इत्युक्तः । यस्तु पूर्वम्–

में उल्लसित आत्मवर्ग के सुख दुःखादि कारण उस पर मलों की अज्ञानरूपी नींद चढ़ कर खर्राटे भरने लगती है । उसका चैतन्य, उसकी ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ सभी जडता का वरण कर लेती हैं ॥९३॥

इस प्रकार अख्याति जनित नींद से जडीभूत आत्मा न तो शब्दों के निहितार्थ को पहचानता है न स्वात्म को ही कि, मैं वही परमेश्वर हूँ, इस रूप में जान पाता है । मैं इस प्रकार के मोक्ष पाशरूपी व्यामोह मुग्ध कैसे हो गया हूँ । इससे भी वह लापरवाह बना हुआ है । यह उसकी विवशता का नमूना है । वह अपने स्वयं निजी स्थान को नहीं जान पाता है ॥९४॥

यह सब कुछ वह नहीं जानता । इसलिये अबुध्यमान होने के कारण यह 'अबुध' कहलाता है । इसकी इन्द्रियाँ, इसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सब एक प्रकार से लुप्त ही हो जाती हैं । यह इसकी अबुधता का स्वरूप है, जो बड़ा ही दयनीय है । यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक माया का स्वाप समाप्त नहीं होता, जब तक ज्ञान का अरुणोदय नहीं होता । यह मायालीनता की

'प्रधानसाम्यमाश्रित्य............'। (११।८४)

इति ग्रन्थेन आत्मा उक्तः, स प्रकृतिलीन इति विशेषः ॥९५॥

तदित्थम्–

अबुधस्तु समाख्यातः बुधं चैव निबोध मे ।

तत्र–

परिपाकगते कर्मणीश्वरेच्छाकरोद्धृते ।।९६।।
प्रकाशं नायनं यद्वदनुगृहणाति भास्करः ।
करणान्यनुगृहणाति तद्वदीश्वर आत्मनाम् ।।९७।।

आत्मनामनेककर्ममध्यात् कस्मिंश्चित्कर्मणि उद्रेकवशात् परिपाकगते फल-दानयोग्ये अस्य अणोः अस्मात्कर्मण ईदृक् फलमस्तु इतीदृगीशस्य अनन्तमूर्मे-र्भगवतो या इच्छा, सैव करस्तेन उद्धृते अनन्तकर्मसन्ततिमध्याद् निष्कृष्य तं तमात्मानं प्रति भोगाय योजिते सति, तेषामेव आत्मनां कलादीनि करणानि

अवस्था अबुध अर्थात् मायालीनता के कारण 'प्रलयाकल' की ही अवस्था होती है । ११।८४ द्वारा प्रधान साम्याश्रित आत्मा की प्रलयाकल की ही अवस्था है ॥९५॥

अब तक अबुध का वर्णन (९१ से ९५ तक) किया गया । यहाँ से 'बुध' आत्मा के सम्बन्ध में भगवान् भैरव भट्टारक बतलाने जा रहे हैं । यह तो सर्व-विदित है कि, आत्मा से सम्पन्न कर्मानन्त्य में से कोई एक उद्रेकवश परिपक्व हो जाता है, अर्थात् फलदानोन्मुख हो जाता है, उस समय इस अणु पुरुष को इस कर्म से कौन सा फल दिया जाय, इसका निर्णय ईश्वरेच्छा से ही होता है । अनन्त मूर्त्ति भगवान् की जो इच्छा होती है, वही उनका हाथ (कर) है । उससे अनन्त कर्म फलों में वे उसी परिपक्व फल को भोग के लिये योजित करते हैं ॥९६॥

यह ईश्वरेच्छा ही होती है, जो भोग के लिये उस अणु के कलादि करण रूप इन्द्रियों पर अनुग्रह करती है । फल स्वरूप अणु में मैं कुछ कर रहा हूँ किञ्चित्कर्त्ता हूँ, यह प्रतीति होती है । यह बात सभी अणु आत्माओं में लागू होती है ।

उदाहरण से इसे समझा रहे हैं । आँखें सबके पास हैं । वे देखती हैं, किन्तु इनको देखने के लिये सूरज का प्रकाश चाहिये । यह नेत्रगत देखने के साधन रूप प्रकाश पर आदित्य का अनुग्रह ही माना जाता है । नायन प्रकाश को आदित्य अनुगृहीत करता है ।

अनुगृह्णाति उन्मीलयति, येन ते आत्मानः किञ्चित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाजो जायन्ते । अत्र दृष्टान्तो यथा नायनं प्रकाशं भास्करोऽनुगृह्णाति । यथा तदनुग्रहं विना नासौ भावान् प्रकाशयति, एवमीश्वरानुन्मीलिताः कलादयो न किञ्चित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाजः आत्मनः सम्पादयन्तीति सर्वत्र ईश्वरेच्छैव भगवती भवति ॥९७॥

तदनुग्रहादेव हि आतमा–

कलोन्मीलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ।

एतत् पूर्वमेव व्याकृतम् । किञ्च–

रागोऽस्य रञ्जकत्वेन विषयानन्दलक्षणः ।।९८।।

सामान्यविषयाभिष्वङ्गात्मा रागः अस्य पुंसो रञ्जकत्वेन स्थितः ॥९८॥

तथा–

कालो वै कलयत्येन तुट्यादिप्रलयावधिः ।

नियतिर्निश्चितं नित्यं योजयेच्च शुभाशुभे ।।९९।।

एतदपि प्रागेव निर्णीतम् ॥९९॥

संयोज्य च तत्फलमस्य–

परमाणुसहस्रांशान्न च न्यूनं न चाधिकम् ।

यही बात अणु पुरुषों पर लागू होती है । जब तक कला उन्मीलित नहीं हैं, वह किञ्चित्कर्त्तृत्व रूप प्रतीति नहीं करा सकती । विद्या अल्पज्ञता की प्रतिति नहीं करा सकती । उन कला आदि करणों पर ईश्वरेच्छा अनुग्रह करती है, तब अणु को अपने स्तर की प्रतीति होती है । अर्थात् सर्वत्र भगवती ईश्वरेच्छा ही कारण है ॥९७॥

अनुग्रह के कारण ही आत्मा कला के द्वारा उन्मीलित चैतन्य होता है और विद्या से वह ज्ञान प्राप्त करता है । राग उसे रञ्जित करता है । तब उसे विषया-नन्द की उपलब्धि होने लगती है । इसकी प्रतीति होने लगती है । सामान्यतया विषयाभिष्वङ्ग को ही राग कहते हैं । यह पुरुष को रञ्जकता प्रदान करने वाला प्रमुख कञ्चुक है ॥९८॥

इसी तरह काल कलन करता है । तुटि से प्रलय पर्यन्त वह आकलन करता है । नियति शुभाशुभ में नित्य समायोजित करती है । ईश्वरेच्छा ही इनको उन्मीलित करती है ॥९९॥

शुभाशुभ में नियोजित करने वाली नियति परमाणु के सहस्रांश से न तो न्यून न अधिक हो पाती है । इस प्रकार से पाँचों कलाओं से वेष्टित यह जीव पुंभाव को प्राप्त कर पुरुष नामक तत्त्व बन जाता है ।

तदित्थं कलादिपञ्चकवेष्टितोऽयम्–

पुंभावं समनुप्राप्य तत्त्वे च पुरुषाह्वये ।।१००।।

वर्तत इति शेषः ।

'आख्याह्वयश्च विज्ञेयौ नामपर्यायनामनी' ।

इत्युक्तेः संज्ञायां रूढ आह्वयशब्दः । पुरुष इति आह्वयो यस्य तत् पुरुषाह्वयम् ।।१००।।

पुरुषशब्दमक्षरसाम्येन निर्वक्ति–

पुरं प्रधानमित्युक्तं प्रपञ्चानेकसंकुलम् ।
तत्पुरं पोषयेद्यस्मात्तस्माद्वै पुरुषः स्मृतः ।।१०१।।

बुद्ध्यादिक्षित्यन्तेन अनेकेन प्रपञ्चेन परिणामभूयस्त्वेन संकुलं व्याप्तं प्रधानं यस्मात् पोषयेद् आत्मप्रकाशाभिनिवेशनेन चेतनायमानं सम्पादयेत्, तस्मादयं पुरुष इत्युक्त इत्यर्थः । प्रपञ्चानेकेति पूर्वनिपातव्यत्ययश्छान्दसः ।।१०१।।

तदित्थं प्रधानाशयमापन्नमिमम्–

यतः श्रीकण्ठनाथस्तु नियत्या कर्मतः पशुम् ।
प्रधानपाशजालेन वेष्टयेदसमञ्जसम् ।।१०२।।

आह्वय, आख्य ये दोनों शाब्द नाम के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं । अतः पुरुषाह्वय का अर्थ पुरुष संज्ञकतत्त्व होता है । पुरुष है संज्ञा जिसकी इस विग्रह के अनुसार इसका अर्थ पुंभाव प्राप्त पुरुष होता है ।।१००।।

पुर को प्रधान अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । यह बुद्ध्यादिक्षित्यन्त प्रपञ्चों से संकुल होता है । उस पुर को (पोषयेद्यस्तु) पुष्ट करने के कारण ही इसे पुरुष कहते हैं । बुद्धि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अनेकानेक प्रपञ्चों से व्याप्त रहने वाला तत्त्व प्रधान तत्त्व है । इस पुर को पोषित करने की बात यह तन्त्र करता है, जबकि उपनिषद् पुरिशेते इति पुरुषः कहता है । यहाँ शेते की अपेक्षा पुष्ट करना अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

पुष्ट करने का अर्थ आत्मचैतन्याभिनिवेश के द्वारा पुर को चेतनायमान करना ही होता है । और पुरुष यही करता है । इसलिये इसे पुरुष कहते हैं । प्रपञ्चानेक पूर्व निपातव्यत्यय का प्रामाणिक रूप है किन्तु यह छान्दस है ।।१०१।।

प्रधान रूप पुर को पुष्ट करने वाले एवम् उसके आशय को प्राप्त पुरुष को (पशुको) जो आणव पाश से आवृत है, ऐसे अणु को तथा कलादि कञ्चुकों से कञ्चुकित पुंभाव प्राप्त इस तत्त्व को प्रधानान्त अध्वा में अधिकृत श्रीकण्ठनाथ

पशुमाणवपाशपाशितं कलादिकञ्चुकवलितं च पुरुषं प्रधानाशयमापन्नं प्रधानान्तेऽध्वनि अधिकृतः श्रीकण्ठनाथः प्रधानसम्बन्धिना पाशजालेन नियतिवशोत्थितकर्मानुसारमसमञ्जसम् अनात्मनि अभिनिवेशनाय अननुरूपमेव वेष्टयेत् ॥१०२॥

प्राधानिकपाशवेष्टनं स्पष्टयति

बद्धस्त्रिगुणबन्धेन बुद्ध्या वैकारिकेण तु ।
तन्मात्रेन्द्रियबन्धेन दृढं भूतैश्च वेष्टितः ॥१०३॥

पूर्वं सत्त्वादिगुणैर्वलितः, ततस्तत्परिणामक्रमादध्यवसायात्मना बुद्ध्या, ततोऽभिमानात्मकदुरतिक्रमणीयविकारप्रयोजनेन वैकारिकादिरूपेण अहङ्कारेण । वैकारिकेणेति उपलक्षणपरम् । ततोऽपि आहङ्कारिकेण तन्मात्रेन्द्रियवर्गेण, ततोऽपि तन्मात्रकार्यैराहारादिवशोत्थशुक्रशोणितक्रमप्रसृतैः स्थूलैर्भूतैर्दृढ़ गाढं कृत्वा अयं वेष्टितो बद्धः ॥१०३॥

कीदृशोऽयम्–

बद्धः सञ्चरति ह्येवं मायाद्यवनिगोचरे ।

एवं बद्धो मायादिभूम्यन्ते सञ्चरति योनेर्योन्यन्तरं श्रयति ।

प्रधान से सम्बन्धित और नियति के अधीन उत्थित कर्मों के अनुसार ही असमञ्जसरूप से अर्थात् अनात्म में अभिनिवेश के लिये बिना सामञ्जस्य के यों ही आवृत कर देता है । यह अणु पुरुष की विवशता का एक करुण चित्र है ॥१०२॥

इसे प्राधानिक पाशवेष्टन कहते हैं । यह कई रूपों में सम्पन्न होता है । जैसे

१–सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से युक्त होता है ।

२–उनके परिणाम क्रम से अध्यवसायात्मिका बुद्धि से वलित होता है ।

३–पुनः अभिमानात्मक दुरतिक्रमणीय वैकारिक अहङ्कार से ग्रस्त होता है ।

४–पुनः आहङ्कारिक तन्मात्र वर्ग से प्रभावित हो जाता है ।

५–पुनः तन्मात्र के कार्य रूप आहारादि से उत्पन्न शुक्रशोणित आदि दैहिक धातुओं से प्रसूत संस्कारों के स्थूल, दृढ और गाढ़ भावों से वेष्टित होता जाता है ॥१०३॥

इस तरह पाँच प्रकारों से आवेष्टित एक चेतनतत्त्व विस्मृति की मूर्च्छा से मूर्च्छित सा पाशबद्ध पशु इस मायादि प्रक्रिया में प्रसूत पंचमहाभूतों की परम्परा से पीड़ित उसी तरह भ्रमण करता है जैसे बहुतों को सोने में ही चलने की बीमारी

अतश्च–

संसारी प्रोच्यते तस्मात्संसरेद्यत्पुनः पुनः ।।१०४।।

एवमित्थंनिरुक्तस्य पुरुषस्य संसारिणः–

शब्दादिविषया यस्माद्विद्यन्ते विषयी ततः ।

एष एवेत्यर्थः । अतश्चायम्–

विषयाः परमित्याह

स्त्र्यादयो ये विषयाः, तदेव परं प्रकृष्टं वस्त्विवति ब्रूते ।

कीदृशा विषयाः–

नानाभेदैर्विसर्पिताः ।।१०५।।

नानाकर्मविपाकैश्च

नानाभेदैरिति उपलक्षिताः । विसर्पिता उपसम्प्राप्ताः । नानाकर्मविपाकैः सुखदुःखादिभेदैः सहेत्यर्थः ।

तदेतान्विषयानयम्–

भुङ्क्ते तद्भावभावितः ।

तेषां विषयाणां भावेन सत्तया भावितो वासितान्तःकरणः ।

एवं भुङ्क्ते तु वै यस्मात्तस्माद्भोक्ता स उच्यते ।।१०६।।

स इति विषयी ।।१०६।।

हो जाती है । यह एक योनि से दूसरी में और इसी क्रम से अन्यान्य योनियों में भ्रमण करने को बाध्य हो जाता है ।

ऐसी अवस्था में इसे 'संसारी' कहते हैं । क्योंकि यह पुनः पुनः संसरण करता है ।।१०४।।

इसका सम्पर्क शब्दादि विषयों से होता है, इसलिये इसे 'विषयी' कहते हैं । अब इसे विषय ही सबसे उत्तम गुण लगते हैं । जैसी स्त्री आदि । यही उत्तम लगने लगते हैं । इसमें इतना रम जाता है कि, इसी को अपना प्राण मानने लगता है । और इन विषयों का क्या पूछना ? अनेकानेक रूप में प्रसरित ये इन्द्रजाल बनकर इसे व्यामूढ बनाने से नहीं चूकते ।।१०५।।

कर्मविपाक के क्रम में जितने कर्म इसके परिपक्व होते हैं, वे सभी उसे प्राप्त होने लगते हैं । परिणाम स्वरूप सुखदुःखादि क्लेशों के भोगों में रम जाता है और उन्हीं के भावों से भावित हो जाता है और कभी अपने को सुखी, तथा कभी दुःखी मानकर क्लिष्ट हो जाता है । इन्हीं भोगों का उपभोग करने के कारण यह 'भोक्ता' भी कहलाने लगता है ।।१०६।।

किञ्चायम्–

तस्मिंस्तज्ज्ञो वरारोहे क्षेत्रे वै कार्षको यथा ।

तस्मिन्निति भूतपर्यन्ते क्षेत्रे । तज्ज्ञ इति क्षेत्रज्ञ उच्यते । कार्षको यथेति दृष्टान्तपक्षे क्षेत्रं केदारः ।

दृष्टान्तं श्लेषच्छायया स्फुटयति–

महाभिलाषमालोक्य कृषेद्वै लोभलाङ्गलैः ।।१०७।।

यथा कार्षकः कलुषजलरजोविश्रान्तिर्मा स्यादितीदृशमहाभिलाषमालोक्य विचार्य तत् क्षेत्रं लाङ्गलैर्हलैः कृषत्युल्लिखति, तथा–

'...........अभिलाषो मलोऽत्र तु' । (स्व० ४।१०५)

इत्युक्तस्थित्या मलरूपमभिलाषं विमृश्य देहात्मकक्षेत्रं बहुलोभेन कृषति कर्मबीज-वापयोग्यं करोतीति रूपकश्लेषच्छायया उक्तिः ।

अथ च–

वपेच्च मोहभावेन मनोवाक्कायिकं सदा ।
धर्माधर्ममयं बीजं प्रविकीर्य समन्ततः ।।१०८।।

अब यह पञ्चमहाभूतों के क्षेत्र की खण्डित क्षेत्रीयता की खण्डित जानकारी के बाद इसी क्षेत्र में रहने के कारण क्षेत्रज्ञ कहलाता है । जैसे एक किसान अपनी धन की क्यारियों का और खेतों का जानकार होता है । उसी तरह यह भी भूक्षेत्रों की जानकारी के कारण क्षेत्रज्ञ कहलाता है ।

जैसे कृषक अपने खेतों की आर्द्रता की दृष्टि से हल चलाकर अपने अभि-लाष की पूर्त्ति का महाध्यवसाय करता है; उसी तरह पाशबद्ध आत्मविस्मृत संसारी यह पुरुष लोभ के हल से मलरूप अभिलाष की पूर्त्ति की खेती करने लगता है । कर्म बीजों को बोने योग्य देह की भी खेती करता है । ४।२०५ में मल को अभिलाष ही कहा गया है । इस श्लोक में रूपक और श्लेषालङ्कारों की संसृष्टि सुन्दर बन पड़ी है ।।१०७।।

इस देह क्षेत्र के इस कृषक का यह लोमहर्षक आयास मोह भाव से ही सम्पन्न होता है । अपने को जाने विना अज्ञता की पराकाष्ठा में उसका यह महा-यास उसके सर्वनाश की ही भूमिका तैयार करता है किन्तु वह बेहोश है । संसार के मनोमय बीज भण्डार से उसे बीज मुफ्त मिलता है । ये बीज कई प्रकार के होते हैं । मनोमय, शब्दमय, कायिक, धर्म, अधर्म आदि के बीजों का वपन बड़े मनोयोग से करता है । बीज इधर उधर नहीं पड़ते । लोभलाङ्गल की 'हराई' (हल चलने से बनी गहरी लम्बी रेखा जिसमें बीज डालते हैं) में सजग होकर गिराता

मोहभावेनेति महायासदायि एतदित्यविचारेण । वपेदिति क्षेत्रपरिनिष्ठितं सम्पादयेत् । तदुत्तरकालं च–

तस्माद्वै अङ्कुरोत्पत्तिः

तस्मादेव बीजाद् नानाशरीरेन्द्रियात्मनोऽङ्कुरस्योत्पत्तिर्भवति ।

कीदृशीत्याह–

सुखदुःखफलोदया ।

सुखरूपस्य दुःखफलस्य उदयो यत्र । सा च अङ्कुरोत्पत्तिः–

वर्धते कामक्रोधेन सिक्ता रागाम्बुना भृशम् ।।१०९।।

अतश्च–

यस्मिन्देशे च काले च वयसा यादृशेन च ।
उप्तं शुभाशुभं कर्म तत्काले लभते फलम् ।।११०।।

तत्काल इति भाविजन्मगततारुण्यादिसमय इत्यर्थः ॥११०॥

लब्ध्वा च तत्–

भुङ्क्ते तु विविधाकारं पूर्वकर्मवशाद्बुधः ।

बुध इति यो निर्णेतुमुपक्रान्तः । तदेवमयमीदृशं क्षेत्रम्–

यस्मादेवं विजानाति तस्मात्क्षेत्रज्ञ उच्यते ।।१११।।

हुआ खेत को बोकर तैयार कर लेता है । कहीं कहीं खेत में पानी रहने पर बीज छींटता है, प्रविकीरण भी करता है ॥१०८॥

इसका अर्थात् बीजवपन का परिणाम यह होता है कि, इससे नाना शरीरेन्द्रियादि अङ्कुरों की उत्पत्ति होने लगती है । इससे जो पौधा तैयार होता है, उसमें सुख दुःख के ही फल लगते हैं । काम और क्रोध की खाद से यह पौधा बढ़ता जाता है । राग कञ्चुक के रस से इसका सिञ्चन होता है ॥१०९॥

जिस देश, काल, अवस्था आदि जिस और जैसे काल में ये बीज डाले जाते हैं, वे शुभाशुभ कर्मरूप बीज समय आने पर अर्थात् तारुण्य और जन्मान्तर के भोग के समय तैयार हो जाते हैं । उसी समय यह पुनः 'भोक्ता' बन जाता है ॥११०॥

पूर्वकर्मों के वशीभूत होने के कारण अनेक प्रकार के कर्मविपाक से नित्य प्रभावित रहता है और विभिन्न भोगों को भोगने के लिये बाध्य हो जाता है । इस भोगवाद को समझने की उसमें कुछ शक्ति जब आने लगती है और 'ज्ञ' भाव रूप कुछ चैतन्य स्फुरित होने लगता है, उस समय यह अबुध से बुध बन जाता है । इसी समय क्षेत्रज्ञ को कुछ बोध होने लगता है । इसलिये इसकी क्षेत्रज्ञ संज्ञा सार्थक होने लगती है ॥१११॥

तदस्त्थिम्–

विषयान्बुध्यते यस्माद्बुधस्तस्मात्प्रकीर्तितः ।

इत्थमयं बुधः पुरुषः संसारी विषयी भोक्ता क्षेत्रज्ञ इति च तत्तदर्थानुगताभिः संज्ञाभिरुच्यते ।

बुध्यमानं लक्षयति–

तदेवानिष्टरूपेण यदा भावयते पुमान् ।।११२।।

बुध्यमानस्तु स तदा

तदेवेति विषयभोगादि । एतदेव विभजति–

अधुना कथयामि ते ।

तथा–

यदा जुगुप्सते भोगाञ्शुभांश्चैवाशुभांस्तथा ।।११३।।

कृत्रिमानेव मन्येत परं वैराग्यमाश्रितः ।

मायाद्यवनिपर्यन्तमिन्द्रजालं तु बुध्यते ।।११४।।

'बुध' कहने का एक कारण यह भी है कि, यह विषयों के बोध होने के कारण संसारी, विषयी, भोक्ता और क्षेत्रज्ञ इन संज्ञाओं से जाना जाने वाला इस नये 'बुध' नाम से पहचाना जाता है । इस तरह श्लोक ९६ से श्लोक १११ तक बुध नामक आत्मा का वर्णन शास्त्रकार ने किया है । इसके आगे बुध्यमान भेद का वर्णन करने जा रहे हैं ।।११२।।

बुध्यमान पुरुष वह होता है, जो विषय भोगों को भोगते हुए उसके आवारक और साधना में बाधक स्वरूप को समझ जाता है । इतनी समझ आने के बाद उनसे दूर हटने की चेष्टा करता है और उनकी निन्दा करने लगता है ।।११३।।

उसके मन में वैराग्य का भाव उदय हो जाता है । रागकञ्चुक कमजोर पड़ जाता है । साथ ही उसे यह बोध भी हो जाता है कि, ये सभी भोग कृत्रिम हैं अर्थात् कर्मविपाक के ही परिणाम हैं । हमारे ही काम हमीं को निकम्मा बना रहे हैं । माया से पृथिवी पर्यन्त फैले इन्द्रजाल की असलियत को जान लेता है । माया से सम्बन्धित सभी भुवनभोगों की भीषणता को भांप कर सजग हो जाता है ।।११४।।

मायेत्यादिना तत्तत्तत्त्वभुवनभोगेष्वपि भेदमयेषु अस्य विरक्तिर्दर्शिता । किञ्च–

पुत्रमित्रकलत्राणि सुहृत्स्वजनबान्धवाः ।
यदर्जितं मया द्रव्यं शुभेनाप्यशुभेन वा ।।११५।।
तद्भोक्ष्यन्ते त्विमे सर्वे निरातङ्कानिराकुलाः ।
एकाकी चाहमेवैष यास्यामि यमसादनम् ।।११६।।
तस्माच्च न शुभा ह्येते वैरिणोऽनर्थकारिणः ।

मित्रं परस्परोपकारवशात् स्निग्धम्, अकारणमेव शोभनहृदयः । स्वजनो दासादिः । सदनमेव सादनम् ।

न केवलं पुत्रादिभ्य एव जुगुप्सते, यावत्–

स्वात्मीयमप्ययं देहं नित्यमेव जुगुप्सते ।।११७।।
शुक्रशोणितसम्भूतं विषयोरगदूषितम् ।
नानाव्याधिसमाकीर्णं जरामृत्युभयाकुलम् ।।११८।।

पुत्र, मित्र, स्त्री, सुहृत्, स्वजनों और बान्धवों की स्वार्थी स्थिति को समझता है । उसे यह लगता है कि, कमाई मैंने की और लाभ इन्होंने लिया । शुभ और अशुभ कर्मों के भागी अकेले हम बने ।।११५।।

मेरे अर्जित द्रव्यों का उपयोग करते तो ये हैं । इन्हें कोई आतङ्क नहीं, कोई व्याकुलता नहीं, कोई उत्तरदायित्व नहीं । कर्मों के भोग तो मुझे अकेले भोगने हैं । यमसदन में स्थान मेरा निश्चित हो रहा है ।।११६।।

इस आधार पर उसके मन में यह बात बैठ जाती है कि, ये मेरे शुभ के लिये नहीं हैं । वास्तविक दृष्टि से देखें तो ये मेरे बैरी ही हैं । मेरे लिये अनर्थ के ये जन्मदाता हैं । वस्तुतः मित्र तो वह होता है, जो परस्पर उपकार के कारण चिकना बना रहता है । वहीं सुहृत् वह होता है, जो अकारण ही कल्याणकारी होता है । इन स्वजनों का भी पैसे के एवज में अपना साथ देने वाला मानने लगता है । और यह अपना देह भी उसे आवरण का ही परिणाम प्रतीत होता है । अतः इसे निन्दनीय मानता है ।।११७।।

वस्तुतः यह देह है क्या । रज वीर्य का यह एक घृणित मिश्रण है । विषय के सर्पों के दंश से यह दूषित है । अनेक प्रकार की व्याधियों से व्यथित है । अन्त तो इसका और भी दुरन्त होता है । जरा से जीर्ण शीर्ण और मृत्यु के प्राणाकर्षण के आतङ्क से यह कलङ्कित है ।।११८।।

अतश्च–

सोऽहमस्मि मलाकीर्णे कथमत्र रमाम्यहम् ।

सोऽहमस्मीति आगमाद्यवगतसत्यात्मस्वरूपो भवामि । मलमशुचिद्रव्यम् । तदित्थमयमाविर्भूतवैराग्यः–

नित्यमुद्विग्नचित्तस्तु चिन्तयेद्वै पुनः पुनः ।।११९।।
कथं मुक्तिर्भवेदस्मात्संसाराद्दुरतिक्रमात् ।
एवं प्रबुद्धो देवेशि तल्लयस्तत्परायणः ।।१२०।।
सर्वारम्भविनिर्मुक्तः प्रमुक्तः प्रोच्यते तदा ।
प्रबुद्धस्तु समाख्यातः सुप्रबुद्धं तु मे शृणु ।।१२१।।
दीक्षाज्ञानेन योगेन चर्ययाप्यथ सुव्रते ।
यदा प्राप्तः परं स्थानमध्वातीतं निरामयम् ।।१२२।।
विरजो विमलं शान्तं प्रपञ्चातीतगोचरम् ।
निष्कम्पं कारणातीतं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम् ।।१२३।।

मेरा स्वरूप यह नहीं, 'वह' है । मैं यह नहीं, स्वयं हरि हूँ । इस मलाकीर्ण शरीर में कैसे रमण करूँ ? इस प्रकार वैराग्य से विभूषित आत्मस्वरूप को पहचान कर नित्य उद्विग्नचित्त बार बार यही चिन्तन करता रहता है ।।११९।।

इसके उपाय के विषय में वह सोचना शुरू कर देता है, जिससे इस इन्द्रजाल से यथा शीघ्र मुक्ति मिल सके । इस दुरतिक्रम बन्ध से शीघ्र छुटकारा मिल सके । भगवान् कह रहे हैं कि, सुरेश्वरि ! शिवे ! इस प्रकार वह बोध के प्रकाश में रस लेने लगता है । प्रकाश के विकाश की प्रतीक्षा का आनन्द लेने के कारण इसे प्रबुद्ध कहते हैं ।।१२०।।

अभी तक तो वह प्रबुद्ध था । अब वह और भी जागरूक बन जाता है । वह कोई ऐसा काम नहीं करता, जिसे आरम्भ करने का उसे अभिमान हो । इससे विनिर्मुक्त इस पुरुष को भगवान् प्रबुद्ध की संज्ञा से विभूषित करते हैं ।।१२१।।

अब वह गुरु की शरण में पहुँचता है । उसे 'यियासा' हो जाती है । गुरु से दीक्षा लेता है । दीक्षा के ज्ञान से वह भव-रोग से मुक्त हो जाता है । चर्या का आचरण करता है । फल स्वरूप वह अध्वातीत और निरामय स्तर को प्राप्त कर लेता है ।।१२२।।

विरज, विमल अर्थात् सात्त्विक, शान्त, प्रपञ्चों को अतिक्रान्त कर स्व स्वरूप में अवस्थित, अतएव मायात्मक पाशों की बन्धनमयी भीषा से भयमुक्त होकर निष्कम्प, कारणों के अतीत, सर्वज्ञ सर्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को पहचान कर उसी में अवस्थित हो जाता है ।।१२३।।

सुतृप्तानादिसम्बुद्धं स्वतन्त्रं नित्यमेव हि ।
अलुप्तशक्तिविभवं सुप्रबुद्धं सनातनम् ।।१२४।।
तस्मिन्युक्तस्तदात्मा वै तद्गुणैस्तु समन्वितः ।
सुप्रबुद्धः स एवोक्तो भैरवस्य वचो यथा ।।१२५।।
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।

इह आत्मा अन्तरात्मा च उक्तः, विज्ञानाकलो निरात्मेति, प्रलयाकलोऽपि अबुध इति, सकल एव च बाह्यविषयावबोधाद् बुद्ध इति, आयातशक्तिपातो बुद्ध्यमानः, शिवयज्ञदीक्षितः प्राप्तज्ञानः प्रबुद्धः, स्वभ्यस्तज्ञानस्तु प्राप्तशिवैकात्म्यो निश्चलप्रतिपत्तिर्जीवन्मुक्तः सुप्रबुद्ध इति शुद्धात्मा बुद्ध्यमानः प्रबुद्धः परात्मेति चतुर्विध उक्तः ।

एवमात्मोपयोगितत्त्वसर्गनिरूपणानन्तरं ज्ञानियोगिनः प्रति उपयोगिनो हेयोपादेयताप्रदर्शनाय आत्मनोऽवस्थाविशेषान् निरूप्य–

सुतृप्त, अनादि बोध सिद्ध, स्वतन्त्र, नित्य, अलुप्तशक्ति विभववान् में जो परमात्मा के 'सर्वज्ञता, तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता चाप्यविलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च भवन्ति सर्वे, भगवद्गुणाः' ये छः गुण हैं । इन गुणों से वह समन्वित हो जाता है । और इसे 'सुप्रबुद्ध' संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥१२४॥

इन गुणों से युक्त वह परमात्मा के तादात्म्य के अमृत से सिक्त हो जाता है । ऐसे लोगों को सुप्रबुद्ध कहते हैं ॥१२५॥

यह भैरव भट्टारक की उक्ति है । कभी असत्य नहीं हो सकती । इस तरह यह आत्मा ही अन्तरात्मा रूप है । विज्ञानाकल निरात्मा रूप है । प्रलयाकल अबुध है । सकल बाह्यविषयक अवबोध के कारण बुद्ध है । आयात शक्तिपात बुध्यमान है । शिव यज्ञदीक्षित प्राप्तज्ञान प्रबुद्ध है । स्वभ्यस्तज्ञान और प्राप्तशिवैक्य भाव, निश्चलज्ञानवान् जीवन्मुक्त सुप्रबुद्ध है । इत तरह शुद्धात्मा १–बुध्यमान, २–प्रबुद्ध, ३–सुप्रबुद्ध और ४–परात्मा इन चार रूपों में विभाजित किया जा सकता है । इन भेदों से भिन्न इन ज्ञान सन्दर्भों का ज्ञान विना दीक्षा के नहीं होता । ज्ञान के विना शाङ्कर योग में अधिकार की प्राप्ति नहीं होती । अतः दीक्षा अनिवार्यतः आवश्यक तत्त्व माना जाता है ॥१२५॥

यहाँ तक आत्मोपयोगी तत्त्वों की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है । ज्ञानयोग में नियुज्यमान साधकों के लिये उपयोगी हेयोपादेय विज्ञान के प्रदर्शन के लिये आत्मा की विशेष अवस्थाओं की जानकारी की विशेष अवस्थाओं का निरूपण करने के अनन्तर एक नये प्रकरण का प्रारम्भ कर रहे हैं ।

'गुणेभ्यो धिषणा जाता भावभेदैः समन्विता' ॥ (११।६८)

इत्युपक्रान्तान्भावभेदान्निरूपयितुमाह–

अधुना कथयिष्यामि भावभेदान्वरानने ।।१२६।।

भावयन्ति वासयन्ति अन्तःकरणमिति भावा धर्मादयोऽष्टौ ॥१२६॥

तत्र आदौ भेदानाह–

कारणानि दश त्रीणि कार्यं च दशधा प्रिये ।

भावानपि आह–

एकादशेन्द्रियविधा (वधा) अहङ्कारस्तु वै त्रिधा ।।१२७।।

बुद्धिरष्टविधा चैव पञ्चधा तु विपर्ययः ।

अत्र अहङ्कारस्त्रिविधो भेदमध्ये गणनीयः ।

अथ–

नामान्येषां विभागेन कथयामि यथाक्रमम् ।।१२८।।

तत्र कार्यविषयाणि कारणानि, कार्याणि च स्थूलानि सूक्ष्मप्रतीतिहेतुभूतानी-त्याशयेन उद्देशवैपरीत्येन नामानि आह–

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।।१२९।।

पटल ११ के श्लोक ६८ में यह संकेतित किया गया है कि, भाव-भेदों से समन्वित गुणों से बुद्धि उत्पन्न हुई है । इस श्लोक में उपक्रान्त भावभेदों की करनी अपेक्षित है, यह सोचकर भगवान् उन्हीं के कथन का उपक्रम कर रहे हैं ॥१२६॥

पहले भावभेदों की संख्या का ही उल्लेख कर रहे हैं । उनके अनुसार कारण १३ होते हैं और कार्य १० प्रकार के होते हैं । इन्द्रियविधा (वध) की संख्या ११ और अहङ्कार तीन प्रकार के होते हैं ॥१२७॥

बुद्धि ८ प्रकार की होती है । अर्थात् आठ प्रकार के बुद्धि के धर्म और ५ प्रकार के बुद्धि के विपर्यय होते हैं । इनके सबके नाम क्रमशः व्यक्त किये जा रहे हैं ॥१२८॥

कार्य के विषय कारण होते हैं । कार्य स्थूल होते हैं । चूँकि कारण सूक्ष्म प्रतीति के हेतु होते हैं । इसलिये पहले स्थूल की चर्चा (श्लोक १२७ के कथन के विपरीत) अर्थात् कार्य की चर्चा कर रहे हैं–ये कार्य दश हैं । १–पृथिवी,

गन्धो रसश्च तन्मात्रे रूपतन्मात्रमेव च ।
स्पर्शः शब्दश्च पञ्चैव तन्मात्राणीरितानि तु ।।१३०।।

ईरितानि उदीरितानि ॥१३०॥

एतत्ते दशधा कार्यं कीर्तितं नामसंख्यया ।

अथ–

वाक्पाणिपादं पायुं च उपस्थं च तथा विदुः ।।१३१।।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति कीर्तितम् ।
बहिष्करणकं देवि दशधा संव्यवस्थितम् ।।१३२।।
मनोऽहङ्कारबुद्ध्याख्यं त्रिधान्तःकरणंस्मृतम् ।

एवं त्रयोविंशतिधा कार्यकारणानि उक्त्वा, इन्द्रियासामर्थ्यरूपानिन्द्रियवधाख्यान् भावान् यथाक्रमं व्यनक्ति–

मूकता कौण्यपङ्गुत्वं तथानुत्सर्गतापि च ।।१३३।।
निरानन्दश्च विज्ञेयो बधिरत्वं तथैव च ।
शीर्णता चैव गात्रस्य तथा चान्धत्वमेव च ।।१३४।।

२–जल, ३–तेज, ४–वायु और ५–आकाश एवं १–गन्ध, २–रस, ३–रूप, ४–स्पर्श और शब्द ये महाभूत और इनके क्रमिक गुण ये ५+५=मिलाकर १० (दश) होते हैं ॥१२९-१३०॥

इन्हीं नामों की संख्या के अनुसार दश प्रकार के कार्य माने जाते हैं । इसी तरह तेरह प्रकार के कारण भी होते हैं । वे इस प्रकार हैं–१–वाक्, २–पाणि, ३–पाद, ४–पायु और ५–उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ तथा १–श्रोत्र, २–त्वक्, ३–चक्षु, ४–जिह्वा, और ५–नासिका रूप ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर १० तथा १–मन, २–बुद्धि तथा ३–अहङ्कार ये तीन कुल मिलाकर ये तेरह होते हैं । कार्य और कारण मिलकर २३ होते हैं ॥१३१-१३२॥

इन्द्रियाँ जिस काम को करने के लिये असमर्थ होती हैं, उन्हें इन्द्रिय बध कहते हैं । इनकी संख्या ग्यारह होती हैं । वे इस प्रकार के हैं–

१–मूकता, २–कौण्य[1], ३–पङ्गुता, ४–अनुत्सर्गता, ५–निरानन्द, ६–बधिरत्व ७–शीर्णता, ८–अन्धत्व, ९–अनास्वाद, १०–अगन्ध और

---

१. कौण्य–कुण संकोचने धातु से कौण्य निष्पन्न शब्द है । यह हाथ का दोष होता है । बहुतों के हाथ कन्धों से आगे बहुत कम निकले होते हैं । पूरा हाथ मात्र प्राय: १बलिश्त का ही होता है । दोनों ओर एक एक दो दो अंगुलियाँ ही होती हैं । ऐसे हस्त संकोच दोष को कौण्य कहते हैं । यह पाणि का वध है ।

अनास्वादस्त्वगन्धश्च अनवस्था मनस्यथ ।
इतीन्द्रियवधाः ख्याता एकादश तु तत्क्रमात् ।।१३५।।

तत्क्रमादिति प्रोक्तवाक्पाण्यादिक्रमात् । प्रागेव च–

तैजसो वैकृताख्यश्च भूतादिश्च तृतीयकः ।
अहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो मया ते वरवर्णिनि ।।१३६।।

अथ–

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुर्थकम् ।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ।।१३७।।
अष्टावेते समाख्याताबुद्धेर्धर्मादयो गुणाः ।

किञ्च–

तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रोऽन्यो विपर्ययः ।।१३८।।
अन्धतामिस्त्रमित्याहुरेवं पञ्च विपर्ययाः ।

गुणगुबुद्ध्यहङ्कृत्तन्मात्रात्मनि सूक्ष्मशरीरे इन्द्रियभूतात्मके स्थूलदेहे दृष्टानुश्रविकैः स्पृहणीये शब्दादिविषयपञ्चके य आत्माभिमानः, स क्रमेण तमो मोहो महामोह इत्युच्यते । यस्तु शरीरबाह्यविषयापकारिणि द्वेषः, स तामिस्त्रः । तद्वियोगभयात् त्रासोऽन्धतामिस्त्रः ।

११–मानसिक अनवस्था । ये ग्यारह इन्द्रियवध हैं । इन विषयों को इन्द्रियाँ दूर नहीं कर सकती हैं । जैसे मूकता को वाक् इन्द्रिय दूर नहीं कर सकती । इसी तरह ग्यारहों इन्द्रियाँ उक्त दोषों को दूर करने में असमर्थ होती हैं ।।१३३-१३५।।

श्लोक १२७ में अहङ्कार के तीन प्रकार के होने की बात कही गयी है । इसी उक्ति को यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं । वे इस प्रकार हैं–१–तैजस अहङ्कार, २–वैकृत (राजस) और ३–भूतादि (तामस) यही बात श्लोक ७६ में भी पहले ही कही गयी है ।।१३६।।

बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार हैं–१–धर्म, २–ज्ञान, ३–वैराग्य और ४–ऐश्वर्य तथा १–अधर्म, २–अज्ञान, ३–अवैराग्य, ४–अनैश्वर्य । ये ४+४= मिलकर ८ बुद्धि के धर्म या गुण होते हैं ।।१३७।।

इसके विपर्यय भी पाँच हैं–१–तम, २–मोह, ३–महामोह, ४–तामिस्त्र और ५–अन्धतामिस्त्र ।

१. सूक्ष्म शरीर (गुण, बुद्धि, अहङ्कार और तन्मात्रात्मक) में,
२. स्थूल शरीर–(इन्द्रियों और पंचमहाभूतों से निर्मिति) में तथा

तदेवम्-

भावभेदाः समाख्याताः पञ्चाशत्ते यथाक्रमम् ।।१३९।।

अथ धर्मादीनां प्रभेदान्प्रतिपादयन् सांख्योक्तांस्तुष्टिसिद्ध्यादीन् दर्शयितुं प्रक्रमते-

पुनश्चाष्टौ तु ये बुद्धेर्भेदा धर्मादयः स्थिताः ।

तेषां भेदा यदा भिन्नास्तथाहं कथयामि ते ।।१४०।।

पुनःशब्दः कथयामीत्येतदनन्तरं योज्यः । धर्माद्यष्टकरूपा या बुद्धिः, सा ज्ञानाख्यभेदवर्जम्-

बध्नाति सप्तधा सा तु पुंसः संसारवर्त्मनि ।

अष्टमेन तु-

मोचयेज्ज्ञानभावेन सांख्यज्ञानरतान्नरान् ।।१४१।।

सांख्येत्याद्युक्तेः सांख्यदृष्टावेव ते मुक्ताः, न तु इहेत्याशयोऽग्रे व्यक्तीभविष्यति ।।१४१।।

---

३. दृष्टानुश्रविक माध्यमों से शब्दादि विषयों में जो अभिमान हैं, वे क्रमशः १-तम, २-मोह और ३-महामोह कहलाते हैं ।

४. जो शरीर से बाह्य विषयों के अपकारी तत्त्व हैं, उनमें द्वेष का होना तामिस्र विपर्यय माना जाता है ।

५-इनके न रह जाने पर क्या स्थिति होगी, इसका त्रास रूप भय ही अन्धतामिस्र विपर्यय कहलाता है ।

ये सभी भाव भेद कहलाते हैं । कुल मिलाकर कारण १३+कार्य १०+ इन्द्रियवध११+अहङ्कार३+बुद्धि३-विपर्यय५=ये भाव भेद पचास होते हैं । ये श्लोक १२६ से १३९ तक के श्लोकों में व्यक्त हैं ।।१३८-१३९।।

बुद्धि के जो आठ भेद श्लोक १३७ में कहे गये हैं, उनके भेदों के विषय में यहाँ पुनः कहने जा रहे हैं ।।१४०।।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, बुद्धि के आठ धर्म ऊपर निर्दिष्ट हैं । इनमें से ज्ञान को छोड़कर जो सात बचते हैं, इन धर्मों से विशिष्ट बुद्धि सात प्रकार से संसार में संसारी पुरुषों को बन्धन देने का काम करती है । वहीं मात्र ज्ञान रूपी भाव से संसार के आवागमन रूपी बन्धनों को काटकर पुरुष को मुक्ति की ओर अग्रसर कर देती हैं ।।१४१।।

एषां धर्मादीनां मध्यात्-

ज्ञानं च सात्त्विकं प्रोक्तं त्रयोऽन्ये राजसाः स्मृताः ।
तामसाश्चाप्यधर्माद्याश्चत्वारो वै वरानने ।।१४२।।

त्रय इति ऐश्वर्यवैराग्यधर्माः ॥१४२॥

किञ्च-

धर्मश्च दशधा प्रोक्तो ज्ञानं चैवाष्टधा स्मृतम् ।
वैराग्यं नवधा चैवमैश्वर्यं चाष्टधा विदुः ।।१४३।।
एत एव विपर्यस्ता अधर्माद्याः प्रकीर्तिताः ।

एत एव ते धर्मादयो यथाप्रोक्तसंख्याप्रभेदा इत्यर्थः ।

तत्र धर्मं दशविधं तावदाह-

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।।१४४।।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
एवं दशविधो धर्मः कथितस्तु वरानने ।।१४५।।

अकल्कता अपापचित्तता ॥१४५॥

ज्ञानभेदानाह-

तारं सुतारं तरणं तारकं च प्रमोदकम् ।
प्रमुदितं रम्यकं च सदाप्रमुदितं तथा ।।१४६।।

इन धर्म आदि के मध्य में परिगणित ज्ञान सात्त्विक माना जाता है । अन्य धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य राजस माने जाते हैं । इनके अतिरिक्त अधर्म आदि चार तामस माने जाते हैं ॥१४२॥

धर्म भी दश प्रकार का माना जाता है । ज्ञान भी आठ प्रकार का होता है । वैराग्य ९ प्रकार का और ऐश्वर्य भी आठ प्रकार का होता है ॥१४३॥

इनसे विपर्यस्त भाव अधर्म आदि भी चार होते हैं । धर्म के लक्षणों में अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, सन्तोष, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकल्कता की गणना होती है । ये दश हैं । अकल्कता का अर्थ चित्त में पाप भाव का अभाव होता है ॥१४४-१४५॥

ज्ञान के भेद-१-तार, २-सुतार, ३-तरण, ४-तारक, ५-प्रमोदक, ६-प्रमुदित, ७-रम्यक और ८-सदा प्रमुदित । ये ८ प्रकारक ज्ञान होते हैं । संक्षेप में ये ज्ञान के आठ भेद बताये गये ॥१४६॥

एतज्ज्ञानं समाख्यातं समासात्परमेश्वरि ।

यत् पूर्वं पुंस्तत्त्वभुवननिर्णयावसरे–

'तारा चैव सुतारा च...........'। (१०।१०७१)

इत्यादि सिद्ध्यपेक्षया स्त्रीपाठेन उक्तम्, तत् सांख्योक्तोहादिरूपसिद्ध्यष्टकं ज्ञान-विशेषम्–इत्याशयेन । इह ज्ञानसामानाधिकरण्येन नपुंसकनिर्देशेन उक्तौ केवलं पूर्वं मोदमानेति यत्पठितम्, तत्स्थान इह तरणमिति पाठमात्रभेदः, न तु वस्तुभेदः कश्चित् ।

पूर्वोक्तं तुष्टिनवकमपि वैराग्यप्रभेदरूपमित्याह–

अम्भा च सलिला ओघा वृष्टिसंज्ञा तथापरा ।।१४७।।

सुतारा च सुपारा च सुनेत्रा च परा स्मृता ।

अष्टमी च कुमारी स्यादुत्तमाम्भसिका तथा ।।१४८।।

तदित्थम्–

वैराग्यं नवधा चैव कथितं तु मया तव ।

तदेतत्सिद्धितुष्टिसप्तदशकमिह तारादिदेवताधिष्ठितत्वादेवमभिहितमिति प्रागेवोक्तम् ।

अथ ऐश्वर्यं विभागतो दर्शयति–

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ।।१४९।।

इसके पहले पुंस्तत्त्व भुवन के निर्णय के सन्दर्भ में १०।१०७१ में तारा और सुतारा आदि स्त्रीलिङ्ग के माध्यम से ही उक्त हैं । क्योंकि सिद्धियाँ स्वयं स्त्रीलिङ्ग हैं । वे सिद्धियाँ सांख्य शास्त्रोक्त 'ऊह' आदि के रूप में ८ प्रकार की ही बतायी गयी है । ये विशेष ज्ञान के रूप में ही जानी जाती हैं ।

यहाँ पर ज्ञान शब्द स्वयं नपुंसक है । अतः उसके ही विशेषण रूप समान अधिकरण में उनके भेद भी नपुंसक रूप में ही निर्दिष्ट हैं । यहाँ मोदमाना की जगह 'तरणं' यह पाठ मात्र भेद है । किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है ।

पहले तुष्टि के नौ भेद भी वैराग्य के ही प्रभेद रूप माने जाते हैं । तुष्टि भेद में १–अम्भा, २–सलिला, ३–ओघा, ४–वृष्टि, ५–सुतारा, ६–सुपारा, ७–सुनेत्रा और ८–कुमारी और ९–उत्तमाम्भसिका भेद माने जाते हैं, जो वैराग्य के प्रभेद रूप हैं ।।१४७-१४८।।

ये सिद्धि तुष्टि के १७ भेद तारादि देवताओं से अधिष्ठित होते हैं । अब धर्म और वैराग्य के बाद ऐश्वर्य के भेदों की चर्चाकर रहे हैं । ये भेद भी आठ ही

प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च ततः परम् ।
यत्रकामावसायित्वमष्टमं परिकीर्तितम् ।।१५०।।
ऐश्वर्यमष्टधा चैव कथितं तु वरानने ।

अथ अक्रोधादिविपरीतान् क्रोधादीनधर्मभेदानाह–

क्रोधश्चागुरुशुश्रूषा अशौचं च ततः परम् ।।१५१।।
असन्तोषोऽनार्जवं च हिंसा चासत्यमेव च ।
स्तेयमब्रह्मचर्यं च तथा चैव सकल्कता ।।१५२।।
एवमेष समाख्यातो दशधाऽधर्मसङ्ग्रहः ।

अज्ञानभेदानाह–

अतारमसुतारं च अतारणमथापि च ।।१५३।।
अतारकं च देवेशि चतुर्थं परिकीर्तितम् ।
अप्रमोदोऽप्रमुदितमरम्यकमथापि च ।।१५४।।
असदाप्रमुदितं तदज्ञानं चैवमष्टधा ।

एता एव सांख्यैरूहादिसिद्धिविपरीता अष्टौ बुद्धेरशक्तय उक्ताः ।

अवैराग्यभेदानाह–

अनम्भा असलिला च अनोघावृष्टिरेव च ।।१५५।।
असुतारमसुपारमसुनेत्रमतः परम् ।
अकुमारी च विज्ञेयानुत्तमाम्भसिका तथा ।।१५६।।

होते हैं–१–अणिमा, २–लघिमा, ३–महिमा, ४–प्राप्ति, ५–प्राकाम्य, ६–ईशित्व, ७–वशित्व और ८–कामावसायित्व ॥१४९-१५०॥

यहाँ दश अक्रोध आदि धर्मों के विपरीत अधर्म आदि के दश भेदों की कलना कर रहे हैं। १–क्रोध, २–गुरु की अशुश्रूषा, ३–अशौच, ४–असंतोष, ५–अनार्जव, ६–हिंसा, ७–असत्य, ८–स्तेय, ९–अब्रह्मचर्य और १०–सकल्कता ॥१५१-१५२॥

अज्ञान भेद १–अतार, २–असुतार, ३–अतारण, ४–अतारक, ५–अप्रमोद, ६–अप्रमुदित, ७–अरम्य और ८–असदाप्रमुदित । सांख्यशास्त्र में ये आठ बुद्धि की अशक्तिता रूप असामर्थ्य के भेद माने गये हैं ॥१५३-१५४॥

अवैराग्य के भी उसी के विपरीत धर्म के ९ भेद होते हैं । जैसे–१–अनम्भा, २–असलिला, ३–अनोघा, ४–अवृष्टि, ५–असुतार, ६–असुपार, ७–असुनेत्र, ८–अकुमारी, ९–अनुत्तमाम्भसिका नामक नौ भेद हैं ॥१५५-१५६॥

तदित्थम्-

अनणिमालघिमा चैवामहिमा महेश्वरि ।

अप्राप्तिरप्राकाम्यं चानीशित्वं च तथैव च ।।१५७।।

अवशित्वं तथा चैवायत्रकामावसायिता ।

तदित्थम्-

अनैश्वर्यं च देवेशि अष्टधा परिकीर्तितम् ।

एवं तत्त्वसर्गान्तरितो यो भावसर्गोऽभिहितः, स यथा यत्र स्थितस्तत्प्रतिपादयितुमाह-

अनैश्वर्यादिभिश्चैते पैशाचाद्या अधिष्ठिताः ।।१५८।।

अधिष्ठिता व्याप्ताः ।।१५८।।

अतश्च-

यथाक्रमेण तेष्वष्टौ संस्थितान्कथयामि ते ।

तेषु पैशाचादिषु । अष्टावनैश्वर्यादीन् । तत्र-

अनैश्वर्यं हि पैशाचे अवैराग्यं च राक्षसे ।।१५९।।

याक्षे चैव तदज्ञानं गान्धर्वेऽधर्म एव च ।

धर्मं चैव तथैन्द्रे तु ज्ञानं सौम्ये प्रतिष्ठितम् ।।१६०।।

प्राजापत्ये तु वैराग्यमैश्वर्यं ब्रह्मणि स्थितम् ।

प्रधानतयेति शेषः । यच्च एतदैश्वर्यमुक्तम्-

चतुष्षष्टिगुणं चैतत्पदे ब्राह्मे व्यवस्थितम् ।।१६१।।

इसी तरह अनैश्वर्य के १-अनणिमा, २-अलघिमा, ३-अमहिमा, ४-अप्राप्ति, ५-अप्राकाम्य, ६-अनीशित्व, ७-अवशित्व और ८-अयत्रकामावसायित्व-ये आठ भेद होते हैं । ये अनैश्वर्यादिकों के साथ सभी अधर्मादि पैशाचादि भावेशों से अधिष्ठित हैं ।।१५७-१५७।।

क्रमशः यही स्पष्ट कर रहे हैं-

१-अनैश्वर्य पैशाच से, २-अवैराग्य राक्षस से, ३-अज्ञान याक्ष से, ४-अधर्म गान्धर्व से तथा इसी तरह १-धर्म ऐन्द्र से, २-ज्ञान सोम्य से ३-वैराग्य प्राजापत्य से और ४-ऐश्वर्य ब्रह्मा से अधिष्ठित हैं । इसी क्रम में भगवान् यह बता रहे हैं कि, यह जो ब्रह्मा से व्यवस्थित ऐश्वर्य है, यह ६४ गुना रूप से ब्रह्मा में व्यवस्थित है । ५६ गुना प्राजापत्य में, ४८ गुना सौम्य में, ४० गुना ऐन्द्र में, ३२ गुना गान्धर्व में, २४ गुना याक्ष में, १६ गुना राक्षस में, आठ गुना पैशाच में व्यवस्थित हैं । इस प्रकार का यह ऐश्वर्य देवयोनियों में व्यवस्थित है ।

षट्पञ्चाशद्गुणं तच्च प्राजापत्ये व्यवस्थितम् ।
अष्टचत्वारिंशद्गुणं सौम्ये वै परिकीर्तिम् ।।१६२।।
चत्वारिंशद्गुणं चैव माहेन्द्रैश्वर्यमुच्यते ।
द्वात्रिंशद्गुणितं देवि गान्धर्वैश्वर्यमुच्यते ।।१६३।।
चतुर्विंशगुणं याक्षं षोडशं राक्षसं स्मृतम् ।
ऐश्वर्यमष्टगुणितं पैशाचं परिकीर्तितम् ।।१६४।।
एवं स्थितं तदैश्वर्यं देवयोनिषु सुव्रते ।

देवयोनिष्विति अर्थलब्धमभिदधतोऽयमाशयः–यादृक्सार्वभौमस्य नरपतेरैश्वर्यम्, ततोऽष्टगुणं पैशाचम्, ततोऽप्युत्तरोत्तरमष्टगुणं राक्षसादिषु, अन्यथा अवधेरभावे किमपेक्षमष्टगुणत्वादि स्यात् । एवं ब्राह्मैश्वर्यापेक्षं पिशाचानामनैश्वर्यमेव उल्वणम्, चक्रवर्त्यपेक्षया तु अष्टगुणमैश्वर्यमुच्यते ।

एवंविधैश्वर्यव्यतिरिक्तास्तु ये धर्मादयः, ते–

अन्ये सप्त स्वरूपेण संस्थिता देवयोनिषु ।।१६५।।

यद्यपि सर्वे बुद्धिधर्माः सन्ति, तथापि पैशाचादिक्रमेण अनैश्वर्यादेरेकैकस्य प्रकर्षः, अन्येषां तु अपकर्ष इत्युक्तम् ।।१६५।।

न केवलमित्थमेते देवयोनिषु गुणप्रधानभावेन स्थिताः, यावत्–

एत एव सुसंकीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः ।

सुष्ठु संकीर्णा अलक्ष्यमाणविवेकाः, अत एव मानुष्यमेकरूपम् ।

इसका तात्पर्य यह है कि, जैसे किसी सार्वभौम चक्रवर्त्ती सम्राट में ऐश्वर्य होता है, उससे आठ गुना पैशाच में, १६ गुना राक्षस में, २४ गुना याक्ष में, ३२ गुना गान्धर्व में, ४० गुना माहेन्द्र में, ४८ गुना सौम्य में, ५६ गुना प्राजापत्य में और ६४ गुना ब्रह्मा में ऐश्वर्य अधिष्ठित है । यह सब सार्वभौम चक्रवर्त्ती सम्राट की अपेक्षा अधिक गुना माना जाना चाहिये ।।१५९-१६४।।

इस प्रकार के ऐश्वर्य से व्यक्तिरिक्त जो धर्म आदि हैं, वे दूसरे सात स्वरूपों में देवयोनियों में व्यवस्थित हैं । यद्यपि ये सभी बुद्धि के ही धर्म हैं । फिर भी पैशाच आदि क्रम से अनैश्वर्य आदि के एक के प्रकर्ष और अन्यों के अपकर्ष रूप में अवस्थित हैं ।।१६५।।

देवयोनियों में गुण प्रधान भाव से केवल यही इस तरह स्थित नहीं है, वरन् यही बुद्धि धर्म मानवों में भी सुव्यवस्थित हैं । हाँ इनमें सुसंकीर्ण रूप से अवस्थित हैं अर्थात् सोचने पर भी जल्दी लक्षित न होने वाले रूपों में ही रहते हैं । इसलिये इनके इस रूप को 'मानुष्य' की संज्ञा दी जाती है ।

तिर्यग्भेदे का वार्ता इत्याह–

प्रधानगुणभावेन स्थावरान्तं व्यवस्थिताः ।।१६६।।

पश्वादयस्तामसत्वाद् अधर्मादिचतुष्टयमयाः । तत्रापि च यथोत्तरमधर्मादयः प्रकृष्यन्ते ।।१६६।।

अथ अत्रैव यथाविभक्तविषये भावभेदे–

गुणत्रयस्य व्याप्तिं वै कथयामि यथास्थिताम् ।

तत्र–

सत्त्वेनाधिष्ठिता देवा ब्रह्माद्या मघवान्तकाः ।।१६७।।

ब्रह्माद्या मघवदन्ताश्चत्वारः सत्त्वप्रधानाः ।

गन्धर्वयक्षमनुजा दैत्याश्चैव तु राजसाः ।
यातुधानाः पिशाचाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ।।१६८।।

दैत्या यक्षप्राया एव ।।१६८।।

रजःसत्त्वोत्कटा ज्ञेया ऋषयः संशितव्रताः ।

संशितं सुतीक्ष्णं व्रतं ज्ञानविज्ञानोपायानुष्ठाननियमो येषां ते देवमानुषान्तरालप्रायत्वाद् रजःसत्त्वाभ्यामुत्कटाः ।

ये च एते देवाद्या ऋषिपर्यन्तयोनिभेदाः–

अन्योन्याभिभवास्ते च पृथिव्यां संव्यवस्थिताः ।।१६९।।

इनकी तिर्यक् योनि में व्यवस्थिति का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि, कहीं प्रधान रूप से और कहीं गौण रूप से ये व्यवस्थित हैं । स्थावर योनियों तक इनकी इसी प्रकार की अवस्थिति है । इनमें उत्तरोत्तर आदि का ही प्रकर्ष रहता है ।।१६६।।

यहाँ त्रिगुण व्याप्ति की अवस्थिति के विषय में जानकारी दे रहे हैं अर्थात् इसी विषय में कह रहे हैं कि, ब्रह्मा से लेकर इन्द्र पर्यन्त सभी देवों में ये सात्त्विक रूप से व्यवस्थित हैं । अर्थात् ये चारों सत्त्व प्रधान देव हैं ।।१६७।।

इनके अतिरिक्त गन्धर्व, यक्ष और मनुष्य तथा दैत्य ये सभी राजस प्रधान योनियाँ हैं । वहीं राक्षस और पिशाच ये तामसिक योनियाँ हैं । इनमें दैत्यों की स्थिति प्रायः यक्षवत् ही मानी जाती है ।।१६८।।

इनमें संशित व्रत अर्थात् तपस्या से तेजस्क जो ऋषि वर्ग हैं अर्थात् ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से जिन्होंने अपने व्रतों रूप शिवैक्य को उद्देश्यों की सिद्धिकर उसे प्राप्त कर लिया है, वे सत्त्व और राजस् इन दोनों से प्रकृष्ट स्तर को प्राप्त

यातुधानप्रभृतिभिर्देवर्षिप्रभृतयो दुर्वृत्तेन भूर्लोकेऽभिभूयन्ते, तैरपि ते शौर्य-तपोमन्त्रादिप्रभावात्, न तु गुणा अन्योन्याभिभवाः पृथिव्यामिति व्याख्येयं तेषाम-न्योन्याभिभवादिरूपतायाः सर्वत्र अविशेषात् पृथिव्यामिति विशेषचोदनाया अनुपपत्तेः ॥१६९॥

किञ्च–

अत्यन्ततमसाविष्टाः स्थावराश्च सरीसृपाः ।

वृक्षादयः सर्पाद्याश्च गाढतामसा मोहक्रोधमयत्वात् ।

किञ्च–

पादपादविहीनाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ॥१७०॥

सीसृपाद्या विज्ञेयाः

सरीसृपा आदौ येषां प्रातिलोम्यक्रमेण पक्ष्यादीनां ते सरीसृपाद्याः पश्वन्ताः सर्व एव तामसाः, किन्तु पादपादविहीना इति सरीसृपेभ्यः पक्षिणां पादेन हीनं तामसत्वम्, तेभ्योऽपि मृगाणाम्, तेभ्योऽपि पशूनाम् । तदीदृशी गुणव्याप्तिरिह भगवता विभज्य दर्शिता, सांख्यैस्तु–

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः' ॥ (५४)

इति अविशेषेण देवयोनिपश्वादिमनुष्याणां सत्त्वतमोरजोमयत्वं दर्शितम् ।

कर ही व्यवस्थित हैं । ये सभी भूलोक में अन्योन्य से अर्थात् यातुधान प्रभृति के दुर्व्यवहारों से अभिभूत रहते हैं । साथ ही ऋषियों की तपस्या से वे भी अभिभूत रहते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, गुण कभी भी अन्योन्य से अभिभूत नहीं होते । एक दूषित गुण वह है, तो दूसरे उत्कृष्ट गुणवन्त ॥१६९॥

जहाँ तक स्थावरों वृक्षों और सरीसृपों की बात है, ये सभी आत्यन्तिक तामसिकता से आविष्ट रहते हैं । इनमें मोह क्रोध आदि तामस भावों का ही प्राधान्य होता है । इनमें क्रमिक रूप से चौथाई की जिनमें कभी होती है, ऐसे पक्षी आदि और अधिक तामस होते हैं । इनसे भी अधिक मृग, मृगों से अधिक पशु तामसिक होते हैं ॥१७०॥

सांख्य मतवाद में 'ऊर्ध्व सत्त्व प्रधान, सर्ग मूलतः तमः प्रधान और इनके मध्य में रजः प्राधान्य होता है । यह तथ्य ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त होता है' ।

इस श्लोक के माध्यम से एक सामान्य सी बात कह दी गयी है । देव-योनि, पशु और मनुष्यादि की विशेष रूप से अलग अलग अवस्थिति का वर्णन

तदित्थं गुणवैचित्र्येण दर्शिता ये–

स्थावरान्तास्तु सुव्रते ।

चतुर्दश योनिभेदाः ।

एषामन्तर्गताश्चान्या अनन्ता एव योनयः ।।१७१।।
मानुषेषु तथानन्ता भेदानन्त्यव्यवस्थया ।
न शक्या गदितुं ता वै कर्मानन्त्यप्रभेदतः ।।१७२।।

मानुषेष्विति पुनर्विशेषोक्त्या दिग्देशकालसमाचारादिवैचित्र्येण तेषामनन्तशाखत्वं कथयति । कर्मसम्बन्धिनोऽनन्तात्प्रभेदादिति योन्यानन्त्यहेतुः ।।१७२।।

किञ्च–

गुणास्तु मानुषे लोके धर्माद्या इव संस्थिताः ।

यथा–

'एत एव सुसंकीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः' । (११।१६६)

इति धर्माद्याः सुसंकीर्णा मनुष्याणामुक्ताः, तथा गुणा अपि अलक्ष्यमाणविशेषा इत्यर्थः ।

अधर्मादिभिर्गुणैश्च ये संकीर्णा मानुषाः तदुपदेष्टृणि–

धर्माद्येषु निबद्धानि यानि ज्ञानानि सुव्रते ।।१७३।।

नहीं किया गया । भगवान् कह रहे हैं कि, सुष्ठुरूप से व्रतों का नियमतः अनुपालन करने वाली देवि ! ये जो योनियों के अनुसार गुण भेद व्यवस्थिति होने की बात कही, इनमें उक्त स्थावरान्त ये १४ योनियाँ होती हैं । इनके अन्तर्गत आने वाली अनन्त योनियाँ मानी जाती हैं ।।१७१।।

जैसे मनुष्यों में भी यह आनन्त्य देखा जाता है । ये भेद दिग्-काल-आचार और कर्मविपाक के फल के अनुसार ही होते हैं । कर्म भेद से अनन्त योनिभेद स्वाभाविक है । इसलिये इनकी अनन्तता का आकलन नहीं किया जा सकता ।।१७२।।

जैसे धर्म आदि (११।१६६) सुसंकीर्ण रूप में मनुष्यों आदि में कहे गये हैं, उसी तरह गुण आदि भी अनन्त रूपों में इन योनियों में पाये जाते हैं । धर्म आदि की तरह अधर्म आदि से भी मनुष्य संकीर्ण होते हैं । इनके उद्धार के लिये शास्त्रों में भगवान् का वरदान भी प्राप्त है । इस संकीर्णता आदि के निवारक शास्त्र भी हैं । मैं उनके विषय में यहाँ कह रहा हूँ ।।१७३।।

अधर्माद्येषु यानि स्युस्तानि ते कथयाम्यहम् ।

धर्माद्येष्विति तद्विषये तद्वाचके इत्यर्थात् । ज्ञानानि शास्त्राणि ।

तत्र–

हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम् ।।१७४।।

नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां साध्याभ्यां विडम्बयति वञ्चयति प्रतिपाद्यं तत्त्वतस्तन्निश्चयायोगादिति नित्यानित्यविडम्बकम् । भावप्रधानो निर्देशः ।।१७४।।

किञ्च–

वादजल्पवितण्डाभिः

यदुक्तं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वीतरागकथारूपो वादः । स एव च्छलजातिनिग्रहोपपन्नः पुरुषशक्तिपरीक्षार्थो जल्पः । प्रतिपक्षस्थापनहीनस्तु वितण्डा ।

एवंभूतं हेतुशास्त्रं सदागमबाह्यं तर्कशास्त्रं यत्, तेन–

विवदन्ते ह्यनिश्चिताः ।

न विद्यते निश्चितं वस्तुसतत्त्वनिश्चयो येषाम्, ते विवदन्ते इदं तत्त्वमिदं नेति परस्परव्याहतं रटन्ति ।

यहाँ बहुतेरे हेतु शास्त्र भी हैं । ये नित्य अनित्यादि साध्यों के आधार पर विडम्बना ही उपस्थित करते हैं । प्रतिपाद्य विषय सन्दर्भों को सच्चाई से सामने नहीं आने देते ।।१७४।।

कोई वाद का, कोई जल्प कोई वितण्डा का और कोई इन तीनों का आश्रय लेकर शास्त्र के साथ छल करते हैं । इनके स्वरूप इस प्रकार उक्त हैं–

१. वाद–इस विद्या में पक्ष प्रतिपक्ष का आश्रय लेते हैं । प्रमाणों और तर्कों के अनुसार सैद्धान्तिक अविरोध भाव से इसमें विचारणा की जाती है ।

२. जल्प–इसके द्वारा ही छल, जाति, निग्रहादि का आश्रय लेकर प्रतिपक्ष की शक्ति परीक्षा लेते हैं ।

३. वितण्डा–प्रतिपक्ष की स्थापना को अमान्य करने के ढङ्ग को वितण्डा कहते हैं ।

महर्षि गौतम का तर्क इस तरह परिभाषित है–'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः १।१।४० अर्थात् तत्त्वार्थ का निश्चय न होने पर कारण रूप प्रतिपत्ति से ऊह करते हैं । कुछ लोग सम्भावनात्मक ज्ञान को तर्क कहते हैं । तर्क शब्द को परिभाषित करने के लिये भी बड़े बड़े तर्क उपस्थित करते हैं । हेतुशास्त्र ही तर्कशास्त्र है यह प्रसिद्धि भी है । इस तरह वाद जल्प वितण्डा

यतस्तेषाम्–

हेतुनिष्ठानि वाक्यानि

न तु आगमिकार्थविचाररूपाणि । अतश्च–

वस्तुशून्यानि सुव्रते ।।१७५।।

ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु ।

तेन एषाम्–

धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते ।।१७६।।

अत एव एतानि–

अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः ।

उक्तं च प्राक्–

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ।

असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ।।

भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' । इति । (१०।११४१)

विषयक तर्कों के आधार पर ही अहम्मन्य पुरुष विवाद करते फिरते हैं । यह तत्त्व है और यह नहीं है, इसी के निर्णय हेतु ये सारे उपक्रम अपनाये जाते हैं । इनसे मिथ्या पाण्डित्य का घातक बन्ध ही मिलता है । आत्मोत्कर्ष के ये सभी वैचारिक ऊहापोह विरोधी हैं ।

ये जो भी बातें करते हैं, उनमें यही ध्यान रहता है कि, प्रयोजन, सिद्धान्त अवयव और उपनय या निगमन के क्रम बने रहें । इन विचारों में स्वात्म विस्मृति का विष व्याप्त रहता है । स्वात्मोत्कर्ष की आगमिक संवित्ति का प्रकाश यहाँ नहीं रहता । भगवान् कहते हैं कि, सर्वेश्वरी शिवे ! इनकी सारी बातें वस्तु शून्य होती हैं ।।१७५।।

न तो उनमें ज्ञान का प्रकाश होता है, न ही उधर अर्थात् निवृत्ति मार्ग में जाने की योजना होती है, न तो देवों की दिव्यतामयी दृष्टि दीख पड़ती है । ऐसे लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों पुरुषार्थों के मर्म में मूढ ही बने रह जाते हैं ।।१७६।।

ये मात्र कुमार्ग हैं । अज्ञान का इनमें घनत्व होता है । अधर्म का अन्धत्व होता है । "गुरुदेव, अग्नि नारायण और शास्त्रों में इनकी भक्ति नहीं होती । ये लोग नरत्व के कलङ्क हैं । असद् युक्तियों की योजना से जर्जर और सूखे तर्कों की तमिस्रा में तिरस्कृत रहते हैं । ऐसे लोगों को मोक्ष की लिप्सा दिलाकर अमोक्ष की मृगतृष्णा में दौड़ाती हुई माया इन्हें मार ही डालती है ।

तथा–

'सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम्' । इति । (१०।११४०)

यत एवंभूतं हेतुशास्त्रम्, तेन–

निरयं ते प्रगच्छन्ति ये तत्राभिरता नराः ।।१७७।।

किञ्च, अधर्मनिमित्तकाज्ञानमयेषु शुष्कतर्केषु–

अवैराग्यादनैश्वर्यं भुञ्जते निरये सदा ।

अतश्च अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्या बुद्धिधर्माः–

चत्वारस्ते वरारोहे दुःखदा नरके सदा ।।१७८।।

मोहकाः सर्वजन्तूनां यतस्ते तामसाः स्मृताः ।

एवमधर्मादिचतुष्टयमयानि शुष्कतर्कशास्त्राणि उक्त्वा धर्मादिनिबद्धानि शास्त्राणि आह–

धर्मेणैकेन देवेशि बद्धं ज्ञानं हि लौकिकम् ।।१७९।।

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यादि ।।१७९।।

'सत्पथ का परित्याग कराकर माया इन्हें उत्पथ का पथिक बना देती है' (१०।११४०-११४१)

परिणामतः इन हेतु शास्त्रों से अनजान में ही आहत से स्वात्ममूढ लोग निरय के ही अधिकारी होते हैं । उसी में निरत होकर उसे ही गले लगाने के लिये विवश हो जाते हैं ।।१७७।।

अधर्म निमित्तक अज्ञानमय शुष्क तर्कों में रत रहने वाले ये वैराग्य के अभाव के कारण नारकीय विपत्ति भोग ही नरक में भोगते हैं । अनैश्वर्य का ही उन्हें सामना करना पड़ता है ।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! ये चार प्रकार के बुद्धि के धर्म १–अधर्म, २–अज्ञान, ३–अवैराग्य और ४–अनैश्वर्य रूप बड़े सन्ताप देने वाले पीड़ाप्रद धर्म हैं । इनसे ग्रस्त लोग सदा नरक निवास ही करते हैं ।।१७८।।

ये तामस बुद्धि-धर्म हैं । समस्त प्राणियों के आकर्षण में प्रवीण हैं । प्रायः सबको मोह मुग्ध कर लेते हैं । इस तरह अधर्मादि इस चतुष्क से समन्वित शुष्क तर्क शास्त्र की उपेक्षा कर धर्म आदि चारों गुणों से समन्वित शास्त्रों का स्वाध्याय जीवन के कल्याण के लिये आवश्यक हैं । इसमें यह ध्यान देने की बात है कि, लौकिक ज्ञान की दृष्टि से एक मात्र धर्म से निबद्धशास्त्र वार्त्ता और दण्डनीति आदि धर्मशास्त्र ही हैं ।।१७९।।

'पुरुष एवेदं सर्वम्' । (ऋ० वे० १०।९०।२)

इति ज्ञानकाण्डादौ ज्ञानमप्युच्यते ।

धर्मज्ञाननिबद्धं तु पाञ्चरात्रं च वैदिकम् ।

पाञ्चरात्रैरभिगमनोपादानेज्यादिधर्मवत्-

'भूत एव स स्वयं भवति' ।

इत्यादि ज्ञानमप्युपदिश्यते । वैदिकैरपि कर्मानुष्ठानवत्-

बौद्धमारहतं चैव वैराग्येणैव सुव्रते ।।१८०।।

बद्धमित्येव ।।१८०।।

ज्ञानवैराग्यसम्बद्धं सांख्यज्ञानं हि पार्वति ।

ज्ञानं पुंस्प्रकृतिविवेकोपलब्धिः ।

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं योगज्ञानप्रतिष्ठितम् ।।१८१।।

पातञ्जलादौ विभूतिपादे ऐश्वर्यस्यापि उक्तत्वात् ।।१८१।।

धर्म और ज्ञान से निबद्ध दो शास्त्र है । १-पञ्चरात्र और इससे अधिगत उपादेय यज्ञादि धर्ममय वैदिक शास्त्र । यहाँ पाञ्चरात्र का विशेषण मानकर भी वैदिकशास्त्र का अर्थ लगाकर वैदिक पाञ्चरात्र का प्रयोग माना जा सकता है ।

पाञ्चरात्रों के अनुसार अभिगमन, उपादान और इज्या आदि धर्म से युक्त 'स्वयं वह भूत ही हो जाता है' । इस प्रकार के ज्ञान का उपदेश कर प्राणी को ब्रह्मभाव की ओर प्रेरित करते हैं ।

वहीं वैदिक धर्म के द्वारा भी कर्मानुष्ठान समन्वित ज्ञान का, ज्ञान काण्ड आदि के द्वारा उपदेश दिया जाता है । ऋ० वे० (१०।९०।२) कहता है कि, 'पुरुष ही यह सब कुछ है' अर्थात् ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है ।

इस ज्ञानमय धर्म से निबद्ध पाञ्चरात्र और वैदिक मतवाद दोनों अपने अनुयायियों को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं ।

इसी तरह वैराग्य से बद्ध दो शास्त्र हैं । इसकी पूर्ति बौद्धों और आरहतों के उपदेशों से होती है ।।१८०।।

सांख्यज्ञान, ज्ञान और वैराग्य से सम्बद्ध है । इसका ज्ञान पुरुष और प्रकृति के विवेक की उपलब्धि के रूप में होता है । वहीं ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन तीनों से बद्ध योग शास्त्र है । पातञ्जल योग दर्शन के विभूति पाद में ऐश्वर्य का वर्णन है ।।१८१।।

एवं लौकिकादीनि योगान्तानि शास्त्राणि धर्मादिरूपबुद्धिधर्मनिष्ठानि, तदुत्तरं तु पारमेश्वर–

अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तिम् ।
लोकातीतं तु तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम् ।।१८२।।

बुद्धिभावानां सर्वेषां प्रोक्तप्रपञ्चानां धर्मादीनामतीतमिति द्वितीयास्थाने व्यत्ययेन षष्ठी । तदेतदतिमार्गं शास्त्रं मार्गं पशुलोकमतीतमिति कृत्वा ।।१८२।।

तदेतत्स्पष्टयति–

लोकाश्च पशवः प्रोक्ताः सृष्टिसंहारवर्त्मनि ।
तेषामतीतास्ते ज्ञेया येऽतिमार्गे व्यवस्थिताः ।।१८३।।

सृष्टिसंहारमार्गे ये पशवः स्वस्रष्टृसंहर्त्रात्मकं संवित्तत्त्वं न जानन्ति, तत एव सृज्यमानाः संह्रियमाणाश्च, ते सर्व इह लोका उच्यन्ते । तदतीता अतिमार्गस्थाः ।।१८३।।

इस तरह लौकिक योगशास्त्र पर्यन्त शास्त्र धर्मादि रूप बुद्धि धर्म में निष्ठ हैं । इस तथ्य का परिचय दिया गया । उसके उत्तर अर्थात् इनको अतिक्रान्तकर पारमेश्वर शास्त्र अवस्थित हैं । बुद्धि के इन धर्मों को अतिक्रान्त कर अवस्थित होने के कारण इन्हें अतिमार्ग की संज्ञा दी जाती है । वस्तु स्थिति यह है ।

शास्त्र

१	२	३	४	५	६	७	८
लौकिक	पाञ्चरात्र	वैदिक	बौद्ध	आरहत	सांख्य	योग	अतिमार्ण
केवल धर्म	धर्म एवं ज्ञान		वैराग्य	वैराग्य	ज्ञान	ज्ञान	बुद्धिधर्मातीत
					वैराग्य	वैराग्य	पारमेश्वर
						और	धर्म
						ऐश्वर्य	

इस चित्र से बुद्धि के जिन धर्मों से बद्ध शास्त्र हैं, उनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, अतिमार्ग पारमेश्वर शास्त्र हैं । ये बुद्धि के धर्मों से अतीत हैं । चूँकि यह ज्ञान लोकातीत है । इसलिये भी यह ज्ञान अतिमार्ग कहलाता है ।।१८२।।

लोक की स्थिति इस सृष्टि संहार के वर्त्मरूप संसार में क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् दे रहे हैं कि, सभी लोग पाशबद्ध हैं । इन लोगों से भी वे अतीत हैं, जो बुद्धिधर्मातीत पारमेश्वर शास्त्ररूप अतिमार्ग में अवस्थित है । इस प्रकार एक मार्ग है–१–सृष्टिसंहार का (वार्त्ता) और दूसरा है २–सृष्टिसंहारातीत वर्त्म बद्ध

यतः-

कपालव्रतिनो ये च तथा पाशुपताश्च ये ।

सृष्टिर्न विद्यते तेषां

सृष्टिर्न विद्यते तेषां चः अप्यर्थे भिन्नक्रमः । ये कपालव्रतिनः पाशुपताश्च, तेषामपि सृष्टिर्नास्ति, किमङ्ग सर्वाध्वोत्तीर्णानां शैवानामिति अर्थात् ।

का तर्हि एषां स्थितिरित्याह-

ईश्वरे च ध्रुवे स्थिताः ।।१८४।।

उक्तं च प्राक्-

'दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्ते शैवचर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ।।
जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम्' । (११।७४) इति ।।१८४।।

पशु हैं । ये लोग अपने स्रष्टा और संहर्त्तारूप पारमेश्वरी शक्तिरूप संवित्तत्त्व के विषय में कुछ नहीं जानते । ये इस बात से बिल्कुल बेखबर हैं कि, ये कहाँ से कैसे सृजमान हैं और कैसे तथा क्यों म्रियमाण हैं । यही लोग इस शास्त्र में 'लोक' शब्द से व्यवहृत होते हैं । इनसे अतीत दूसरे रास्ते पर चलने वाले जो पुरुष हैं, वही 'अतिमार्गस्थ' माने जाते हैं ।

जो कपालव्रती मतवाद में दीक्षित हैं, जो पाशुपत मतवाद में विश्वास करते हैं, इन दोनों की दृष्टि से सृष्टि है ही नहीं । यह कभी कभी आँखों के समक्ष झलकने वाले आकाश चित्र की तरह की अवस्था है । भला षडध्वातीत जीवन को जीने वाले शैवों के लिये इस खिलवाड़ का महत्त्व ही क्या हो सकता है ?

प्रश्न यह है कि, जब इनके लिये सृष्टि अमान्य है, तो ये रहते कहाँ हैं ? इसका उत्तर भगवान् इसी श्लोक में स्वयं दे रहे हैं । वस्तुतः सृजन प्रक्रिया की शैवालीला को जानने के बाद वे शैवमहाभाव के ध्रुवधाम में ही अवस्थित रहते हैं ।।१८४।।

११।७४ द्वारा पहले भी कहा गया है कि,

'दीक्षा के द्वारा प्राप्त स्वात्मबोध के प्रकाश से विशुद्ध स्वात्मस्वरूप योग युक्त ज्ञानवान् पुरुष शरीरमोहत्याग के उपरान्त शैवी चर्या के माध्यम से कपालव्रत में अवस्थित हो जाते हैं । ये सभी लोग अपने शास्त्रों द्वारा निर्धारित उस ध्रुव-धाम के परमपद में समाहित हो जाते हैं ।।१८४।।

ननु सर्वस्य अध्वनः सर्गसंहारपात्रत्वादीश्वरतत्त्वस्थानामेषामपि ताभ्यां भवितव्यम् । उच्यते, तावन्मात्राख्यात्यंशसंहार एषां परभैरवस्वरूपापत्तिः, न तु पशुवत् संहृतस्वरूपाः पुनः सृज्यन्ते । तदाह–

यस्मान्मोक्षं गमिष्यन्ति अपुनर्भवकारणम् ।

तस्माद्युक्तमुक्तं सृष्टिर्न विद्यते तेषामिति सम्बन्धः ।

ये तु न अतिमार्गस्थाः, तेषाम्–

लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ।।१८५।।

अतश्च ते–

संसारचक्रमारूढा भ्रमन्ति घटयन्त्रवत् ।

घटयन्त्रमरघट्टः । एतदेव उपपादयति–

धर्माद्यरकसंयुक्तमष्टारं चक्रकं प्रिये ।।१८६।।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, अध्वा शास्त्र के ही निर्धारित मार्ग हैं । इनमें मुख्य रूप से कला, तत्त्व और भुवन अध्वाओं में बहुलांश में सृष्टिसंहार होता ही है । अतः अध्वा भी सृष्टिसंहार के पात्र होते हैं, यह निश्चय है ।

ऐसी स्थिति में इन दीक्षितों को भी सृष्टिसंहार का पात्र होना चाहिये ? इस पर कह रहे हैं कि, जीवन और मृत्यु वस्तुतः व्यक्ति भाव में अवस्थित अख्याति के कारण होते हैं । ऐसे महापुरुषों की उतने मात्र में अवस्थित अख्याति के अंश की संहार रूपपात्रता है । यह सामान्य पात्रता की तरह लगती है किन्तु यहाँ वास्तविकता यह है कि, यह उनकी संहृति नहीं होती वरन् इसे 'स्वरूपापत्ति' कहते हैं । विशुद्धात्मा पुरुष स्वात्मावस्थान रूप शिवैक्य को उपलब्ध हो जाते हैं । पशुवत् यह उनकी मृत्यु नहीं होती न ही उनकी पुनः सृष्टि ही होती है । इसलिये कहते हैं कि,

चूँकि वे मोक्ष को उपलब्ध हो जाते हैं । इसलिये उनकी यह स्वरूपापत्ति अपुनर्भव की कारण है । अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि, सृष्टि र्न विद्यते तेषाम् अर्थात् उनकी सृष्टि नहीं होती, जो लोग इस विशुद्ध अतिमार्ग के पथिक नहीं हैं, ऐसे लौकिक लोगों की ही पुनः पुनः सृष्टि और पुनः पुनः संहार होते हैं ॥१८५॥

इसलिये ये लौकिक लोग संसार के चक्र पर ही आरूढ़ हैं, यही शास्त्र कहता है । कुम्हार के चक्र पर चढ़ी चींटी की तरह ये चक्कर खाते हैं, पर इसका पता इनको नहीं होता । घटयन्त्र ही कुम्हार का चक्र (भोजपुरी में चाक) है । इसे ही अरघट्ट कहते हैं ।

ईश्वराधिष्ठितं देवि नियत्यादण्डकाहतम् ।
मलकर्मकलाविद्धं भ्रमते कालवेगतः ।।१८७।।

धर्मादयो ये संसारकारणभूतास्त एव अरा इव अरकाः परिभ्रमणहेतवः । यदाहुः–

'धर्मेण गमनमूर्ध्वम्............'। इत्यादि । (सां० का० ४४)

कुत्सितं चक्रं चक्रकम्, नियतिरेव आवर्तमानो दण्ड एव दण्डकः, तेन आहतं प्रेरितम्, मलेन आणवेन, कर्मणा, कलोपलक्षितेन मायीयेन विद्यादिना आविद्धं वेगेन प्रेरितम्, कलनामयकालतत्त्वकृतवेगेन भ्राम्यति ।

यह संसार भी अरघट्ट है । इसमें आठ अर (अरक) होते हैं । इसलिये यह अष्टार चक्र माना जाता है । धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये आठों ही अरे हैं । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! धर्म आदि ये आठों इसके चक्र के अर (अरक) बहुवचन में 'अरे' मानने के कारण ही अष्टार चक्र ही यह अरघट्ट रूप संसार है ।

ये धर्म आदि ही संसार के कारण हैं । इसीलिये इन्हें संसार चक्र के अर (अरक) कहते हैं । अर की तरह रहने वाला अरक होता है । साइकिल की तिल्लियाँ भी अर मानी जाती हैं । चक्के के चलने में ये कारण हैं । मनुष्य के शरीर से निकलने वाली वैद्युतिक किरणें भी अर कहलाती हैं । किसी के साथ बैठना अच्छा और किसी के साथ बैठना बुरा इन्हीं 'अरों' के कारण होता है ।

सांख्यकारिका ४४ इसी आधार पर कहती है कि, धर्म से ऊर्ध्वगति होती है । खराब चक्र को ही 'चक्रक' कहते हैं । इसलिये संसार को भी कुत्सित रहने के कारण चक्रक कहते हैं ।

कुम्भकार चक्र दण्ड से चलाता है । संसार चक्र का दण्ड नियति नामक कञ्चुक है । इसी दण्ड से आहत अर्थात् प्रेरित चक्र चलता है । यह ईश्वर से अधिष्ठित है । नियति के दण्ड से प्रेरित है । मल अर्थात् आणव मल से, कर्म विपाकजन्य कर्म फल से तथा कला अर्थात् कलादि कञ्चुकों से वेग पूर्व प्रेरित अर्थात् आविद्ध है और कलनाकलित काल कञ्चुक के वेग से भ्रम रहा है । इन दृष्टियों से इस संसार रूपी अष्टार चक्र को अत्यन्त विषम मानते हैं ।।१८६-१८७।।

यत ईदृशमेतदतिविषमं चक्रम्, ततः-

लौकिकाद्येषु ज्ञानेषु ये तेष्वभिरताः प्रिये ।
हेतुशास्त्रपरा ये तु ये चान्ये पापकर्मिणः ।।१८८।।
ते सर्वे चास्य चक्रस्य नान्तं पश्यन्ति मोहिताः ।

तेष्विति प्रोक्तरूपेषु । ये त्वित्यनेन लौकिकनिष्ठेभ्योऽपि शुष्कतर्कनिष्ठानामौपहत्यं ध्वन्यते । मोहिता मायया स्थगितस्वरूपाः ।

अयं च सर्वशास्त्रेभ्यः शिवशास्त्रस्य विशेषः, यत्-

लौकिकाद्येषु ये साध्या अतिमार्गान्तगोचरे ।।१८९।।
लीलया साधयेत्सर्वान् शिवज्ञाने महोदये ।

ये सिद्धिविशेषा लौकिकादौ साध्यास्तान् सर्वानतिमार्गलक्षणो योऽन्तः सर्वशास्त्रपरिनिष्ठास्थानम्, तद्गोचरे तद्विषये महोदयहेतौ शिवज्ञाने साधको लीलया साधयति ।

यच्च शैवज्ञानेन साध्यते-

न सर्वैः साध्यते तद्वै

लौकिकादिभिः । अत्र हेतुः-

यतोऽतीव सुनिर्मलम् ।।१९०।।

शिवज्ञानमिति शेषः ।।१९०।।

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जो लोग लौकिक शुष्क तर्क निष्ठ मायोपहत अल्प ज्ञान रूपी (संकुचित ज्ञानरूपी) अज्ञान में निष्ठ हैं अर्थात् स्वात्म रूप को भूलकर हेतु शास्त्रों के ही स्वाध्याय में लगे, अधम और पापकर्मों में रत हैं, ऐसे मोहमूढ लोग कभी भी संसार चक्र की गति के इन्द्रजालिक षडयन्त्र को जान भी नहीं पाते । आजीवन जन्मजन्मान्तर में भी नहीं जान पाते हैं ।।१८८।।

इन लौकिक मार्गों में जिन सिद्धियों को साध्य मानकर संसारी लोग व्यवहार कर रहे हैं । इन लक्ष्यों, इन साध्यों को अतिमार्ग के माध्यम से इनके अन्त को अर्थात् सर्वशास्त्रार्थ निष्कर्ष को साक्षात् अनुभव करने वाले साधकों के द्वारा लीला पूर्वक सिद्धकर लिया जाता है । शिवज्ञान रूप महोदय अर्थात् जीवन के स्वर्णिम उत्कर्ष रूप ज्ञानोदय रूप संवित्प्रकाश में सिद्ध साधक अनायास ही लौकिक साध्यों को सिद्ध कर लेता है ।

साधक शैव बोध प्रकाश के रश्मि साम्राज्य का सम्राट होता है । वह जो अनायास पा लेता है, वह सबके सौभाग्य का विषय नहीं होता । लौकिकों द्वारा

सुनिर्मलत्वमेव स्पष्टयति–

यतो योजयते देवि अभावे परमे पदे ।

अविद्यमाना भावभेदरूपा: पदार्था यत्र । एतत्स्फुटयति–

अभावं भावनातीतं प्रपञ्चातीतगोचरम् ।।१९१।।

मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं हेतुवादविवर्जितम् ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च व्यतीतं प्रभु चाव्ययम् ।।१९२।।

सर्वतर्कागमातीतं पाशमन्त्रविवर्जितम् ।

सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं निर्मलं निरुपप्लवम् ।।१९३।।

अविद्यमाना भावा यत्र तादृशं परमं पदम् । भावनातीतं यत: प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतो गोचरो विषयतया सम्भाव्यमानं रूपं यस्य । अत एव मनोबुद्ध्यादि-निर्मुक्तम् । अत एव च हेतुवादेन विवर्जितं सर्वविचारभित्तिभूतत्वाद्विचारयितुमशक्य-

---

तो वह असाध्य ही होता है । क्योंकि, वह शिवज्ञान अतीव निर्मल होता है । उस निर्मलता में निर्मल ही प्रवेश पा सकते हैं, पाशबद्ध पशु नहीं ॥१८९-१९०॥

जहाँ भाव भेद रूप पदार्थ अविद्यमान हो जाते हैं, वह अभाव रूप परम पद होता है । ऐसे परमपद में वह अपने को नियोजित कर लेता है । उस परम शैवज्ञान के प्रकाशमान परमपद को अभाव पद कहते हैं । प्रपञ्चरूप इस विश्व विस्तार के वैचित्र्य को अतिक्रान्त कर ही यह गोचर होता है । अन्तरिन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय होता है । इसीलिये उसे भावनातीत पद कहते हैं ॥१९१॥

मन से उसका मनन असम्भव है । बुद्धि का विषय वह बन नहीं सकता । अत: मनबुद्धि आदि अन्त:करण से भी वह गोचर नहीं है । इसीलिये वह हेतु-वाद से अर्थात् किसी कार्यकारण भाव से वह विवर्जित है क्योंकि सभी आन्तर-बाह्य विचारों की मूलभित्ति होने के कारण सभी विचारों को अतिक्रान्त कर वर्त्त-मान है । सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतीत और सभी अवभासों का उल्लासक है । प्रमाण भी उसी की प्रकाश भित्ति के कारण ही प्रकाशित हैं । ऐसे प्रभवनशील प्रभु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं । इसीलिये उन्हें अव्यय कहते हैं । क्योंकि सृष्टि और संहार से उल्लास और विनाश से दूसरों की तरह से यह किसी तरह प्रभावित नहीं, वरन् अछूता है ॥१९२॥

जिन आगमों में सब कुछ तर्क का विषय बनाया जाता है, उन पर पूरा विचार किया जाता है, उन आगमों को भी अतिक्रान्त करने वाला यह पद परम दुर्लभ पद है । माया पर्यन्त अशुद्ध अध्वारूप पाशों से तथा शुद्ध अध्वावर्गस्थ

मित्यर्थः । तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयः प्रमाणाानामपि स्वप्रकाशतद्भित्तिवशेन प्रकाशनात् सर्वावभासोल्लासकत्वाच्च । प्रभु प्रभवनशीलं स्वतन्त्रम् । न च उल्लास्यविनाशे अस्य अन्यस्येव मनागपि अन्यथाभाव इति अव्ययमिति । सर्वं तर्क्यते विचार्यते यैरागमैरिति आगमविशेषैः पारमेश्वरैस्तेषामेव सर्वविचारकत्वात्, तानपि अतिक्रान्तं तेषामपि अविषयः, यतो मायान्तैरशुद्धाध्वगैः पाशैः शुद्धाध्वस्थैश्च मन्त्रैर्विवर्जितम् । सर्वं जानात्यभेदेन पश्यति, सर्वं गच्छति अधितिष्ठति व्याप्नोति, तथापि च तेन न मनागपि आरूष्यत इति शान्तं चिदेकरूपम्, तथापि च निष्क्रान्ता उद्भूता आणवादिमला यस्मात्तादृक्, ईदृगपि च तैरसंस्पृष्टत्वाद् निरुपप्लवं निर्विकल्पं सततावभास्वरसर्वाभासकस्वतन्त्रचिदेकरूपम् ॥१९३॥

किञ्च–

सर्वशक्त्यात्मकं ह्येकं स्वतन्त्रानाथानादिमत् ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तानादिभववर्जितम् ॥१९४॥
सर्वज्ञानपदातीतं शैवं ज्ञानं परं स्मृतम् ।

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं.....................'।

इति नीत्या जगदात्मकसर्वशक्तिस्वभावम् । एकमद्वितीयम् । स्वमात्मीयं रूपमेव तन्त्रं पञ्चधाकृत्यकर्मणि उपकरणं यस्य, तत्स्वतन्त्रम् । तथा न विद्यतेऽन्यो नाथो यस्य तदनाथं विश्वेश्वरम् । तथा अनादिमत् सर्वस्यादिभूतम् । सर्वैर्ज्ञानक्रियादिविषयैर्निर्मुक्तं विश्वातिशायिनिरतिशयचिन्मात्ररूपमित्यर्थः । अनादिना अहंप्रथमिकाप्रवृत्तेन भवेन वर्जितमस्पृष्टम् । सर्वेषां बौद्धसांख्यलाकुलादिज्ञानानां यत्पदं स्वं स्वं विश्रान्तिधाम तदप्युल्लङ्घ्य स्थितम् । एवंभूतं यत् परमनुत्तरं शिवज्ञानम्, तद् अनुभवरूपं स्मृतमविच्छिन्नेन पारम्पर्येण प्रतीतमित्यर्थः ।

मन्त्रों से भी यह विवर्जित है । सब कुछ जानने वाला सर्वज्ञ है । सबमें व्याप्त है । इसलिये सर्वग है । इनसे अनारूषित है । अतएव शान्त है । चिदेकरूप है । आणवादिमलों से अतीत है । अतएव निर्मल है । अनिर्वचनीय निर्विकल्प होने के कारण यह निरुपप्लव भास्वर तत्त्व है ॥१९३॥

यह शैवज्ञान रूप परमपद सर्वशक्त्यात्मक है । एक स्थान पर कहा गया है कि, 'यह सारा जगत् उसकी शक्तियों का ही उल्लास है' । इस दृष्टि से जगत् रूप सर्व शक्तिस्वभाववान् यह एक ही है अर्थात् अद्वितीय है । स्वकीय स्वात्म स्वरूप ही उसका तन्त्र है । पाँच प्रकार के कृत्यों के काम का तन्त्र उपकरण है । यही उसका स्वतन्त्ररूप है । इसका कोई नाथ अर्थात् स्वामी नहीं है । वरन् यही सबका नाथ है अर्थात् विश्वेश्वर है ।

एवं तत्त्वभूतभावभेदसृष्टीः प्रतिपाद्य, धर्मज्ञानादिनिबद्धलौकिकादिज्ञाननिरूपण-पूर्वं शैवज्ञानमाहात्म्यं च निर्णीय उक्ततत्त्वादिसृष्टिमनुवादभङ्ग्या उपसंहरन् शिव-ज्ञानमाहात्म्यमेव अधिकावापेन दर्शयति–

एवं सृष्टानि तत्त्वानि ज्ञानानि च वरानने ।।१९५।।
तत्त्वैरेतैर्जगत्सर्वं विसृष्टं सचराचरम् ।

विशेषेण सृष्टं चतुर्दशविधभूतसर्गात्मना प्रपञ्चितम् ।

किञ्च–

भुवनानि विचित्राणि शतशोऽथ सहस्रशः ।।१९६।।
तत्त्वाभ्यन्तरसंस्थानि

यानि भुवनानि भुवनाध्वनि उक्तानि, तानि अपि तत्त्वैरेव सृष्टानि ।

तथा प्रोक्तज्ञानरूपाणि–

शास्त्राणि विविधानि च ।

न केवलं भुवनानि शास्त्राणि च तत्त्वाभ्यन्तराणि, यावत्

विज्ञानं कुहकं शिल्पं सिद्धिसन्दोहलक्षणम् ।।१९७।।

सभी ज्ञान और क्रियादि विषयों से निर्मुक्त, विश्वातिशायी निरतिशय चिन्मात्ररूप, अनादिभव से वर्जित, सभी बौद्ध सांख्य, लाकुलादि ज्ञानों का जो पद, अर्थात् उनकी विश्रान्ति के धाम हैं, उनको भी अतिक्रान्तकर यह अवस्थित है । इस प्रकार सबसे श्रेष्ठ परम अनुत्तर और अनुत्तम यह पद परम्परा से प्राप्त पद है ।।१९४।।

इस प्रकार तत्त्वभूत भाव भेदमयी सृष्टि का विवरण, धर्मज्ञानादि निबद्ध लौकिक आदि ज्ञानों का निरूपण तथा शैवज्ञान के माहात्म्य का प्रतिपादन करने के बाद उन तत्त्वादि सृष्टि आदि विषयों का उपसंहार करते हुए शिवज्ञान के माहात्म्य को ही अधिक बीजवपन के समान विस्तृत व्यापक रूप में वर्णन कर रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस प्रकार चतुर्दशविध भूत सर्ग रूप से प्रपञ्चित तत्त्वों की एवम् अनन्त प्रकार के ज्ञानों की सृष्टि हुई ।।१९५।।

इन तत्त्वों से ही सारा सचराचर जगत् सृष्टि प्रक्रिया में साकार रूप ग्रहण कर सका । इनके साथ अनन्तानन्त भुवनों का अनेकानेक विचित्र भौवन निवेशों का सर्जन सम्भव हुआ । तत्त्वों से ही सृष्ट और तत्त्वों के ही अभ्यन्तर अवस्थित अनन्त अनन्त शास्त्रों का और विद्याओं का सृजन हुआ । इसी के साथ विज्ञान, कुहकमय इन्द्रजाल, शिल्प और सिद्धियों के सन्दोहरूप में अनन्त ऐश्वर्य संसाधनों का निर्माण हुआ ।

सर्वं तत्त्वेषु बोद्धव्यं

विविधं मन्त्रमण्डलमुद्राविज्ञानम्, तथा कुहकं विस्मापकं मितहृदयप्रत्यय-कारि इन्द्रजालप्रायम्, शिल्पं चित्रपुस्तपुत्तलिकानृत्तगीतादि, सिद्धीनां वश्या-कर्षणादिरूपाणां सन्दोहं समूहं लक्षयति दर्शयति च यद् ज्ञानम्, तत् सर्वं तत्त्वे-ष्वस्तीति ज्ञेयम् । यतः–

सर्वतत्त्वेषु दृश्यते ।

तत्तत्त्वौचित्येन तत्त्वसाक्षात्कारादिभिरुपलभ्यते । न केवलं तत्त्वेषु साधकोप-योगि ज्ञेयमस्ति, यावत्–

प्रक्रिया शिवदीक्षा च तत्त्वैरेतैर्हि लभ्यते ।।१९८।।

पूर्वोक्ततत्त्वादिप्रदर्शनरूपा ज्ञानशालिनां साधकानां च उपयोगिनी या प्रक्रिया, तथा तत्तत्तत्त्वगतविचित्रभुवनभोगोचिततत्तद्योनिभेदोपपत्तिनिष्कृतिकर्मादिपाशप्रशमः शिवयोजनिका च एतैरुक्तरूपैस्तत्त्वैर्लभ्यते, न अन्यथा । तदर्थं यथोक्ततत्त्वस्वरूपम-वश्यज्ञेयम् ॥१९८॥

युक्तं च एतद् यतः–

नास्ति दीक्षासमो मोक्षः

विविध विज्ञान के रूप में मन्त्र, मण्डल और मुद्रादि विज्ञानों का अवतरण हुआ । कुहक इन्द्रजाल को कहते हैं । ये बड़े विस्मापक होते हैं । शिल्प, चित्र, पुस्त, पुत्तलिकादि, नृत्त गीतादि कलाओं को कहते हैं । इसी तरह सिद्धि के रूप में वशीकरण आदि विधियों के विविध आकर्षक रूप अवतरित हुए ।

ये सभी तत्त्वों के विस्तार के अन्तर्गत ही आते हैं । सभी तत्त्वों में उत्पत्ति के सभी लक्षण भी दीख पड़ते हैं । तत्त्वों के औचित्य के अनुसार तत्त्वों के साक्षात्कार में भी उपलब्ध होते हैं ।

यही नहीं कि तत्त्वों में साधकोपयोगिनी ज्ञेयता ही मिली वरन् इसकी उप-योगिनी प्रक्रिया भी प्राप्त हुई । विचित्र तात्त्विक दीक्षाओं का भी श्रीगणेश हुआ । भुवनभोगोचित भेदमयता, कृति, निष्कृति, कर्मों के पाश और उनके प्रशम के उपाय, शिव योजनिका क्रिया आदि इन्हीं तत्त्वों की लाक्षणिकता से लक्षित हो सकी । इनकी जानकारी आज हमारे लिये भी अत्यन्त आवश्यक है ॥१९८॥

यह बात सही भी है । शास्त्र कहता है कि, दीक्षा के समान मोक्ष भी नहीं है क्योंकि, दीक्षा ही विश्व के बन्धनों से मुक्त करती है और साथ ही शैवीधाम में भी पहुँचा देती है । जिन मन्त्रों से दीक्षा दी जाती है, उन मन्त्रों की वीर्यरूपा अर्थात् वाच्यवाचक चमत्कार चैतन्योत्कर्षरूपा मातृका से बढ़ कर कोई विद्या नहीं होती ।

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यति' ।

इति हि प्रतिपादितमन्यत्र । दीक्षा च यैर्मन्त्रैः क्रियते, तद्वीर्यरूपा–

न विद्या मातृका परा ।

सा हि भगवती अशेषवाच्यवाचकात्मकजगदभेदचमत्कारात्मकशब्दराशि-विमर्शपरमार्था सर्वमन्त्रारणिस्तत्र तत्र आगमेषु निर्दिश्यते । सा च एषा विश्वाव-मर्शनेन परं ज्ञानं प्रयच्छति । तच्च प्रतिपादिताध्वप्रक्रियामयमेवेत्याह–

न प्रक्रियापरं ज्ञानं

प्रक्रियातः परमन्यज्ज्ञानं परितुच्छमेव । ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकमिति पूर्वनिरूपितनीत्या ज्ञानेन लक्षणीयो यो लक्ष्यभूतपरतत्त्वैकात्मा योगस्ततोऽन्यो मितयोगो हेय एवेत्याह–

नास्ति योगस्त्वलक्ष्यकः ।।१९९।।

अविद्यमानं परं लक्ष्यं विश्रान्तिधाम यस्य तादृशो योगो नास्ति । विद्यमानोऽपि मितयोग इह अनुत्तरचर्चायामयोग एवेति योजनिकोक्तः परयोग एव इह योगः ।।१९९।।

भगवती मातृका के द्वारा अद्वयाद्वैत चमत्कारमयी शब्दराशि के संविद्विमर्श रश्मियों से ही समस्त मन्त्रों की उत्पत्ति निष्पत्ति होती है और मन्त्रों में अरणि मन्थन द्वारा निष्पन्न अग्निनारायण की अर्थमयी सार्थकता उच्छलित होती रहती है । यह मातृका विद्या ही विश्वात्मक प्रत्यवमर्श के द्वारा परमोपादेय ज्ञान का ज्ञापन करती रहती है । सारी अध्वप्रक्रिया की विज्ञानवादिता इसी पर निर्भर करती है ।

भगवान् स्वयं कहते हैं कि, प्रक्रिया से बढ़कर कोई ज्ञान हो ही नहीं सकता । ज्ञान ज्ञेय का ही ज्ञापक होता है । इस ज्ञान से लक्षणीय जो लक्ष्यभूत परतत्त्वैक्य रूप योग इस योग के समान भी कोई योग नहीं होता । इसीलिये कहते हैं कि, योग कभी अलक्ष्यक नहीं होता । अर्थात् ऐसा योग नहीं होता, जिससे परम विश्रान्तिधाम परमेश्वर लक्षित नहीं हो । इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि, ज्ञान योग परमात्मा को लक्षित करने वाला परम सर्वोत्तम साधन है ।

अन्य सभी योग मितयोग कहलाते हैं । ये सभी अनुत्तर शास्त्रचर्या के सन्दर्भ में अयोग मात्र ही हैं । वस्तुतः परयोग वही है, जो योजनिका क्रिया द्वारा परमेश्वर महाभाव से जोड़ दे ।।१९९।।

एवं परपुरुषार्थप्रापकदीक्षातदुपयोगिमातृकाप्रक्रियाज्ञानलक्ष्यकयोगस्वरूपमेतत्सर्वमेव सातिशयं वस्तु पारमेश्वर एव शासने उपदिश्यत इति तदेव सर्वशास्त्रोत्तममिति निरूपयति–

तत्सर्वं कथितं देवि शिवज्ञानमहोदधौ ।

शिवज्ञानमेव अगाधत्वात् समग्रज्ञाननदीभेदविश्रान्तिधामत्वात् समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुत्वाच्च महोदधिः ।

प्रकृतमुपसंहरन्नन्यदवतारयति–

एवं सृष्टिः समाख्याता स्थितिः संहार उच्यते ।।२००।।

संहारश्चेत्यर्थः । तत्र स्थितिर्नियतिकालावस्थानात्मा, तत्प्रान्ते च संहारस्तथेति ।।२००।।

यतः प्रभृति प्रवृत्तो यादृशश्च यस्य स्थाप्यस्य संहार्यस्य च कालः, तत्सर्वमादेष्टुमाह–

मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः ।।२०१।।

इस तरह परम पुरुषार्थ प्रद दीक्षा है, यह सिद्ध हो जाता है । दीक्षा के लिये परम उपयोगी मातृका शक्ति होती है । मातृका में प्रक्रियापरक ज्ञान की उपलब्धि होती है । इस तरह के ज्ञान को लक्ष्यक योग के द्वारा पारमेश्वर साक्षात्कार होता है । इस तरह की शिक्षा इसी शास्त्र में दी जाती है । इसलिये यह सर्वोत्तम शास्त्र माना जाता है । भगवान् कहते हैं कि,

यह शास्त्र शिवज्ञान का लहराता महासागर है । देवि ! मैंने इस शास्त्र समुद्र के समस्त रत्नों के विषय में तुम्हें जानकारी दी । यह अगाध शास्त्र है । सारी ज्ञान की नदियाँ इसमें आ मिलती है । स्रोतस्विनियों का यह विश्रान्ति धाम है । समस्त सम्पत् समवाप्ति का यह हेतु है । इसीलिये इसे महासागर कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! सृष्टि स्वरूप और इन सन्दर्भों का मैंने तुम्हारे सामने व्याख्यान किया है । यहाँ से मैं तुम्हें स्थिति और संहार के विषय में बताऊँगा । इसे ध्यान पूर्वक सुनो । नियति और काल में अवस्थान ही स्थिति मानी जाती है । साथ ही स्थिति का संहार में ही अन्त होता है ।।२००।।

यह जहाँ से प्रवृत्त हुआ है, जैसा है, प्रारम्भ के बाद स्थिति योग्य और संहारयोग्य क्षणों में काल-स्वरूप क्या हो सकता है ? उन सबके विषय में बताने के लिये ये भगवान् की उक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं ।

लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात् ।
दश पञ्च निमेषाश्च काष्ठा चैव प्रकीर्तिता ।।२०२।।
त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेया मुहूर्तस्त्रिंशदेव ताः ।
मुहूर्तस्तु पुनस्त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः ।।२०३।।

शास्त्रव्युत्पिपादयिषितानां मनुष्याणां स्वानुभवसिद्धौ योऽक्ष्णो निमेषः पक्ष्मसंकोचस्तदीयो योऽष्टमांशः अत्यन्तमणीयान् कालावयवः अक्षिनिमेषकालप्रतीत्यैव कल्प्यमानः, स क्षणः । लव इति यः प्राणीयस्तुटिकालः । यदुक्तं प्राक्–

'तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः' ॥ इति । (७।२७)

बाह्यलवद्वयं निमेष इति क्षणाष्टकरूपः । मुहूर्त इति द्विघटिकारूपः ॥२०३॥

किञ्च–

अहोरात्रशतैश्चैव त्रिभिः षष्ट्यधिकैः प्रिये ।
संवत्सरस्तु विज्ञेयो मानुषः कमलेक्षणे ।।२०४।।

शास्त्रों की व्युत्पत्ति पूर्वक उनके प्रतिपादन के अभिलाष के साथ सतत संलग्न साधकों विद्वानों और व्याख्याकारों के अनुभव से सिद्ध है कि, उनके नेत्रों के निमेष में और उन्मेष में मिलाकर कितना समय लगता है । उनके पक्ष्मसंकोच में कितना समय लगता है । पलक के गिरने, निचली सतह में सटकर पुनः उठ जाने में जितना समय लग जाता है, उसके आठवें भाग के समान अणीयान् क्षणांश के कालावयव को 'क्षण' कहते हैं । दो क्षणों के बराबर कालांश को 'तुटि' कहते हैं । दो तुटियों के योगांश को 'लव' कहते हैं । दो लवों का एक 'निमेष' होता है । पञ्चदश निमेष की एक 'काष्ठा' होती है । ३० काष्ठाओं की एक 'कला' होती है । ३० कलाओं का एक मुहूर्त्त होता है और ३० मूहूर्त्तों का एक मानव अहोरात्र माना जाता है ।

इसी ग्रन्थ के पटल ७।२७ में यह कहा गया है कि, प्राण में १६ तुटियाँ होती हैं । सोलह साँस लेने में और सोलह साँस के छोड़ने में । उसके साथ ७२ अंगुल के प्राणापानवाह में प्राणापान की २½-२½ अंगुल की ये तुटियाँ होती हैं । यह बाह्यकाल माना जाता है । इसी मान के अनुसार दो लवों का एक निमेष होता है । यह आठ क्षणों के बराबर का है । इसी तरह दो घड़ियों का एक मुहूर्त्त माना जाता है ॥२०१-२०३॥

और आगे भगवान् इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! तीन सौ साठ अहोरात्रों का एक संवत्सर होता है । सौ संवत्सरों की ही

संवत्सरशतं पूर्णमायुर्ज्ञेयं तु मानुषम् ।

विंशत्यधिकं हि शतं परमायुरिति प्रसिद्धम् ।

यदुक्तं षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयेण वत्सर इति, तदेव पक्षमासादिविभागपूर्वं स्फुटयति–

दश पञ्च त्वहोरात्राः पक्षस्तु परिकीर्तितः ।।२०५।।
पक्षद्वयेन मासस्तु ऋतुर्द्विगुण एव सः ।
ऋतुद्वयेन कालः स्यादयनं च त्रिभिस्त्रिभिः ।।२०६।।
ताभ्यां द्वाभ्यां वरारोहे वर्षं तु परिगीयते ।

कालश्चतुर्मासंसंज्ञः । अयनमुत्तरायणं दक्षिणायनं च ।

इत्थमयनद्वयात्मको यो मनुष्याणां वत्सरः, स एव पित्र्योऽहोरात्र इत्याह–

दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ।।२०७।।
पितृणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ।
एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत् ।।२०८।।

आदिशब्दात्पक्षमासादि । इत्थं पितृणां देवानां च तुल्या अहोरात्रकलनेति पुराणपुस्तकेषु दृश्यते, अद्यतनैस्तु 'ऋतुर्द्विगुण एव सः' इत्यतोऽनन्तरम्–

मनुष्य की आयु होती है । बीस वर्ष यदि मनुष्य और जी जाय तो उसकी यह परमायु मानी जाती है । यह लोक प्रसिद्ध कथन है । इस उक्त काल-खण्ड के ही अन्तराल में पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है ॥२०४-२०५॥

दो पक्ष का एक मास, दो मासों का एक ऋतु, दो ऋतुओं के चार मास, तीन तीन ऋतुओं के एक एक अयन होते हैं । दो अयनों का एक वर्ष होता है । यही पितरों एक अहोरात्र अर्थात् उत्तर अयन दिन और दूसरा दक्षिण अयन रात, यही अहोरात्र का रूप है ॥२०६-२०७॥

उत्तरायण और दक्षिणायन रूप दिन रात्रि का एक पितृदिन अर्थात् एक अहोरात्र होता है । यही कलना देवों की कालकलना भी है अर्थात् पितरों और देवों के अहोरात्र बराबर होते हैं । इन्हीं अहोरात्रों की कलना के आधार पर मास और वर्ष आदि की कलना की जाती है । श्रीमद्भागवत पुराण भी यही कहता है कि, पक्षसमुच्चयोमासः पितृणां तदहर्निशम् । (३।११।११)

आचार्य क्षेमराज यहाँ उनके समय के तत्कालीन कुछ विद्वानों द्वारा बदले गये पाठ भेद की बात कर रहे हैं । इन विद्वानों के अनुसार श्लोक २०६ में 'ऋतुर्द्विगुण एव सः' इस पाठ के बाद पाठ विपर्यय पर यह कहा है कि,

'कृष्णपक्षस्त्वहश्चैव शुक्लस्तु रजनी भवेत् ।
पितृणां सोऽप्यहोरात्रस्त्वनेनाब्दस्तु पूर्ववत्' ॥

इति विपर्यास्य पठित्वा मानुष्यो मासः पित्र्योऽहोरात्र इति व्याख्यातम्, तेषां च सांवत्सरिकी पितृदिनव्यवस्था लौकिक्यपि स्थितिः प्रसृता ।

तदेवं मानुषषष्ट्यधिकत्रिशताब्दपरिमाणो यो दिव्यो वत्सरस्तमाश्रित्य–

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम् ।

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं चतुर्युगम् । अत्र च अयं विभागः–

चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम् ।।२०९।।

त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः ।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये ।।२१०।।

एवं दश वर्षाणां सहस्राणि ॥२१०॥

यत्तु अवशिष्टं सहस्रद्वयम्, ततः–

सन्ध्याद्वयस्य मानं तु कथयामि युगे युगे ।

आद्यन्तगतस्य । तत्र–

शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते ।।२११।।

त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम् ।
कलौ चापि शतं ज्ञेयं सन्ध्यामानमिदं स्मृतम् ।।२१२।।

कृष्णपक्ष ही दिन होता है और शुक्लपक्ष ही रात होती है । यही पितरों का अहोरात्र है और इसी गणना के अनुसार वर्ष का गणित भी होता है । इस गणना के अनुसार एक मानुष्य मास पितरों का एक अहोरात्र सिद्ध होता है । इस तरह मनुष्यों के ३६० महीनों का एक दिव्य या पितर वर्ष सिद्ध होता है । इसी कलना क्रम के अनुसार १५ दिव्य अहोरात्रों का एक पक्ष होता है । इस गणना के अनुसार ही दिव्य और पित्र्य व्यवस्था का आकलन करना चाहिये ॥२०८॥

मनुष्य के ३६० वर्षों का एक दिव्यवत्सर होता है । इसी के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि, दिव्य बारह हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है । इसमें ४ हजार वर्षों का सत्ययुग, तीन हजार वर्षों का त्रेता, दो हजार वर्षों का द्वापर और एक हजार वर्ष का ही कलियुग होता है । इस तरह दश हजार दिव्य वर्ष में चारों युगों की काल सीमा पूरी हो जाती है ॥२०९-२१०॥

इसके अनुसार अभी दो हजार बच रहे हैं । इसमें युगसन्धियाँ व्यतीत होती हैं । १–कलि और कृत इन दोनों की सन्धि ५०० वर्ष की, २–कृत और त्रेता की युगसन्धि ७०० वर्ष, ३–त्रेता द्वापर की युगसन्धि ५०० वर्ष तथा

एवं च कलेरन्ते शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानि इति कलिकृतयुगयोः सन्ध्या पञ्च शतानि, कृतत्रेतयोः सन्ध्या सप्त शतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च शतानि, द्वापरकलियुगयोः त्रीणि शतानीति गणयित्वा सहस्त्रद्वयम् । एतत् प्रागुक्तेन सहस्त्र-दशकेन सह द्वादशसहस्त्रं चतुर्युगम् । यदा तु–

'सन्धिसन्ध्यंशमानं तु कथयामि..........'।

इति पाठः, तदा प्रोक्तोभयमेलनात्ससन्धिमानमेकैकशतं तु सन्ध्यंशमानं ज्ञेयम् ॥२१२॥

एतदेव च–

लौकिकेन तु मानेन पुनश्च कथयामि ते ।

यावत्संख्याकं भवति ।

त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्त्राणि च विंशतिः ।।२१३।।
लौकिकेन तु मानेन त्वियं संख्या चतुर्युगे ।

वर्षाणामिति शेषः । विभागेनापि–

एकैकस्य पुनर्देवि युगस्य कथयामि ते ।।२१४।।

लौकिकवर्षसंखम् ॥२१४॥

दश सप्त च लक्षाणि सहस्त्राण्यष्टविंशतिः ।
कृतस्यैतद्भवेन्मानं त्रेतायाः कथयामि ते ।।२१५।।

आद्यन्तगतचतुःशतसन्ध्यंशयुक्तस्य, न तु केवलस्य । एवमुत्तरत्र ।

षण्णवतिः सहस्त्राणि लक्षाणि द्वादशैव तु ।
त्रेतायुगस्य मानं तु द्वापरस्य निबोध मे ।।२१६।।
चतुःषष्टिः सहस्त्राणि ह्यष्टौ लक्षाणि सुव्रते ।
द्वापरस्य तु मानं च कलेस्तु कथयामि ते ।।२१७।।

४–द्वापर और कलि की युगसन्धि ३०० वर्ष की होती है । इस तरह बची हुई दो हजार वर्ष की अवधि पूरी हो जाती है और १२ हजार वर्ष का चतुर्युग पूरा हो जाता है । इसी के अन्तर्गत सन्ध्यंश माना भी जाता है । यह सौ सौ वर्ष के बराबर होता है ॥२११-२१२॥

इसे लौकिक मान के अनुसार भी आकलित करना चाहिये । इस गणित के अनुसार सन्ध्यांश और सन्ध्या के मानों को मिलाकर १–कृत युग सत्रह लाख अट्ठारह हजार वर्ष का होता है । २–त्रेता युग का सन्ध्या और सन्ध्यांश सहित मान बारह लाख छानबे हजार वर्ष का होता है । ३–द्वापर युग का सन्ध्या और सन्ध्यांश सहित मान आठ लाख चौसठ हजार वर्ष का होता है ।

द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि लक्षाणां च चतुष्टयम् ।
एतन्मानं कलेः प्रोक्तं समासात्तव सुव्रते ।।२१८।।

तदित्थम्-

वर्षैस्तु मानवैर्देवि मानमेतद्युगे युगे ।

एवमुक्तदिव्यलौकिकाब्दमानानुसारेण-

चतुर्युगैकसप्तत्या भवेन्मन्वन्तरं पुनः ।।२१९।।

एतच्च अस्य-

सन्ध्यामानविहीनं तु युगैर्मलं प्रकीर्तितम् ।
एतद्दिव्येन मानेन मानं मन्वन्तरे स्मृतम् ।।२२०।।

चतुर्युगशतानि द्वादशाब्दसहस्राण्येकसप्तत्या गणयेत् ॥२२०॥

एतदेव च मानम्-

वर्षमानैः पुनश्चैव लौकिकैः कथयामि ते ।
सप्तषष्टिस्तु लक्षाणि त्रिंशत्कोट्यो वरानने ।।२२१।।
सहस्रविंशतिर्ज्ञेयं मानं मन्वन्तरे प्रिये ।

सषष्टिशतत्रयकलनया मन्वन्तरकाल एव च ऐन्द्रस्थितिकाल: ।

एवमेवंविधैः-

चतुर्दशभिर्देवेशि कल्पो मन्वन्तरे भवेत् ।।२२२।।

४-कलियुग का सन्ध्या सन्ध्यांश सहित मान चार लाख बत्तिस हजार वर्ष का होता है ॥२१३-२१८॥

भगवान् कह रहे हैं मानव काल गणना के अनुसार युग युग का यही मान है । इसी मान के ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है ॥२१९॥

सन्ध्यामान से विहीन युगों के कारण 'मल' का मान होता है । दिव्यमान से होने वाले मान की कलना मन्वन्तर में भी की जाती है । ७१ चतुर्युगी में १२ हजार वर्ष की गणना दिव्यमान में करनी चाहिये ॥२२०॥

मन्वन्तर का लौकिक मान तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षों के बराबर होता है । पूर्वोक्त ३६० वर्षों की (२०४) गणना के अनुसार मन्वन्तर का समय ही इन्द्र की स्थिति का समय माना जाता है । इस प्रकार १४ चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प माना जाता है ॥२२१-२२२॥

मन्वन्तरसन्ध्यामानमाह–

मन्वन्तरे व्यतिक्रान्ते चान्यस्मिन्पुनरागते ।

पञ्च वर्षसहस्राणि मध्ये सन्ध्या भवेत्सदा ।।२२३।।

दिव्यानीत्यर्थात् ॥२२३॥

अयं तु विशेषः, यत्–

आदौ सहस्रं सर्वेषामन्ते चापि पुनस्तथा ।

ब्रह्मदिनगतमन्वन्तरापेक्षया आदावन्ते चेति प्रथममन्वन्तरस्यादौ चरममन्वन्तरस्यान्ते सहस्रमेकमधिकमिति ।

तदित्थं ससन्ध्याकालचतुर्दशमन्वन्तरकालः–

कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम् ।।२२४।।

कल्पते विश्वमस्मिन्निति कल्पः एकसप्तत्या चतुर्युगैश्च मन्वन्तरगुणितैः षड्भिरूनं चतुर्युगसहस्रं भवति । मन्वन्तरेषु सन्ध्याकालोऽप्युक्तनीत्या द्वासप्ततिसहस्र इति तदीयचतुर्युगषट्केन सहस्रमानमेतदुक्तम् ॥२२४॥

एक मन्वन्तर के और पुनः नये के आगमन पाँच हजार वर्षों की एक सन्ध्या होती है ॥२२३॥

ब्रह्मा के दिन के अनुसार मन्वन्तर की अपेक्षा आदि और अन्त की दृष्टि से प्रथम मन्वन्तर के आदि में और अन्तिम मन्वन्तर के अन्त में एक एक हजार वर्षों की गणना के अनुसार अधिक वर्षों की कलना करनी चाहिये ।

इस तरह सन्ध्या काल को लेकर १४ मन्वन्तरों का समय एक कल्प और ब्रह्मा का ब्राह्मदिन होते हैं । इसमें १००० एक हजार चतुर्युगी की सीमा निर्धारित है[१] । तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार मन्वन्तर के मान के आधार पर कल्प आदि की सीमा काम करती है ।

एकहत्तर चतुर्युगी को मन्वन्तर काल से गुणाकर ६ से भाग देने पर एक हजार चतुर्युगी होती है । मन्वन्तरों में युग सन्ध्या सन्ध्यंश भाग युक्त रहता है । यह संख्या बारह हजार वर्ष की होती है । मन्वन्तरीय छ चतुर्युगी से सहस्र युक्त मान सही बैठता है ॥२२४॥

---

१. श्रीमद्भा० ३।११।२२

एतच्च

वर्षमानेन दिव्येन पुनश्च कथयामि ते ।

संख्यातमिति शेषः । तदाह–

कोटिरेका तु वर्षाणां लक्षाणां चैव विंशतिः ।।२२५।।

दिव्येनैव तु मानेन ब्रह्मणस्तु दिनं भवेत् ।

द्वादश सहस्राणि सहस्रगुणितानि एवमेव भवन्ति ।

ईदृशस्य अस्य ब्राह्मदिनस्य–

षण्णवत्या सहस्रैस्तु सन्ध्याकालः प्रकीर्तितः ।।२२६।।

अष्टौ चतुर्युगानि षण्णवत्या वर्षसहस्रैर्भवन्ति । तत्र प्रातःसन्ध्यायां दिनशतानि चत्वारि चतुर्युगानि, सायंसन्ध्यायां चत्वारीति विभागः । निशाद्यन्तगतानि अप्येवमेवेत्यष्टयुगः प्रातः सायं च सन्ध्याकालः ।।२२६।।

एतच्च–

लौकिकेन तु मानेन अधुना कथयामि ते ।

सङ्ख्यातमिति शेषः । तदाह–

वर्षवृन्दानि चत्वारि त्वर्बुदत्रयमेव च ।।२२७।।

कोटिद्वयं च देवेशि दिनं पैतामहं स्मृतम् ।

सन्ध्या कोटित्रयं चैव पञ्च लक्षाणि कीर्तिता ।।२२८।।

चत्वारिंशत्तथा षष्टिः सहस्राणि तथैव च ।

षण्णवतिसहस्राणि सषष्टिशतत्रयकलितानि एवमेव भवन्ति । अतश्च यत् श्रीभुल्लकः–

'सन्ध्याकोटित्रयं लक्षाणि चतुःसप्ततिरेव च' ।

इत्यादि पठितवान्, तदुपेक्ष्यम् । यथा च अयम्–

वर्षमान के अनुसार एक करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन होता है । १२ हजार वर्ष का एक हजार दिव्यवर्षों का गुणनफल भी इतना ही होता है ।।२२५।।

ऐसे ब्रह्मा के एक दिन में ६९हत्तर हजार वर्ष की युगसन्धि होती है । इसमें ८ चतुर्युगी का समावेश हो जाता है । इसमें प्रातः संध्या चार युग चार सौ दिन की होती है और सायं संध्या में चार चतुर्युगी होती हैं । अर्थात् सायं प्रातः मिलकर ८ चतुर्युगी की गणना का कालखण्ड मान्य है ।।२२६।।

इसी लौकिक मान से चार वृन्द, तीन अर्बुद, दो करोड़ वर्षों का एक ब्राह्मदिन होता है । तीन करोड़ ४५ लाख वर्ष की सन्ध्या में ६० हजार वर्ष और

पश्चिमः सन्धिरेवं हि

सन्धिः सन्ध्याकालः । तथा–

पूर्वसन्ध्यापि तत्समा ।।२२९।।

तदित्थं ब्रह्मदिनावधिका–

नरकैः सह सप्तानां पातालानां तथा प्रिये ।
लोकानां चैव सप्तानां स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ।।२३०।।

लोकानां तन्निवासस्थानानां भूरादीनाम् । तथा एषामेव–

संहारं च पुनर्देवि शृणुष्व कथयामि ते ।
ब्रह्मणः स्वदिनान्ते वै कल्पः संहार उच्यते ।।२३१।।

स्वदिनान्त इति तन्निशायाम् । कल्प इति कल्प्यते छिद्यते अस्मिन् विश्वमिति कृत्वा । संहार इति संहारकालः ।।२३१।।

तत्र–

दिनेनैकेन ब्राह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश ।
राज्यं कृत्वा क्रमाद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया ।।२३२।।

प्रतिमन्वन्तरं राज्यं कृत्वा एकैक इन्द्रः स्वकर्मौचित्येन गच्छति ।।२३२।।

ततः संहरते विश्वं सप्तलोकान्तगोचरम् ।
सुप्ते पितामहे देवि ऊर्ध्वं कालाग्निरीक्षते ।।२३३।।

होते हैं । भुल्लक तीन करोड़ चौहत्तर लाख की मानते हैं जो ठीक नहीं । पूर्व और पश्चिम सन्ध्यायें भी बराबर की ही होती हैं ।।२२९।।

यह काल गणना नरक, पाताल और लोकों के काल की गणना समान ही मानी जाती है ।।२३०।।

ब्रह्मा के दिन की तरह ब्रह्मा की रात भी उतनी बड़ी ही लम्बी अवधि की होती है । इस तरह ब्रह्मा के दिन के अन्त में विश्व का संहार हो जाता है ।।२३१।।

एक ब्राह्म दिन में १४ इन्द्र अपने राज्यकाल को समाप्त कर प्रति मन्वन्तर कालखण्ड व्यतीत कर अपने कर्मों के औचित्य के अनुसार निवृत्त हो जाते हैं ।।२३२।।

चौदहों इन्द्रों के अपने कर्मानुसार चले जाने पर ब्रह्मा को अब नींद आने लगती है । उस समय ब्रह्मा विश्व को स्वात्म में ही समाहित कर लेते हैं ।

तत इति चतुर्दशेन्द्रान्ते। पशुवन्निद्रायमाणेन ब्रह्मणा जनितविस्मयो यावत्कालाग्निरूर्ध्वमीक्षते, तावत्सप्तलोकान्तगोचरं विषयजातं संहरति ॥२३३॥

अथ निरीक्षणसमये–

तस्य वै दक्षिणं वक्त्रं महाज्वालां विनिक्षिपेत् ।

अतश्च–

तस्माद्वक्त्रान्महाज्वाला लक्षयोजनविस्तृता ।।२३४।।
ऊर्ध्वं प्रयाति सा दीप्ता तीव्रवेगा सुदुःसहा ।

अत्र च अवसरे सप्तसु–

लोकेषु ये स्थिता लोका ये च पातालवासिनः ।।२३५।।
सुखदुःखोभये क्षीणे मोहं भूयिष्ठमागते ।
सत्तामात्रास्तु ते सर्वे भवन्ति ब्रह्मविष्टपे ।।२३६।।

ये चेति चशब्दान्नरकादिक्षेत्रगताः । ब्रह्मविष्टपे सत्यलोकोर्ध्ववर्तिनि ब्रह्मभुवने ॥२३६॥

कियदवधिका एषां मूढतेत्याह–

यावन्नोदयनं भूयः सुखदुःखादिकर्मणाम् ।
तावत्तिष्ठन्ति ते मूढा यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ।।२३७।।

सारे विश्व की विस्मय जनक स्थिति हो जाती है । सप्तलोक का यह अन्त ब्रह्मा की सुषुप्ति के कारण होता है । सबसे भयङ्कर स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब इधर ब्रह्मा सोते हैं और उधर कालाग्नि ऊपर अपनी क्रूर दृष्टि का निक्षेप करता है ॥२३३॥

उसके दाहिने मुख से महाज्वाला जाल लाखों योजन ऊपर जलता हुआ ऊपर की ओर चल पड़ता है ॥२३४॥

अत्यन्त तीव्र वेग से सुदुःसह दीप्तदाह के उद्वेग से ऊपर उठने वाली वह आग सभी लोकों में दिग्दाह पैदा कर कोहराम मचा देती है । आकाश और पाताल की प्रलय लीला में सब कुछ संहृत हो जाता है ॥२३५॥

सुख और दुःख दोनों दग्ध ! महामोह की मुमूर्षा भी मूर्च्छित हो जाती है । उस समय सत्तामात्र में सारे जीव ब्रह्म भुवन में, जो सत्यलोक से ऊपर व्यवस्थित है, उसमें अवस्थित हो जाते हैं ॥२३६॥

ये लोक ब्रह्मा के उठने तक वहीं रहने के लिये विवश होते हैं । उनमें सुखदुःखादि के भोग के अनुसार भाव जब तक उदय नहीं होते तब तक ये मूढ

सुखदुःखयोरादिशब्दाद् जन्मायुषोर्हेतुभूतानि कर्माणि, तेषाम्। उदयो विपाकः ॥२३७॥

ये तु–

रुद्रलोकाधिपतयः पातालपतयश्च ये ।

कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु ते तिष्ठन्त्यतिनिर्मलाः ॥२३८॥

न तु मनागपि म्लायन्ति ॥२३८॥

किन्तु–

निर्व्यापारास्तु ते तावद्यावत्सृष्टिः पुनर्भवेत् ।

निवृत्तानुग्रहादिव्यापाराः । अथ–

शून्यभूतेषु लोकेषु ज्वाला दहति दुर्धरा ॥२३९॥

सा दहेन्नरकान्देवि पातालानि समन्ततः ।

त्रींल्लोकांश्चैव दहति भूर्भुवःस्वःपदान्तिकान् ॥२४०॥

शून्यभूतेषु लोकेष्विति तन्निमित्तम्, नरकेभ्यः प्रभृति स्वर्लोकान्तं दहति ॥२४०॥

ये तु अन्ये, ते–

धूमेन च त्रयो लोका विनश्यन्ति वरानने ।

महोजनस्तपःसंज्ञाः सत्यलोकोऽपि सुव्रते ॥२४१॥

वहीं रहने को विवश होते हैं। कर्म विपाक के उदय से जन्म और आयु के उदय पर्यन्त वहाँ रहते हैं ॥२३७॥

ऐसी ब्रह्माण्ड की अव्यवस्था में भी रुद्र लोकों के भुवनेश, पातालाधिपति, कुष्माण्ड और हाटक आदि, निर्मल अम्लान अवस्था का आनन्द लेते रहते हैं ॥२३८॥

सृष्टि के पुनः प्रवर्त्तन की वेला की प्रतीक्षा करने की भावना भी मोह मुग्धता में समाप्त रहती है। तब तक लोकात्मायें निर्व्यापार ब्रह्मभुवन में ही पड़ी रहती हैं। इधर शून्यता के शिकार लोकों में दुर्धर दिग्दाह दहकता ही रहता है ॥२३९॥

उस समय भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! वह आग नरक और पातालों के साथ तीनों लोकों को भूर्भुवः स्वर्लोकों से उपलक्षित लोकों को भी क्षार करती ही रहती है ॥२४०॥

अन्य मह, जन और तपो लोक भी धूम राशि की धमक से ध्वस्त हो जाते हैं। सत्यलोक भी ब्रह्मा की सत्ता में समाहित रहता है। उसका भुवन भाव तो भस्म ही हो जाता है ॥२४१॥

पूर्वे च सर्वे–

तिष्ठन्ति मोहितात्मानो निद्रया ते मृतोपमाः ।

अथ–

एवं दग्ध्वा जगत्सर्वं ज्वाला वक्त्रं विशेत्पुनः ।।२४२।।

कालाग्नेर्दक्षिणमेव ।।२४२।।

ततो वान्ति महावाता ब्रह्मनिःश्वाससम्भवाः ।

ते च–

नाशयन्ति च तद्भस्म जगद्दाहोद्भवं प्रिये ।।२४३।।

अथ–

ब्रह्मप्रस्वेदजं वारि तज्जगत्प्लावयेत्पुनः ।
तेनैव वारिणा देवि जगदेकार्णवं भवेत् ।।२४४।।

कालवह्न्युष्मजोऽस्य प्रस्वेदः ।।२४४।।

अथ–

निशाक्षये पुनः स्थित्वा सुखदुःखफलोदये ।
कर्मतः सर्वलोकस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।।२४५।।
शून्यभूतां समालोक्य भगवान्प्रभुरिच्छया ।
षड्विधां कुरुते सृष्टिं यथापूर्वव्यवस्थया ।।२४६।।

सभी मोहितात्मा मोहनिद्रा में मुग्ध मूर्च्छा में ही पड़े रहते हैं । इस तरह सारे जगत् को जलाकर वह ज्वाला उसी कालाग्नि वक्त्र में समा जाती है । वह दक्षिण वक्त्र ही होता है ।।२४२।।

अब अग्नि के परम मित्र वायु वेग की वेला आ जाती है । ब्रह्मा के निःश्वास से उत्पन्न महावात विश्वदाहदग्ध अंगारों की राख को उड़ा लेते हैं । वातावरण उस भस्म से भर जाता है ।।२४३।।

इसके बाद ब्रह्मा को पसीना आ जाता है । उनके स्वेद से सृष्टि की शून्यता का अभिषेक होने लगता है । यही नहीं वह वारि महावारिधि का रूप ले लेता है । ब्रह्मा को पसीना कालाग्नि की ऊष्मा से होता है ।।२४४।।

अब वह अवसर आने वाला है, जब निशा का क्षय और सृष्टि के अरुणोदय की आभा से विश्व आलोकित हो सके । कर्म विपाक की सुखदुःखमयी फलवत्ता को ब्रह्मा विश्व फलक पर फैला सकें ।।२४५।।

यह फलोदय तो रात्रि के अन्त में ही होता है । अब ब्रह्मा अपनी निःशेष निद्रा की संस्कारशीलता को त्याग कर सावधान बैठ जाते हैं । अब सर्वसमर्थ

कर्मपरिपाकक्रमेण कर्मिणां सुखदुःखफलस्य उदयो यत्र तादृशे रात्र्यन्ते । स्थित्वा अनुपशान्तनिःशेषनिद्रासंस्कारो भूत्वा । कर्मतः परिपक्वादिच्छामात्रात् । षड्विधामिति नारकिस्थावरसरीसृपादिपश्वन्तां त्रिविधां क्रमात्क्रममपचितां तामसीम्, तमोरजःसमाविष्टां मानवीम्, रजःसत्त्वसमाविष्टां मौनीम्, सात्त्विकीं तु दैवीम् । व्यवस्थयेति भुवनादिमर्यादया ॥२४६॥

तत्र–

प्रथमां तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटान् ।

नरकान्विविधाकारान्

ततः अंशेन अंशेन तमसोऽनुत्कटत्वे–

पशून्वै स्थावरान्तगान् ॥२४७॥

पशूनिति सरीसृपपक्षिमृगपशूनित्यर्थः । ततोऽपि–

तमोरजःसमावेशान्मानवान्संसृजेत्पुनः ।

रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥२४८॥

एवमियत्पर्यन्तं ब्रह्मणः क्रमात्क्रमं निद्रासंस्कारस्य अधिकाधिकतरत्वम् ॥२४८॥

पितामह प्रभु अपनी कर्म विपाकमयी इच्छा के स्पन्दित होते ही छः प्रकार की सृष्टि का निर्माण करने में लग जाते हैं। ये छः प्रकार की सृष्टियाँ हैं। १–नारकीय २–स्थावर, ३–सरीसृप और ४–पशुभावमयी त्रिविध 'तामसी' तमस्+रजस् मयी 'मानवी' रजःसत्त्वमयी 'मौनी' और केवल सात्त्विक रूप 'दैवी'। इस तरह ३ तामसी+१मानवी+१मौनी+१दैवी कुल मिलाकर ३+१+१+१ =६ प्रकार की सृष्टि की रचना ब्रह्मा ने की। यह प्रक्रिया ब्रह्मा ने अपनी व्यवस्था के अनुसार अपनायी। यह भुवन मर्यादा की व्यवस्था मानी जाती है ॥२४६॥

तामसी सृष्टि तमोगुणमयी और बड़ी उत्कट होती है। अनेक प्रकार के नरकों की निर्मिति, स्थावरों और पशुओं की सृष्टि तामसी सृष्टि ही होती है ॥२४७॥

तमस्+रजस के समावेश से मानव सृष्टि होती है तथा राजस और सात्त्विक गुणों के मिश्रण से मौनी सृष्टि की संरचना विधाता करते हैं। इस प्रकार विधाता की निद्रा का संस्कार समाप्त और जागरण के संस्कार प्रस्फुटित हो जाते हैं ॥२४८॥

अथ–

गतनिद्रः प्रबुद्धस्तु सत्त्वनिष्ठो जगत्पतिः ।
सृजेद्देवान्सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ।।२४९।।

सह लोकैस्तन्निवासस्थानैर्वर्तन्ते ये तान् । एतच्च विशेषणं सिंहावलोकित-न्यायेन पूर्वत्रापि सम्बध्यते । पूर्वव्यवस्था पैशाचादिब्रह्मान्ता ।।२४९।।

इत्थं षड्विधायां सृष्टौ निष्पन्नायाम्–

ततो रुद्रेन्द्रसूर्येन्दुनक्षत्राणि ग्रहेश्वराः ।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति स्वे स्वे विषयगोचरे ।।२५०।।

पारमेशान्नियोगात्–

दिने दिने सृजत्येवं

ब्रह्मा । कालाग्निस्तु–

संहरेच्च दिनक्षये ।

अस्य च ब्रह्मणः–

दिनमानं च यत्प्रोक्तं रात्रिसंख्या च तावती ।।२५१।।

तदित्थम्–

अहोरात्रेण चानेन अब्दं वै पूर्ववत्स्मृतम् ।

शतत्रयेण षष्ट्यधिकेन ।

अब्दानां तु शते पूर्णे महाकल्पः स उच्यते ।।२५२।।

अब ब्रह्मा गतनिद्र हो चुके हैं । उन्हें प्रबुद्ध संज्ञा से भगवान् विभूषित करते हैं । सत्त्वनिष्ठ जगत्पति ब्रह्मा उनके लोकों के साथ उसी पूर्व व्यवस्था के अनु-सार देव सृष्टि की रचना करते हैं । यहाँ सिंहावलोकित न्याय की चर्चा अवसर के अनुकूल है ।।२४९।।

यह छः प्रकार की सृष्टि निष्पत्ति का क्रम है । इसके बाद ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, सूर्य चन्द्र, नक्षत्रों ग्रहों और इनके भुवनेशों की रचना, उसके अधिकारों की सीमा का निर्धारण और उनके विषयों की संरचना पर ध्यान देते हैं ।।२५०।।

ब्रह्मा अपनी सृजन प्रक्रिया में पूरी तरह तल्लीन रहकर प्रतिदिन अर्थात् निरन्तर सृजन शुरू कर देते हैं । इधर दिन क्षय पर कालाग्नि द्वारा महाविनाश की चर्चा भी की ही गयी है । यही सृष्टिसंहार का क्रम चलता रहता है । यहाँ ब्रह्मा के दिन और उनकी रातों की चर्चा भी की जा चुकी है ।।२५१।।

इसके साथ ही इनके अहोरात्र की भी चर्चा हो चुकी है । उसी क्रम से इनके अब्द और इनके समय की भी चर्चा की गयी है । १००वर्ष के पूर्ण होने पर ही नये महाकल्प की कलना की जाती है ।।२५२।।

ब्राह्मे वर्षशते देवि दिव्यान्यब्दानि मे शृणु ।
एकनवतिकोटिस्तु तथा लक्षाणि विंशतिः ।।२५३।।
तथा सप्तैव खर्वाणि निखर्वाष्टकमेव च ।
ब्राह्मं वर्षशतं चैतज्ज्ञातव्यं कालवेदिना ।।२५४।।

दिव्यवर्षमानेन ब्राह्ममहः सन्ध्याकालं विना सविंशतिलक्षा कोटिरेकेत्युक्तम्, रात्रिश्च तावतीति कोटिद्वयं सचत्वारिंशल्लक्षम् । एतद्दिनानां शतत्रयेण सषष्टिना गुणितमष्टौ वृन्दानि, षडर्बुदानि, चतस्रश्च कोटयो भवन्ति । सन्ध्याकालोऽपि षण्णवत्या सहस्रैर्य उक्तः, सोऽपि शतत्रयेण सषष्टिना कलितः संस्तिस्रः कोटयः, पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाणि, षष्टिः सहस्राणि भवन्ति । सोऽपि सायंप्रातर्भेदाद्द्विगुणः सन्कोटयः षट् लक्षाण्येकनवतिर्विंशतिः सहस्राणि भवन्ति । उभयं वृन्दान्यष्टौ, अर्बुदानि सप्ततिरेकनवतिर्लक्षाणि, विंशतिः सहस्राणि भवन्ति ८७०९१२०००० । एतदपि वत्सरसङ्ख्या शतेन कलितं निखर्वाण्यष्टौ खर्वाणि सप्त वृन्दस्थाने शून्यमेकनवतिः कोट्यो लक्षाणि विंशतिरिति ८७०९१२०००००० । इत्थमेषा यथोक्तैव सङ्ख्या भवति । एकान्ननवतिः कोट्य इति अपपाठः ।

तदित्थम्–

दैविकेन तु मानेन मानमित्थं प्रकीर्तितम् ।

अथ एतदेव–

लौकिकेन तु मानेन पुनश्चैव निबोध मे ।।२५५।।

ब्रह्मा के सौ वर्ष में दिव्य अब्दों के विषय में भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! दिव्य वर्ष के मान के अनुसार सन्ध्या के विना १ करोड़ २० लाख दिन का होता है । इतनी ही बड़ी रात मिलाकर २ करोड़ ४० लाख दिन का एक अहोरात्र होता है । इनके मान के तीन सौ साठ दिन से गुणा करने पर ८ वृन्द ६ अर्बुद चार करोड़ होता है । इसका सन्ध्याकाल भी ९६ हजार दिनों का होता है । यह भी ३६० से गुणित करने पर तीन करोड़ ४५ लाख साठ हजार होते हैं । यह भी सन्धि भेद से दुगुना करने पर ६करोड़ ९१ लाख २० हजार वर्ष होता है । दोनों मानों के मेल ८ वृन्द ७० अर्बुद (अरब) ९१ करोड़ २० हजार की संख्या होती है । यह वर्ष की सौ संख्या से गुणा करने पर आठ निखर्व सात वृन्द ९१ करोड़ २० लाख होते हैं । ८७०९१२०००००० की यह एक उक्त संख्या का मान है । यह ब्रह्मा के सौ वर्ष का मान है ॥२५३-२५४॥

इस तरह लौकिक और देव मान में महान् अन्तर पड़ता है । लौकिक मान के अनुसार अप्रकल्प्य आकलन करना पड़ता है ॥२५५॥

तद्यथा–

द्वात्रिंशदब्दकोट्यस्तु तथा खर्वाष्टकं प्रिये ।

खर्वद्वयं च देवेशि निखर्वाः पञ्च एव तु ।।२५६।।

शङ्कुत्रयं पद्ममेकं सागरत्रयमेव च ।

पूर्वोक्तैकनवतिकोट्या दैविकमानकलितस्य ब्राह्मवर्षशतस्य लौकिकवत्सरमानेन षष्टिशतत्रयकलनया उक्तैव सङ्ख्या आयाति । यत्तु श्रीभुल्लकः–

'........थाब्दकोट्यस्तु एकं चैवार्बुदं प्रिये ।

खर्वाशीतिस्तथा चैव निखर्वाणां च पञ्चकम् ॥

चतुष्टयं च शङ्कुनां त्रिंशत्सागर एव च' ।

इति अपठत्, तदसङ्गतत्वादुपेक्ष्यमेव ।

इत्थं लौकिकाब्दमानेन–

एतद्देवि समाख्यातं ज्ञातव्यं च मुमुक्षुभिः ।।२५७।।

महाकाल्पान्तावस्थितिदाय्यपि ब्राह्मं पदं संह्रियमाणत्वात्पर्यन्तविरसम्, एवं वक्ष्यमाणनीत्या अनाश्रितान्तमपीति सर्वथा स्वस्तिस्वप्नोपमेभ्यो भोगेभ्य इति

---

९१ करोड़ दैविक मान वाले ब्राह्म सौ वर्ष का लौकिक वत्सर मान ३६० से गुणा करने पर जो मान ऊपर आया हुआ है, वही मान होगा । भुल्लक ने इसे ३० सागर ४ शङ्कु ५ निखर्व ८० खर्व १ अर्बुद सौ करोड़ की संख्या का मान कहा है । वह क्षेम की दृष्टि में उपेक्ष्य है ।

भगवान् कह रहे हैं कि, इस गणना से परिचित होना आवश्यक है । इतनी महान अब्द राशि के समक्ष मनुष्य की क्या विसात फिर भी वह इस छोटी आयु में कितने कुकर्म और दुष्कर्म करता है । इस पर विचार करने से मनुष्य के मन में वैराग्य की एक किरण अवश्य ही उद्दीप्त हो सकती है । इसीलिये भगवान् ने मुमुक्षुओं के लिये इसे हितकर कहा है ।

काल की इस कलना में यह स्पष्ट हो जाता है कि, जगत् में स्थिति की सीमा महाकल्प पर्यन्त है । ब्रह्मा पद संह्रियमाण होने के कारण यह स्थिति अन्त में विरस हो जाती है । इसीलिये अनाश्रित पर्यन्त सर्वथा सुखस्वप्नोचित भोग अन्त में भीषण कर्म विपाक में डालने के कारण इनमें रच पच जाने की प्रक्रिया से अपने जीवन को नष्ट कर डालना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

इससे करोड़ों गुना अच्छा है कि, दिक्, काल और आकार में कलित ललित रूप से अनुभव में आने वाले चिद्घन पर भैरव स्वरूप की समापत्ति जैसे

मत्वा दिक्कालाकाराकलितचिद्घनपरभैरवस्वरूपसमापत्तिरेव मुमुक्षुभिराश्रयणीयेति तात्पर्यम् ॥२५७॥

उपसंहरति–

एतल्लौकिकमानेन ब्राह्ममब्दशतं स्मृतम् ।

उक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्या एकादिपरार्धान्तायाः सङ्ख्यायाः क्रमेण रूपं लक्षयति–

एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ॥२५८॥
शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ।
सहस्रं दशगुणितमयुतं तद्धि कीर्तितम् ॥२५९॥
दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि च ।
दश तानि च कोटिः स्याद्दश कोटिस्तथार्बुदम् ॥२६०॥
अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ।
दशभिस्तैर्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद्दश तानि तु ॥२६१॥
शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ।
सागरैर्दशभिर्मध्यमन्त्यं तैर्दशभिः स्मृतमृ ॥२६२॥
अन्त्यं दशाहतं कृत्वा परार्धं परिकीर्तितम् ।

उपसंहरति–

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु ॥२६३॥

भवन्तीति शेषः ॥२६३॥

भी प्राप्त की जाय । यही तात्पर्य है कि, भगवान् ने इसे मुमुक्षुओं के लिये हितकर कहा है ॥२५७॥

इस तरह दिव्य और लौकिक दोनों विधाओं के अनुसार ब्रह्मा के सौ वर्षों का मान दिग्दर्शित कराया गया है । अब उसी गणना में प्रयुक्त संख्याओं की एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या-संज्ञाओं का सनामोल्लेख कथन किया जा रहा है ।

१ में दश का गुणन १० । दश में दश का गुणनफल सौ । सौ में दश का गुणनफल सहस्र । सहस्र में दश का गुणित कर अयुत । दश अयुत लक्ष, दश लक्ष नियुत । दशनियुत कोटि । दशकोटि अर्बुद । दश अरब वृन्द । दश वृन्द=निखर्व, दश निखर्व शङ्कु । दश शङ्कु पद्म । दश पद्म सागर, दश सागर मध्य और दश मध्य अन्त । दश अन्त परार्ध होता है । यह अठारह प्रकार की दश गुणित कलना है । इसी में पूरा भारतीय गणित आ जाता है ॥२५८-२६३॥

एवं प्रसङ्गात्सङ्ख्यास्वरूपमुपदर्श्य प्रकृतमाह–

महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम् ।

अवृत्तपरशक्तिपात: परे इति सापेक्षतया प्रकृष्टे समनन्तरे कारणे लीयते, वृत्तपरशक्तिपातस्तु परमशिवे–

...........परस्मिन् ब्रह्मणि व्रजेत्' ।

इति पूर्वग्रन्थेऽयमेव आशय: । एवमुत्तरत्रापि अनुसर्तव्यम् ।

यश्च अयमेवमुक्तौ महाकल्प:–

विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ।।२६४।।

ब्रह्माण्डानुविषयलोकस्थस्य ॥२६४॥

किञ्च–

अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते ।

अह्नां चैव शतत्रयेण सषष्टिना ।

वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽपि याति परे लयम् ।।२६५।।

इत्थम्–

विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं भवेत् ।

रुद्रलोकस्थस्य । स च–

दिने दिने सृजत्यन्यौ ब्रह्मविष्णू प्रजापती ।।२६६।।

प्राक्सृष्टयो: परब्रह्मणि लयादन्यं विष्णुं सृष्ट्वा, तन्मूर्त्याविष्टो ब्रह्माण-मप्यन्यं सृजतीत्यर्थ: ।

महाकल्प के पर्यन्त भाग में ब्रह्मा का लय उनसे अपेक्षित प्रकृष्ट रूप में हो जाता है । कार्य का लय कारण में होता है । ब्रह्मा का कारण परमशिव ही माना जाता है । लिखा भी है कि,

'परस्मिन् ब्रह्मणि व्रजेत्' अर्थात् प्रकृष्ट ब्रह्म रूप परम शिव में लय हो जाता है । परशक्तिपात जिस पर हो चुका है, ऐसा व्यक्ति परशिव के अतिरिक्त जा भी कहाँ सकता है ? इसी परिपाटी का अनुसरण इस प्रक्रिया में किया जाता है । यह महाकल्प ही विष्णु का एक दिन और उतनी ही बड़ी रात भी होती है । उन्हीं तीन सौ साठ दिव्य दिनों का एक वर्ष होता है । सौ वर्षों के पूरा होने पर विष्णु का भी विलय पर शिव में हो जाता है ॥३६४-२६५॥

विष्णु की पूरी आयु का मान रुद्र के एक दिन के बराबर होता है । रुद्र लोक में इतने बड़े दिन होते हैं । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि, ब्रह्मा के लय होने पर विष्णु के दिन के प्रारम्भ में क्या ब्रह्मा का अस्तित्व नहीं रहता ?

युक्तं च एतद् यस्मात्–

ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता ।

यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते ।।२६७।।

चो भिन्नक्रमः । पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी च शक्तिर्यमात्मानं पुद्गलमधितिष्ठत्यधिकुरुते, स आत्मा तत्संज्ञामिति ब्रह्मत्वं विष्णुत्वं च प्राप्नोतीत्यर्थः ।।२६७।।

प्राप्य च तद्रूपत्वमसौ–

तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।

परमात्मनो निर्णीतस्वरूपस्य परमशिवस्य, न तु परेच्छाधिष्ठितोत्तरोत्तरकारणस्य इच्छया ।

या विष्णु के लीन हो जाने और रुद्र के दिन के प्रारम्भ में क्या विष्णु का अस्तित्व नहीं रहता ? इसी का उत्तर दे रहे हैं कि, दिन के प्रारम्भ में विष्णु अपनी मूर्त्ति में आविष्ट नये ब्रह्मा को प्रजापति रूप में सृष्ट कर लेते हैं । विष्णु के लीन होने पर विष्णु में आविष्ट ब्रह्मा भी लीन हो जाते हैं । इसके बाद जब रुद्र का दिन आता है, तो अपने स्वात्म में आविष्ट विष्णु और ब्रह्मा को पुनः प्रजापति के रूप में सृष्ट कर लेते हैं । होता यह है कि, ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियाँ रुद्र में ही अधिष्ठित रहती होंगी । रुद्र जिस समय प्रजापतियों के रूप में नयी सृष्टि की योजना करते होंगे, तत्काल ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियों में स्वाभाविक उल्लास होता होगा । उस समय रुद्र उन्हें अपना अधिकार सौंपते होंगे । ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियाँ किसी विज्ञानाकल की प्रबुद्ध आत्मा का वरण करती होंगी और इन प्रजापतियों के साकार विग्रहों का सर्जन हो जाता होगा । इसी बात को इस श्लोक में लिखा है कि, जिस आत्मा को ये अपना अधिष्ठान बनाती होंगी वही ब्राह्मी वाला ब्रह्मा और वैष्णवी का वरण किया हुआ आत्मा विष्णु के रूप साकार होगा । ब्रह्मा, विष्णु के प्रकृष्ट पररूप में विलीन होने और ब्राह्मी, वैष्णवी शक्तियों के वरण करने पर ब्रह्माविष्णु के साकार विग्रह बन जाते हैं । यह विस्मयजनक सृष्टि प्रक्रिया केवल इसी शास्त्र का आविष्कार है और यह तर्क की कसौटी पर खरा उतरने वाली प्रक्रिया है ।।२६६-२६७।।

इस संज्ञा को प्राप्त करते ही वह भाग्यशाली आत्मा परमात्मा की इच्छा से अपना काम ज्यों का त्यों सम्भाल लेता है । इस रहस्य का ज्ञान किसी को शायद ही होता होगा । यह किसी कारण की इच्छा नहीं होती वरन् परम शिव की इच्छा का ही यह कार्यान्वयन है । परमेश्वर की इच्छा इन्हीं दो प्रजापतियों तक सीमित नहीं रहती वरन् इन दोनों के अतिरिक्त इसी इच्छा से ऊपर से नीचे तक के सभी

यथा च ब्रह्मविष्णू पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी, शक्तिः परमार्थतः तथा विश्वमिदं पारमेश्वरशक्तिमयमेवेत्याह–

ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राश्च विद्येशा ईश्वरस्तथा ।।२६८।।
लोकाधिपाश्च देवेशि तथा च भुवनाधिपाः ।
ग्रहादिमातरो रुद्रा योगनक्षत्रराशयः ।।२६९।।
शक्तियुक्तास्तु ते सर्वे भवन्ति तदधिष्ठिताः ।
तत्पराक्रमवीर्यास्तु स्वकीये तु पदे स्थिताः ।।२७०।।

लोकाधिपा इन्द्राद्या लोकपालाः । ग्रहादयश्च मातरश्चेति द्वन्द्वः, मातरो ब्राह्मयाद्याः । योगाः सुनफाद्या ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धाः । ते सर्वे इति उक्तास्तया परमेश्वरेच्छया अधिष्ठिताः सन्तः शक्तियुक्ता निजनिजसामर्थ्यभाजो भवन्ति ।।२७०।।

पूर्वं ब्राह्मया वैष्णव्या च अधिष्ठितत्वं ब्रह्मविष्ण्वोरुक्तम्, इदानीं तु ब्रह्मादिभिरपि सह सर्वेषां परशक्त्यधिष्ठितत्वमतश्च सर्वमिदं जगत्–

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि भेदैरानन्त्यसम्भवैः ।।२७१।।

पद संचालित होते हैं, वही कह रहे हैं । भगवान् भैरव के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, विश्वेश्वर, ईश्वर, लोकाधिप (लोकपाल) भुवनेश्वर, ग्रह आदि, ब्राह्मी आदि, मातृकायें, रुद्रलोक वासी सभी रुद्र, सारे योग, सभी नक्षत्र, राशियों से सभी अपनी अपनी शक्तियों से मुक्त होकर उस पद पर अधिष्ठित होकर वही संज्ञायें प्राप्त कर लेती हैं और अपने कार्यों का सम्पादन करने लगती हैं । वही पराक्रम, वही बल और वही वीर्यात्मक शाक्त सामर्थ्य लेकर ही अपने पद पर अवस्थित होते हैं और हैं । योग ग्रह, नक्षत्र और राशियाँ ये सब ज्योतिःशास्त्रीय विषय हैं । उक्त सभी पदों पर अधिष्ठित पदासीन शक्तिमन्त परमेश्वर की इच्छा के अधीन ही अपने अपने प्राप्त सामर्थ्य के बल पर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं ।।२६८-२७०।।

इस तरह यह सारा जगत् एक मात्र परमशिव की इच्छा शक्ति पर निर्भर है, यह सिद्ध हो जाता है । सबका पर शक्त्यधिष्ठितत्व स्वयं सिद्ध है । यही कह रहे हैं–

परमशिव की ही यह महाशक्ति है । इसे ही इच्छा शक्ति या स्वातन्त्र्य की संज्ञा से विभूषित करते हैं । इसी तरह इस शक्ति से ही शक्तिमान् शिव अनादिदेव ही सबके आराध्य हैं । यही इनकी इच्छा शक्ति ही अनादिमती चिन्मयी शक्ति

महती स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः । शिवः प्रकाशानन्दघनः श्रेयोरूपः । चकारात् शक्तिरपि एका अद्वितीया अनादिमती च भेदैर्नानावैचित्र्यैर्भिद्यते ग्राह्यग्राहकाद्याभासतया स्फुरति ।

शिवशक्त्यद्वयमयतां प्रासङ्गिकीमुक्त्वा प्रकृतमाह–

एवं वै कुरुते सृष्टिं रुद्रश्चैव दिने दिने ।

संहारं च दिनान्ते वै

सा च संसाररूपस्य–

रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ।।२७२।।

दिनरात्रिसाम्यमेव ईश्वरेच्छातः सूर्यसोमसञ्चारादिति टीकाकारमतमसमञ्जसं तत्तद्भुवनतदीश्वरप्रभाभास्वरेषु ब्रह्मादिलोकेषु सूर्यादीनां प्रकाशकत्वेन क्वापि अश्रुतत्वात् ॥२७२॥

इत्थम्–

दिनरात्रिप्रमाणेनानेन स्याद्वत्सरोऽस्य च ।

अस्येति रुद्रस्य ।

वत्सराणां शते पूर्णे शतरुद्रदिनक्षयात् ।।२७३।।

सोऽपि याति परं स्थानं यद्गत्वा निष्कलो भवेत् ।

रौद्रं वर्षशतं शतरुद्राणां दिनम्, क्षयः पर्यन्तः ।

ही नाना प्रकार के विश्वात्मक प्रसार में ग्राह्य ग्राहकादि अनन्त आभासों में भासमान होती है । प्रकाशानन्दघन परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति का यह सारा विश्वविलास इस प्रकार उल्लसित है ॥२७१॥

प्रकरण रुद्र के दिनोदय का था । उसी उक्त प्रकार से रुद्र भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं । अपने दिन के अन्त में संहार की भी वही प्रक्रिया अपनाने के लिये भी बाध्य हैं । संहार के समय की वह महा असीम समयावधि रुद्र की रात्रि मानी जाती है और रुद्र के दिन के बराबर ही यह रात भी होती है । दिन और रात्रि का साम्य भी परमेश्वर स्वातन्त्र्य का ही परिणाम है । सूर्य और सोम के संचार का क्रम केवल मृत्युलोक में होता है । महः जनः तपः सत्यम् के साथ ब्रह्मा, विष्णु रुद्रादिलोकों में इनका संचार शास्त्र में वर्णित नहीं है ॥२७२॥

दिन और रात दोनों के प्रमाणों के अनुसार ब्रह्मा के प्रकरण में वर्णित दिव्यमान के अनुसार ही इनके वत्सर भी होते हैं । रुद्र वर्षों के सौ साल पूर्ण हो जाते हैं तो यह शतरुद्रों का एक दिन होता है । जब इसका क्षय होता है, तो

तदन्ते च–

तस्मिन्स्थाने पुनश्चान्यस्तत्समश्च प्रभुर्भवेत् ।।२७४।।
रौद्रशक्तिसमायोगाद्ब्रह्मविष्ण्विन्द्रनायकः ।

तदित्थमहोरात्रादिकलनया–

शतरुद्रास्तु देवेशि स्वाब्दानां तु शतक्षये ।।२७५।।
ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोऽण्डं तु विनश्यति ।

शतरुद्रजीवितावधिर्ब्रह्माण्डस्थितिकाल इत्यर्थः ।

कीदृगण्डमित्याह–

सर्वभूतगुणाधारं सर्वतत्त्वालयालयम् ।।२७६।।
सपर्वतवनोद्यानद्वीपसागरमण्डितम् ।
विमानमालाकुलितं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ।।२७७।।
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
ऋषिभिर्मानुषाद्यैश्च सप्तलोकनिवासिभिः ।।२७८।।

शतरुद्र भी परमशिव में लीन हो जाते हैं । वहाँ जाकर इसे भी निष्कलत्व की उपलब्धि हो जाती है । उनके स्थान पर उनके समान ही रौद्रशक्ति समावेश के आधार पर कोई दूसरा शक्तिमन्त उसका प्रभु हो जाता है ॥२७३-२७४॥

वह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रेन्द्रों का भी नायक माना जाता है । शतरुद्र भी अपने दिव्य सौ वर्ष पूरा कर परमशिव रूप सर्वान्त तत्त्व में विलीन हो जाते हैं । इस विलय के बाद अण्ड प्रलय भी हो जाता है । अर्थात् पार्थिवाण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड के बाद शैवस्वातन्त्र्य शक्ति से पूर्ण जो शक्त्यण्ड है, यह भी समाप्त हो जाता है । अण्डों की समाप्ति का यह स्वरूप अप्रकल्पनीय है । अब केवल शिवाण्ड रूप पाँचवाँ शाश्वत अण्ड ही बचा रहता है ॥२७५॥

अण्डस्वरूप की चर्चा कर रहे हैं । यह समस्त भूतमान का गुणाधार होता है । सभी तत्त्वों की तात्त्विकता का आलय होता है । सभी पर्वत, वन, उद्यान, द्वीप, सागर इन्हीं अण्डों के अवयव रूप होते हैं । इसमें दिव्य देवविमानों की व्याप्ति (भरी पूरी जमात) होती है । सारे ग्रह और नक्षत्र इन्हीं अण्डों के अन्तराल में अवस्थित होते हैं । देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विधाधर, उरग, ऋषि-मुनि, मनुष्य अधिक क्या कहा जाय सातों लोकों चौदहों भुवनों के जीव इसी में जीवन का वरदान प्राप्त करते हैं । नरक और पातालादि भुवनों से भरा होता है । इसी में पाण्डित्य और शौर्यादि गुण भी गणनीय होते हैं । षट्त्रिंशत्तत्त्वमय

नरकैश्चैव पातालैर्युक्तं भुवनमण्डितम् ।

सर्वेषां भूतानां पृथ्व्यादीनाम्, गुणानां च शब्दादीनाम्, भूतगुणानां च पाण्डित्यशौर्यादीनामाश्रयः, तथा सर्वतत्त्वालयानां षट्त्रिंशत्तत्त्वमयानां नाना-शरीराणामालयो निवासरूपः ।

ईदृशं च–

अशेषभुवनाधारमण्डमप्सु प्रलीयते ।।२७९।।

एवं च यथोत्पादं तत्त्वानि स्वकारणेषु लीयन्ते । यदद्वयति–

'आपस्तेजसि लीयन्ते............'। (११।२८४) इत्यादि ॥२७९॥

इत्थं शतरुद्रान्तायां स्थितौ संहृतायां ब्रह्माण्डोर्ध्वाधरकर्परिकोपरिवर्ती संहर्तृरूपः–

ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत् ।

अशेषविश्वकलनाकारित्वात्कालश्च असौ तत्त्वं च तदिति कालतत्त्वमकाल-कलितः परमेश्वरः ।

विश्व का उल्लास इसी में विलसित होता है । इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, अशेष भुवनों और लोकालोकों का यही आधार होता है । यह अण्ड अप् तत्त्व में विलीन हो जाता है । और अप् भी तेज में, तेज भी वायु में वायु भी आकाश में और इसी क्रम में सारे तत्त्व उत्तरोत्तर तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं । ११।२८४ में भी यह बात कही गयी है ॥२७६-२७९॥

शतरुद्रों के अन्त पर्यन्त जिस प्रकार की स्थिति बनी हुई थी, उसके संहतहो जाने पर ब्रह्माण्ड की ऊर्ध्व और अधर कर्परिकाओं के ऊपर संहर्त्ता रूप कालाग्नि रुद्र काल तत्त्व में विलीन हो जाते हैं । अशेष विश्व की कलना के कर्त्ता भगवान् के आज्ञाकारी शक्तिमन्त काल में विलीन हो जाते हैं । यहाँ काल के साथ तत्त्व शब्द के प्रयोग के आधार पर आचार्य क्षेमराज ने काल भी और तत्त्वरूप भी यह विग्रह बनाकर अकाल कलित परमेश्वर अर्थ ही स्वीकार किया है । इस तरह कालाग्नि रुद्र का विलय काल तत्त्वरूपी अकाल कलित परमेश्वर अर्थ ही लिया गया है ।

यदि ऐसी बात है, तो अप् आदि तत्त्वों का संहार कौन करता है ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, अप् तत्त्व से लेकर माया तत्त्व पर्यन्त समस्त ३१ तत्त्वों का संहार स्वयं काल ही करता है । यह जगत् के इस चराचर रूप

यद्येवम्, अबादितत्त्वसंहारं कः करोतीत्याशङ्क्य आह–

अप्तत्त्वात्तु समारभ्य यावन्मायान्तगोचरम् ॥२८०॥
तत्सर्वं संहरेत्कालः स्वयमेव चराचरम् ।

काल इति अशेषविश्वकलनः परमेश्वर एव ऊर्ध्वोर्ध्वभुवनेशमूर्तिमाविश्य अधोऽधोवर्तितत्त्वसंहारं क्रमेण करोतीत्यर्थः । एतच्च अग्रे व्यक्तीभविष्यति ।

शुद्धेऽध्वनि कः संहर्तेत्याह–

तदूर्ध्वे शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम् ॥२८१॥
तत्सर्वं संहरेद्घोरमघोरो घोरनाशनः ।

शक्त्यन्तस्य अध्वनो घोरमिति विशेषणाद् मायादिक्षित्यन्तस्य घोरतरत्वमिति अर्थादवगतम् । न विद्यते घोरं भेदसंसृष्टं रूपं यस्य सोऽघोर इत्ययमर्थो घोरनाशन इत्यनेन व्याख्यातः । अत्रापि च यथोत्तरमीश्वरसदाशिवादितत्त्वेश्वरमूर्त्याविष्ट एव अघोरभट्टारकः अधराधरतत्त्वं संहरतीत्यर्थो वक्ष्यमाणग्रन्थसङ्गत्या बोद्धव्यः ।

प्रसङ्गागतं संहर्तृविचारमुपसंहरति–

त्रिष्वेवं संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः ॥२८२॥

त्रिषु पृथ्वीमायाशक्त्यन्तेषु पदेषु । एवमिति संहर्तृतया । रुद्र इति कालाग्निरुद्रो भुवि, कालरूपी मायान्तं पदं कलयन्ननन्तभट्टारकः, शक्त्यन्तेषु महेश्वरः ।

को भी संहृत कर लेता है । अर्थात् अशेष विश्व के कलन कर्त्ता परमेश्वर ऊर्ध्व ऊर्ध्व भुवनेश मूर्त्तियों में आविष्ट होकर अधो अधोवर्त्ति तत्त्वों का संहार क्रम पूर्वक वही करते हैं ॥२८०॥

इसके ऊपर शुद्ध अध्वा का क्षेत्र आता है । भगवान् कह रहे हैं कि, इसके ऊपर शुद्ध अध्वा का जो क्षेत्र शक्ति पर्यन्त है, इसका संहार तीन शक्तिमन्त करते हैं । १–घोर, २–घोरतर और ३–अघोर । माया से क्षिति पर्यन्त का संहार घोरतर करते हैं । शक्त्यन्त अध्वा का संहार घोर करते हैं और अघोर परमेश्वर के विषय में कह रहे हैं कि, वे तो घोर के नाशक हैं । उस समय घोर सृष्टि की समाप्ति हो जाती है । सारा भेदवाद अभेद अद्वय तत्त्व में समाहित हो जाता है । यथोत्तर ईश्वर, सदाशिव और शक्त्यन्त तत्त्वेश्वर मूर्त्ति में आबिष्ट अघोर भैरव भट्टारक अधराधर तत्वों का संहार करते हैं ।

इस तरह पृथ्वी माया और शक्त्यन्त पदों में संहर्त्ता रूप से कालाग्निरुद्र पृथ्वी का, काल रूप मायान्त पद का और शक्त्यन्त का महेश्वर रूप से संहार

अथवा एको महेश्वरो रोदनद्रावणकारित्वाद्रुद्रस्त्रिषु पदेषु कालरूपी संहर्ता कालाग्निरुद्रादिवैचित्र्येण स्थित हत्यर्थः ॥२८२॥

एवं प्रासङ्गिकमर्थमुपसंहृत्य प्रकृतमनुसरति–

ततः संहरते तोयममरेशशतात्यये ।

तेजस्तत्त्वाधिष्ठितो रुद्रः अमरेशसम्बन्धिवर्षशतसङ्ख्यातस्वदिनान्ते तोयं जलतत्त्वं संहरतीत्यर्थः । अमरेशस्य च शतरुद्रायुष्कालपरीमाणं दिनमिति तदनुसारेण प्राग्वद्वर्षम्, तच्छतमायुस्तदपि तेजस्तत्त्वाधिपतेर्दिनमित्यादि उत्तरोत्तरं क्रमेण अनुसरणीयम् । 'अमरेशः शतात्यये' इति अपपाठः स्वशतात्यये तस्य संहर्तृत्वायोगात्तदधरवर्तिशतरुद्रात्ययेऽपि तोयतत्त्वसंहाराभावात् ।

तदेव आदिशति–

एवं भूताद्यावरणपतयश्च शतात्यये ।।२८३।।
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम् ।

भूततन्मात्राद्यावरणेश्वरा यथोत्तरमैश्वराणि अधराधरतत्त्वानि तदीश्वरसम्बन्धिवर्षशतान्तरूपे स्वदिनान्ते संहरन्ति, पुनस्तावत्कालस्वरात्र्यन्ते अन्यानि सृजन्ति । क्वचित्तु–

करते हैं । अथवा एक ही महेश्वर रोदन और द्रावण युक्ति से तीनों पदों का काल बन संहार करते हैं । एक ही परममहेश्वर अपने स्वातन्त्र्य सामर्थ्य से सबका संहार करते हैं ॥२८१-२८२॥

तेजस्तत्त्व में अधिष्ठित रुद्र अमरेशों के सौ वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद तोयतत्त्व का शोषण रूप संहार कर लेते हैं । शतरुद्रों के आयु के बाराबर ही अमरेश का दिन होता है । इसी गणना के अनुसार इनका भी होता है और आयु भी सौ वर्ष की ही होती है । उस समय तेजस्तत्त्वाधिपति का दिन होता है । अमरेश के अधोवर्त्ती शतरुद्र होते हैं । अतः शतरुद्रों के सौ वर्ष बीतने के बाद ही अमरेशों का क्रम आता है, और अमरेशों के सौ वर्ष बीतने के बाद ही तेजस्तत्त्वसे तोय का संहार होता है । अमरेश स्वयं संहार नहीं करते ।

इसी तरह भूत तन्मात्र आदि के आवरणेश भी इसी तरह उत्तरोत्तर शतवर्षीय आयु के अनन्तर और अधिकारेशमय अधर अधरतत्त्वों और उन उन तत्त्वेशों के सौ वर्ष पूरा होने पर अपने दिवसों के प्रारम्भ पर अधराधर का संहार कर लेते हैं ॥२८३॥

एक पक्ष कहता है कि, भूतपत्तियों के सौ वर्ष पूरा हो जाने पर और अपने नैष्कल रूप में विलीन हो जाने पर सृजन और संहार का यह क्रम शाश्वत चलता

'एवं भूतपतीनां तु प्राप्ते वर्षशतात्यये ।
यातैस्तैर्निष्कलस्थानं ततो भूतानि शाङ्करि ॥
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम्' ।

इति पाठः । अत्रापि यथोत्तरमधराधरगतानि तत्त्वानीति व्याख्येयम् ।

तत्त्वानां परस्परलयात्मकं संहारं स्फुटयति–

आपस्तेजसि लीयन्ते तत्तेजश्चानिले पुनः ॥२८४॥
तथानिलोऽम्बरं प्राप्य सह तेनैव लीयते ।
तन्मात्रेषु प्रलीयन्ते यथोत्पन्नानि च क्रमात् ॥२८५॥
तन्मात्राण्यप्यहङ्कारे सेन्द्रियाणि यथाक्रमम् ।
स बुद्धौ सा च गहने गुणसाम्ये प्रलीयते ॥२८६॥
गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।
तस्मिञ्जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति ॥२८७॥

स तेनैव लीयत इति तेन अन्तःकृतपृथिव्यप्तेजोरूपतत्त्वत्रयेण वायुना सह व्योम लीयते । क्व लीयत इत्यत आह तन्मात्रेषु इति । प्रलीयन्त इति बहुवचनस्य प्रशब्दस्य च अयमाशयः–यद् व्योम तल्लीनानि पृथिव्यप्तेजोवायुतत्त्वानि स्व-कारणेषु तन्मात्रेषु प्रकर्षेण लीयन्ते, तन्मयानि भवन्ति । यथोत्पन्नानीति एकत्वादि-क्रमेण यथा जातानि, तथैव । तेन पृथ्वी तन्मात्रापञ्चके, आपश्चतुष्टये, तेजस्तत्त्रये, वायुस्तद्द्वये, व्योम शब्दतन्मात्रे, गन्धो रसतन्मात्रे, तथा उपस्थः पायौ, पायुः

रहता है । इस पाठ के अनुसार भी वास्तविक निहितार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता । वरन् इसी तरह जैसे अप् तत्त्व तेज में विलीन हो जाता है, उसी तरह तेज भी अनिल में विलीन हो जाता है ॥२८४॥

इसी क्रम में वायु अम्बर में विलीन हो जाता है । अम्बर तन्मात्र में लीन होता हैं । जैसे क्रम से उत्पन्न हुए थे, उसी क्रम से विलीन भी होते हैं ॥२८५॥

सेन्द्रियतन्मात्रायें अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में और बुद्धि प्रधानतत्त्व रूप गहन त्रिगुण साम्य में विलीन हो जाती है । इसके बिलीनीकरण का जो क्रम है, वह बड़ा विचित्र है । इसे ध्यान पूर्वक समझना चाहिये ॥२८६॥

जहाँ तक गुण साम्य की बात है, यह पृथ्वी से बुद्धित्त्वपर्यन्त समस्त तत्त्वव्रात प्रकृति में विश्रान्त हो जाता है । इस अवस्था में सारा जग प्रगाढ निद्रा से मुग्ध घोर मूर्च्छा में बेहोश पड़ा रहता है ।

इस तरह प्रधान तत्त्व अपने, अनिर्देश्य, अप्रतर्क्य, अनौपम रूप में विद्य-मान रहता है । जैसे व्योम में सारे भूत अन्तर्हित रहते हैं उसके बाद ही वह सभी

पाणावित्यादिक्रमोऽनुसर्तव्यः । गहने इति प्रधानतत्त्वे । उपमैव औपमम् । इत्थं क्ष्मादिबुद्ध्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते सति तावदन्तमशेषं जगद्गाढनिद्रामूढमास्ते ॥२८७॥

इत्थं प्रकृत्यन्ते संहृते सति–

परमाणुप्रमाणेन लीनं संतिष्ठते जगत् ।

परमाणुना अत्यन्तमणीयसा परमपेलवेन च इन्द्रियाद्यगोचरेण रूपेण जगत् चराचरं प्रलीनमास्ते ।

यच्च प्रकृतितत्त्वनिविष्टानां रुद्राणां पूर्वोक्तकलनया आयुः, तत्–

षड्विंशकस्य रुद्रस्य चैतद्दिनमिह स्मृतम् ।।२८८।।

गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तं तत्त्वपञ्चविंशतिगतानां पञ्चविंशत्या प्रघट्टकैरवस्थितानां सर्वेषां रुद्राणां स्वामी श्रीकण्ठनाथ इह षड्विंशकोऽभिप्रेतः ॥२८८॥

अस्य–

प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह ।
साङ्ख्यज्ञानेन ये सिद्धा वेदेन ब्रह्मवादिनः ।।२८९।।
छन्दः सामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये ।
अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः ।।२९०।।

प्रजाः प्रजायमानानि चतुर्दशविधभूतानि । पतयो भुवनेशाः । पितरो मन्वाद्याः । प्रजाग्रहणसङ्गृहीतानामपि मानवानां पुनरुपादानं वैचित्र्योत्थापककर्मकारित्वेन संसारे प्रधानत्वात् । साङ्ख्यज्ञानं प्रकृतिपुरुषविवेकप्रत्ययः । वेदेन ब्रह्मवादिन इति–

अन्तर्विश्रान्त तत्त्वों के साथ तन्मात्र और इसी तरह सभी में निहित सभी तत्त्व ऊपर ऊपर विश्रान्ति करते हुए प्रकृति में लीन हो जाते हैं ॥२८७॥

प्रकृत्यन्त संहार का यह वास्तविक चित्र है । उस समय यह जगत् अत्यन्त सूक्ष्म अणीयान् परमपेलव अर्थात् सुकुमारता-पूर्ण सूक्ष्मता में इन्द्रियाद्यगोचर रूप में चर और अचरमय समग्र जगत् प्रलीन रहता है ।

इस तरह प्रकृति तत्त्व में निविष्ट गुणतत्त्वों के साथ प्रधान पर्यन्त २५ तत्त्वों के रुद्रों के स्वामी २६ छब्बीसवें रुद्र श्री श्रीकण्ठनाथ का दिन प्रारम्भ होता है ॥२८८॥

चौदह प्रकार की सारी प्रजायें, प्रजाओं के अधिपति भुवनेश, पितर मानव ये सभी सांख्यज्ञान सिद्ध साधक और ब्रह्मवादी वैदिक, छन्द, साम, ॐकार बुद्धि और बुद्धि के देवता सभी श्री कण्ठनाथ के इसी दिन में अन्तर्लीन हो जाते हैं ।

'पुरुष एवेदं सर्वम्' । (ऋ० १०।९०।२)
इति ब्रह्म ये वदन्ति वेदान्तविदः । तद्देवता इति बुद्धितत्त्वगता ब्रह्माद्या देवयोनयः । परमेशस्येति भुवनाध्वनि वर्णितमाहात्म्यस्य अह्नि तिष्ठन्ति दिनारम्भेऽभिव्यज्यन्ते ॥२९०॥

किञ्चास्य–

दिनान्ते ते प्रलीयन्ते

पुनरपि च–

रात्र्यन्ते विश्वसम्भवः ।

अथ अव्यक्ततत्त्वस्थरुद्रसम्बन्धिदिनावधेर्मानुष्येण दिव्येन च अब्दमानेन कलयितुमशक्यत्वाद् बुद्धितत्त्वगतब्रह्मसम्बन्धिभिः प्रलयोद्भवैः सङ्कलना कर्तुमाह–

षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः ॥२९१॥
अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम् ।

पूर्वोक्तनीत्या बुद्धितत्त्वर्ती ब्रह्मा गुणतत्त्वगतरुद्रदिनान्ते संह्रियते, तद्दिनारम्भे च अन्यः सृज्यत इति तदीयेऽब्दे सषष्टिशतत्रयं धीगतब्रह्मणां प्रलयोल्लासा भवन्ति । तावांश्च गुणतत्त्ववासिरुद्राणां जीवितावधिः । स च अव्यक्तनिष्ठरुद्राणां दिनकालः । तदिदं यदीदृगव्यक्तस्थरुद्राणां दिनमुक्तम्, तस्य च अवान्तर उच्यते ब्रह्माण्डप्रलयप्रधानप्रलयमध्यवर्ती जलादिगुणान्ततत्त्वविषयो विचित्रो यः संहार उक्तः, सोऽवान्तरप्रलयो मन्तव्यः ।

कस्तस्य प्रलयस्य तदन्ते च सृष्टेः कर्तेत्याह–

तस्मिन्संहरते सर्वं प्रधानस्य दिनक्षये ॥२९२॥

ब्रह्मवादी पुरुष को ही सब कुछ मानते हैं । बुद्धि तत्त्वगत देवता ब्रह्मा आदि माने जाते हैं । परमेश्वर रूप श्री श्रीकण्ठनाथ के भुवनाध्वा में वर्त्तमान दिन में ही अवस्थित रहते हैं । इनका यह सब स्थान कैसा होता है, इस सम्बन्ध में यह तन्त्र मौन है । क्षेमराज कहते हैं कि, अभिव्यज्यन्ते । किस रूप में अभिव्यक्त होते हैं– यह नहीं व्यक्त करते ॥२८९-२९०॥

भगवान् भी यही कहकर आगे बढ़ गये हैं कि, दिनान्ते ते प्रलीयन्ते । श्री कण्ठ के सौ वर्ष के बाद ये सभी उसी में प्रलीन हो जाते हैं । यह प्रलीनता भी यदि संहृति ही मानी जाय, तो कितनी विश्रान्तियाँ एक एक तत्त्व की होंगी ? क्योंकि पृथ्वी से प्रकृति पर्यन्त सारा जगत् ही तो विश्रान्ति की गाढ़ नींद में विलीन है । इसीलिये २८७ में स्पष्ट लिखा है कि गहने गुणसाम्ये प्रलीयते । रात्रि के अन्त में पुनः विश्व का समुद्भव हो जाता है ।

राज्यन्ते च सृजेद्भूयः श्रीकण्ठो विश्वनायकः ।

यथा च अस्य गुणमस्तकवर्तिनोऽपि विश्वनायकत्वम्, तथा दशमपटले वितत्य दर्शितम् ।

अथ–

तस्याप्यनेन न्यायेन परिमाणस्थितिर्भवेत् ।।२९३।।

यस्मात्प्रलयकोट्यश्च व्यतीताश्च सहस्रशः ।

अनेन न्यायेन स्थितिरिति सषष्टिशतत्रयदिनसङ्ख्याब्दशतावधिः । प्रलयकोट्य इति अधोवर्तितत्त्वतत्त्वेशगताः ।

ऊपर की अव्यक्त तत्त्व पर्यन्त तत्त्व कलना में लौकिक और दिव्य वर्षों के अनुसार यदि काल की कलना कोई करे–यह असम्भव है । इसीलिये बुद्धितत्त्वगत ब्रह्मा के प्रलयों और उद्भवों की संकलना करते हुए कह रहे हैं कि,

बुद्धितत्त्ववर्त्ती ब्रह्मा, गुततत्त्वगत रुद्र दिनान्त में संहृत हो जाते हैं । उसके दिनारम्भ में अन्य का सृजन हो जाता है । इस तरह उस रुद्र के दिन में बुद्धिगत ब्रह्मा के ३६० प्रलय और उल्लास होते हैं । गुणतत्त्वगत रुद्रों का जीवन भी उतना ही है । यह अव्यक्त निष्ठ रुद्रों का दिन काल माना जता है । इस गणना के कुल योग के अनुसार ३६हजार बार ब्रह्मा का प्रलय और उद्भव हो जाता है । गुण-तत्त्वगत वहाँ के निवासी रुद्रों का वह दिन होता है । प्रधान के दिन के क्षय हो जाने पर सारा का सारा उल्लास उसी में संहृत हो जाता है । रात्रि के अन्त में विश्वनायक श्रीकण्ठनाथ पुनः सारा सृजन अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के माध्यम से कर लेते हैं । इस श्रीकण्ठनाथ की प्रलय और स्थिति का परिमाण भी दिव्य वर्षों की कलना के अनुसार ही होती है अर्थात् तीन सौ साठ दिव्य दिनवत् अब्दसंख्या शतावधि ही स्थिति और इतना ही प्रलयावस्थान ।।२९१-२९३।।

इस तरह अधोधः वर्त्तमान तत्त्वों और तत्त्वेशों के प्रलय की संख्या भी हजार में ही कही जा सकती है । इसी अर्थ को प्रलय कोटिशब्द के साथ समन्वित किया गया है । इसी अवधि में प्रातिलोम्य क्रम से नियति काल में नियति काल राग में, नियतिकालराग विद्या में और ये सभी अन्त में कला में क्रमशः विलीन होते हुए विश्रान्त हो जाते हैं । इनका मान भी सभी रुद्रों की शतवार्षिकी आयु के आधार पर ही निर्धारित है । युगपत् प्रलय की यह विस्मयजनक विश्रान्ति ध्यान देने योग्य है ।

इस सम्बन्ध में पहले कहा गया है कि,

एतदवध्यन्ते च–

ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा ।।२९४।।

परस्परं लयं यान्ति क्रमात्सर्वे स्वमानतः ।

तत इति श्रीश्रीकण्ठीयाधिकारसमाप्तौ । क्रमादिति कलाद्यानुलोम्यक्रमेण यत् कञ्चुकपञ्चकं देशवैचित्र्येण अवस्थितम्, तद् नियत्यादिप्रातिलोम्यक्रमेण चूर्णपाषाणजलवत् परस्परं लीयते । स्वमानत इति कञ्चुकवासिसर्वरुद्रसम्बन्धिशतवर्षान्ते । अनेन च एतद्दर्शितं यत्सर्वेषां कञ्चुकवासिनां सपुंस्तत्त्वरुद्राणां युगपदेव च प्रलय इति । तथा च पूर्वं तेषाम्–

'तस्मात्कला समुत्पन्ना विद्यारागौ तथैव च ।

कालो नियतितत्त्वं च पुरुषः प्रकृतिस्तथा' ॥ (११।६४)

इति सृष्टिरपि युगपदेव उक्ता । भुवनादिदेशव्यवस्था तु पृथगिति तदाशयेन क्रमात्सर्वे इति इह उक्तम् ।

तदित्त्थम्–

कलाद्यवनिपर्यन्तं गहनेशदिनक्षये ।।२९५।।

नानाभुवनविन्यासरचनादिविभूषितम् ।

सगुणाधारपर्यन्तरुद्रक्षेत्रज्ञसङ्कुलम् ।।२९६।।

गहनेशे लयं याति मूलप्रकृतिकारणे ।

गहनेशो मायातत्त्वगः आद्यो रुद्रः । रचनादीति आदिशब्दाद्विभवः ।

'अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ।

मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः' ॥ (२।६६)

'इससे कला उत्पन्न हुई । फिर विद्या और राग साथ ही काल और नियति तत्त्व पुनः प्रकृति और पुरुष साथ ही उत्पन्न हुए । तत्त्वों के साथ भुवन आदि देश व्यवस्था तो अलग की बात है । इसीलिये श्लोक में क्रमात् सर्वे' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥२९४॥

इस तरह कला कञ्चुक से पृथ्वी पर्यन्त गहनेश के दिन में उल्लसित और दिनक्षय में गहनेश रूप शूल प्रकृति के भी कारण रूप रुद्र में विलीन हो जाते हैं । कला और पृथ्वी के अन्तराल के भुवनों और इनमें भी नाना अन्य भुवनों का विन्यास उनकी विचित्र संरचनायें, सभी उल्लसित रहते हैं किन्तु उनकी सारी संरचना के साथ उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । इनके सारे गुण, उनकी संकुलता क्षेत्र और क्षेत्रज्ञता की मूल प्रकृति के कारण गहनेश में विश्रान्ति हो जाती है ।

इति पूर्वोक्तनीत्या आधारो माया, स पर्यन्ते यस्य तद् गुणाधारपर्यन्तं कलातत्त्वं सहगुणाधरपर्यन्ता ये रुद्रक्षेत्रज्ञास्तैः सङ्कुलम् । गहनेशे इति गहन ईशः प्रभुर्यस्य, तस्मिन् गहनेशे मायातत्त्वे मूलप्रकृतेः प्रधानस्यापि कारणे ।

तच्च तथालीनं सत्–

रात्र्यन्ते जायते भूयो गहनेशप्रचोदनात् ।।२९७।।

तदित्थमस्य–

अहोरात्रस्त्वयं प्रोक्तं प्राकृतः परमेश्वरि ।

प्रकृतिरिह विशेषाचोदनात् कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य कारणं माया उच्यते, तस्या अयं प्राकृतो मायीयः ।

तद्गतश्च यो रात्रिकालः–

प्रलयश्च स एवोक्तो भूतानां परमेश्वरि ।।२९८।।

कलातत्त्वान्तानां सर्वेषां प्रकृष्टचिरतरकालानामधस्तनकालापेक्षया कलयितुमशक्यत्वात् प्राधानिककालमवधिं कृत्वा कलयितुमाह–

प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन तु ।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत् ।।२९९।।

प्रधानस्य अयं प्राधानिकः कालः, तस्य यत् परार्धं पूर्वोक्तः सङ्ख्याविशेषस्तेन । दशधा गुणितेनेति दशपरार्धगुणितेन प्राधानिककालेन मायाया दिनम्, रात्रिश्च तावती भवतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–प्रधानाधिष्ठातृरुद्रायुष्कालो यः कञ्चुकनिवासिनां दिनम्, तत् सषष्टिशतत्रयकलितमब्दस्तच्छतेन तदायुरिति अत्र न ईदृशी कलना क्रियते; अपि तु स कञ्चुकवासिदिनात्मा प्राधानिकः कालः परार्धदशकेन

श्लोक २।६६ में उक्त संरचनाओं की चर्चा है पुनः गहनेश की प्रेरणा से ही रात्रि के अन्त में उत्पन्न हो जाते हैं ॥२९५-२९७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये ! कला से पृथ्वी पर्यन्त विश्व की कारण रूप माया है । उसका यह प्राकृत अर्थात् मायीय अहोरात्र है । इसमें आने वाला रात्रिकाल ही इसके प्राणियों का प्रलय काल होता है ॥२९८॥

प्रधान के काल को प्रधानिक काल कहते हैं । इस काल का परार्ध काल जो पहले ही उक्त है, उसे दश से गुणा करने पर अर्थात् दश गुणा परार्ध काल प्राधानिक काल है । यही माया का दिन है । इतनी ही बड़ी माया की रात भी होती है ।

गुणितः कञ्चुकवासिनामायुः, तच्च गहनिकं दिनमित्ययमत्र पूर्वतो विशेषो दर्शितः । इत्थं च परार्धदशकगुणितो यः प्राधानिककालस्तस्य शततमो भागः कञ्चुकवासिनां वर्षम्, तस्यापि षष्ट्यधिकत्रिशततमो भागोऽत्र दिनमिति, इत्थमत्र वर्षदिनादिव्यवस्था कार्या ॥२९९॥

एवमुक्तपरार्धदशकगुणितं तद् गहनेशदिनम्, तत्कलनया वर्षम्, तच्छतरूपो यो गहनेशावस्थितिकालः, स एव तदाश्रयस्य मायातत्त्वस्य कालः । तमवधिं कृत्वा ईश्वरतत्त्वाधिष्ठातुरीश्वरस्य दिनपरिमाणं दर्शयितुमाह–

मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च ।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं पुनश्च संहरेज्जगत् ॥३००॥

अत्रापि मायाया योऽवस्थितिकालस्तस्य यत् परार्ध तस्य शतधा गुणितस्येति परार्धशतसङ्ख्यातस्य । तावत्कालमीश्वरः सृष्टिं स्वदिने, संहारं स्वरात्रौ शुद्धविद्यातत्त्वान्तस्य विश्वस्य करोतीत्यर्थः । शतधा गुणितस्येत्युक्तेरयमाशयः– यत्किल मायावधिः कालः परार्धैर्दशभिर्गुणितो विद्यातत्त्वाधिपतेरनन्तनाथस्य अधिकारकालः, तत्रापि पूर्ववद्भागकलनया वर्षदिनप्रविभागो ज्ञेय इत्येवंविधो योऽनन्तनाथाधिकारकालः, सोऽपि परार्धदशकगुणित ईश्वरस्य दिनमिति । अत्रापि उक्तक्रमानुसारिवत्सरतच्छतात्मा ईश्वराधिकारकालः ॥३००॥

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार गणना को प्राधानिक काल कञ्चुक वासियों का दिन होता है । यह दश परार्ध से गुणित होने पर कञ्चुक वासियों की आयु होती है । यही वस्तुतः गहनेश का दिन है । इसी में माया इस विश्व प्रसार का संहार करती है और गहनेश पुनः समग्र जगत् को अभिव्यक्त कर लेते हैं ॥२९९॥

यह गहनेश का दिन होता है । माया काल परार्ध के शत गुणित करने पर जितनी काल सीमा होती है, वही इस दिन की भी काल सीमा होती है । परार्ध शत संख्यात ही दिन होता है । तब तक ईश्वर अपने दिन में सृष्टि करते हैं । तथा अपनी रात में इसका संहार कर लेते हैं । शुद्धविद्यातत्त्वान्त सृष्टि का ही संहार इसमें होता है ।

माया का काल दश परार्ध और इतना ही काल विद्या तत्त्व के अधिपति अनन्तनाथ का होता है । अनन्तनाथ का जो अधिकार काल है, उतना ही परार्ध का दश गुणा ईश्वर का दिन है । ईश्वर का अधिकार काल परार्धशतकाल ही है ॥३००॥

सोऽपि प्रक्रान्तरीत्या परार्धशतगुणितः सदशिवनाथस्य दिनमिति तदन्तेऽसावधोवर्ति विश्वं संहरतीत्याह–

ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत् ।
सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे ।।३०१।।

स्वामानेनेति अवतरणिकायामेव व्यख्यातम् । पुनर्भूयः भूयोभूय इत्यर्थः ।।३०१।।

तदित्थम्–

महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनद्वये ।

पूर्वोक्तमायीयप्रलयापेक्षया अयं महान् शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात् । अनेन च परिमाणेन अयमपि स्ववर्षशतान्ते–

बिन्दुतत्त्वे लयं याति पञ्चमन्त्रमहातनुः ।।३०२।।

बिन्दुतत्त्वे इत्यभिधानात्तदधोगतो भुवनाध्वा प्रतिपादितः, स्थूलः सदाशिवोऽत्र विवक्षितः । बिन्दुतत्त्वे लयं याति बिन्द्वीश्वररूपतामाविशति ।।३०२।।

तथाविधश्चासौ–

बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं तु भित्त्वा चैव निरोधिकाम् ।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ।।३०३।।

बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिकाभूमीः क्रमात्क्रमं परार्धशतगुणितपरिमाणदिनादिव्यवस्थाकलितावस्थितीराविश्य स्थूलः सदाशिवभट्टारको नादात्मनि सूक्ष्मे सदाशिवपदे लीयते तदात्मा जायत इत्यर्थः ।।३०३।।

यही स्थिति सदाशिव की भी है । परार्धशत गुणित सदाशिव का दिन होता है । ये अपने दिन में अधोवर्त्ती विश्व का संहार और अहर्मुख में पुनः सृजन प्रक्रिया भी पूरी करते हैं ।।३०१।।

मायीय प्रलय की अपेक्षा इसका प्रलय महा प्रलय माना जाता है । क्योंकि इसके प्रलय में शुद्धाध्वा का भी संहार होता है । अपने सौ वर्ष पूरा करने पर सदाशिव बिन्दुतत्त्व में लीन हो जाते हैं । वस्तुतः सदाशिव का यह स्थूल स्वरूप माना जाता है । उस समय ये पञ्चमन्त्र के व्यापक शरीर वाले होते हैं । बिन्दुतत्त्व में लय होने का अर्थ बिन्द्वीश्वररूपता में प्रवेश कर जाते हैं ।।३०२।।

इस अवस्था में बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका का भेदन कर नादतत्त्व में वे लीन हो जाते हैं । यह सूक्ष्म सदाशिव तत्त्वात्मक स्थिति होती है । उस समय सदाशिव तत्त्व में सचराचर विश्व का भी विलय हो जाता है । इसीलिये वे सबसे युक्त रहते हैं ।।३०३।।

सोऽपि च–

नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये ।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये ।।३०४।।

नादात्मा सूक्ष्मः सदाशिवनाथः पूर्वोक्तकलनागणितसुषुम्नेशदिनान्ते तद्रूपतां श्रित्वा तथैव तदवधिकालगणनागणितब्रह्मेशदिनान्ते ब्रह्मरन्ध्रस्थब्रह्मरूपतां श्रित्वा तदीयावस्थितिकाले तथैव गणिते यच्छक्तितत्त्वस्थदेवतादिनम्, तदन्ते तन्मयी-भवतीत्यर्थः ।।३०४।।

परार्धः स तु विज्ञेयः कालस्तु वरवर्णिनि ।

पूर्वम्–

'प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन च' । इति । (११।२९९)

तथा–

'मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च' । (११।३००)

इत्युक्तत्वात् शक्तितत्त्वदिनान्तात्मा कालः परार्धपरार्धात्मा अतिविततसङ्ख्यो विज्ञेयः, न तु एकपरार्धमात्ररूपः पूर्वोक्तव्याघातापत्तेः । तथा हि भुवनाध्वनि तत्त्वानामुत्तरोत्तरे देशप्रमाणे प्रकर्ष उक्तस्तथेह स्थित्यादिकालोऽप्युत्तरोत्तरं प्रकृष्यत एवेत्यस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यम् । इत्थं परार्धपरार्धमानं शक्तिदिनम्, तावत्येव च तदीया रात्रि-रनया कलनया यद्वर्षशतम्, तदन्ते शक्तितत्त्वाधिष्ठातृसूक्ष्मदेवताधिकारपरि-समाप्तिः ।

नाद सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मबिल को विद्धकर शक्तितत्त्व में विलीन हो जाता है । यह नाद सूक्ष्म सदाशिवनाथ रूप होता है । इस क्रम में सुषुम्नेश, ब्रह्मेश का भी भेदन होता है । इसमें ब्रह्मरन्ध में ही ब्रह्मेश का अवस्थान होता है । सुषुम्नेश और ब्रह्मेश भेदन में भी पूर्वोक्त अवधि के अनुसार काल गणना की जाती है । इसके बाद ही शक्तितत्त्व का दिन प्रारम्भ होता है । शक्तितत्त्वस्थ देवता के दिनान्त में यह तन्मयी भाव मानना चाहिये ।।३०४।।

शक्तितत्त्व के दिन की अवधि के विषय में कह रहे हैं कि, यह काल भी परार्ध काल ही होता है । ११।२९९-३०० के अनुसार प्राधानिक परार्ध और माया काल परार्धशत गुणित होता है । इस क्रम में शक्ति तत्त्व परार्ध परार्धकाल का होता है । एक परार्ध मात्र नहीं होता । यह मानने पर उक्त एकादश पटल की उक्तियों में व्याघात उत्पन्न हो जायेगा । यहाँ भुवनाध्वा के उत्तरोत्तर प्रकर्ष की अपेक्षा यहाँ भी स्थित आदि काल में उत्तरोत्तर प्रकर्ष की पूर्त्ति मानी जाती है । इस तरह परार्ध परार्धशक्ति का दिनमान माना जाता है । इस दिनान्त में शक्तितत्त्वस्थ

तच्च शिवतत्त्वस्थस्य व्यापीशस्याप्यहर्मुखम् ।।३०५।।

तत्र असौ–

ततश्च संसृजेद्भूयो व्यापी व्योमस्वरूपिणि ।
लीयते सोऽप्यनन्तेशे सोऽनाथे सोऽप्यनाश्रिते ।।३०६।।

स्वाधिकारपरिसमाप्तौ लीयते ।।३०६।।

अथ अस्य अनाथान्तविश्वाश्रयस्य अनाश्रितनाथस्य कियद्दिनं स्यादित्याह–

शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य च ।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत्प्रकीर्तितम् ।।३०७।।

यः परार्धपरार्धात्मा शक्तिकाल उक्तस्तस्य प्रकरणात् परार्धकोटिगुणितस्य यः कालः, तदनाश्रितस्य दिनम् ।।३०७।।

अथ–

अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन तु ।
सोऽपि याति परं स्थानं कारणं स्वमनाश्रयम् ।।३०८।।

परार्धपरार्धरूपो यः शक्तिकालः परार्धकोट्या गुणितोऽनाश्रितदिनात्मा, सोऽपि परार्धेनेति परार्धपरार्धेन गुणितोऽनाश्रितस्य अधिकारकाल इति तच्छतभागतत्स-षष्टित्रिशतभागाकर्षणादस्य वर्षदिनव्यवस्था प्राग्वदनुसरणीया । तदित्थमतिविततकालाध्वगतस्वाधिकारकालपरिसमाप्तावनाश्रितनाथः स्वमनाश्रयं कारणमिति–

देवताधिकार की परिसमाप्ति हो जाती है । यही शिवतत्त्व में व्याप्त व्यापीश देव का अहर्मुख होता है ।।३०५।।

व्यापीश, व्योमेश में,व्योमेश अनन्तेश में, वह अनाथ में और अनाथ अनाश्रित में विलीन होकर विश्रान्ति प्राप्त करते हैं । अपने अपने अधिकारों की परिसमाप्ति पर ही इस प्रकार का विलय होता रहता है ।।३०६।।

अनाथान्त विश्व का आश्रय अनाश्रित ही माने जाते हैं । अनाश्रितनाथ की कालावधि तो कल्पनातीत है । शक्ति का काल परार्ध परार्ध रूप होता है । इसमें परार्धकोटि गुणा करने पर जो काल है, वही अनाश्रित नाथ का काल माना जाता है ।।३०७।।

परार्ध परार्ध रूप शक्ति का काल और परार्धकोटि गुणित अनाश्रित भट्टारक का काल और वह भी परार्ध परार्ध गुणित होने पर अनाश्रित का अधिकार काल होता है । इसमें ३५६० भाग के आकर्षण से इसके वर्ष दिन के काल की अवधि होती है । इस प्रकार अपने अधिकार काल की समाप्ति पर अनाश्रित नाथ अपने

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।

सृष्टि..................................'॥ (१०।१२५८)

इत्याद्युक्तनीत्या परमशिवमेव, तिष्ठति अस्मिन्विश्वमिति व्युत्पत्त्या स्थानं याति तदेकात्मा भवति ॥३०८॥

यश्च अयमियतीमतिविततविततामध्वधारामधिरूढः–

स कालः साम्यसंज्ञश्च

यथा गुणानां साम्यं प्रधानम्, तथा सर्वेषां सृष्टिस्थितिसंहारक्रियाकलनाभासानां यत् साम्यं प्रकर्षापकर्षशून्यं वपुः, तत् साम्यं ज्ञेयम् । समताश्रयः साम्येन, कल्यमानत्वादेव च कालशब्देन उक्तः ।

वैषम्यनिवृत्त्यात्मकसाम्यात्मकत्वादेव च अयम्–

जन्ममृत्युभयापहः ।

समापन्नस्येत्यर्थः । अथ–

ततोऽप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात्परमावधिः ॥३०९॥
नित्यो नित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते ।

साम्यसंज्ञः कालः प्रशान्तनिःशेषवैषम्यात्मतया कल्यमानत्वात् प्रमेयस्तथा नायम्, अत एव परमोऽवधिः सर्वप्रमेयप्रमात्रादिप्रतिष्ठापदमुन्मनापरतत्त्वसामरस्यात्मपरप्रमातृरूप इत्यर्थः । चो ह्यर्थे । यतो न कल्यते, अत एव अकल्यः ।

अनाश्रय कारण अर्थात् परम कारण रूप शिव सद्भाव को प्राप्त कर लेते हैं । अर्थात् उसी परमतत्त्व में विश्रान्ति लाभ करते हैं । अर्थात् तदात्मा हो जाते हैं ॥३०८॥

इस काल की अप्रकल्प्य कलना को अतिविततवितता प्रकल्पना कह सकते हैं । इस अध्वधारा के उच्चशिखर पर अधिरूढ उस काल को कालसाम्य की संज्ञा दी जा सकती है । जैसे गुणसाम्य को प्रधान कहते हैं, उसी तरह सभी सृष्टि, स्थिति, संहार क्रिया कलाप कलना के आभास का जहाँ साम्य हो जाय, वह प्रकर्षापकर्ष शून्य स्थिति मानी जा सकती है ।

वह क्रिया-साम्य माना जाता है । साम्य से साम्यत्व का स्वयम्, आश्रय बनाने वाला वह परम सूक्ष्मवपुष परमशिव ही ऐसा आश्रय हो सकता है । यद्यपि वह काल शरीर नहीं रह गया होता है, फिर भी कल्यमान होने के कारण ही काल शब्द के द्वारा अभिहित किया जा रहा है ।

यहाँ वैषम्य की उत्तरोत्तर परमनिवृत्ति और साम्य की सर्वतोभावेन प्रतिष्ठा हो गयी होती है । इसलिये वह क्रिया-साम्य है । काल साम्य है और सर्वसाम्य

कथं तर्हि कालशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्याह–

स चाधः कलयेत्सर्वं व्यापिन्यादिं धरावधिम् ।।३१०।।

तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम् ।

साम्यसंज्ञं कालं भित्तिभूतमवधिमाश्रित्य तदुद्भुतं व्यापिन्यादिं सर्वमिति धरान्तमध्वानं यतः कलयत्यन्तः प्रकाशैकात्म्येन स्थितं बहिर्वैचित्र्यशतैः प्रक्षिपति, बहिराभासितं च अन्तः क्षिपति नानात्वेन च परिगणयति, यत एव कलयति ततोऽयं कालं उच्यत इत्यर्थः ।

एतदेव अधिकावापेन अनुवदन्नुपसंहरति–

ऊर्ध्वमुन्मनसो यच्च तत्र कालो न विद्यते ।।३११।।

न कल्यः कल्यते कश्चिन्निष्कलः कालवर्जित ।

यः शाङ्कर्युन्मनातीतः स नित्यो व्यापकोऽव्ययः ।।३१२।।

उन्मनसः सम्बन्धि ऊर्ध्वं परतत्त्वात्मकं यत्पदं तत्र कलनाहेतुः कालो नास्ति यस्मान्न तत्र कल्यः कलनार्हः कोऽपि सर्वस्य तत्र परमशिवैकात्म्येनैवावस्थितेः । यतश्चायमप्रमेयत्वात्तुट्यादिकलाभ्यः कालावयवरूपेभ्यो निष्क्रान्तस्तेन क्रमाद्यव-

---

है । यह काल साम्य समस्त वैषम्य की समाप्ति के कारण मेय नहीं रह जाता । इसलिये इसे अमेय कहते हैं । वह परम अवधि है क्योंकि वहाँ प्रमेयप्रमाता आदि प्रतिष्ठापद एक हो जाता है ।

इस भूमि को उन्मना भूमि कह सकते हैं । कलना न होने के कारण यह अकल्य अवस्थान हो जाता है । इसे इस अवस्था में भी काल कहने का कारण यह है कि, यह व्यापिनी से लेकर धरान्त अध्वा का स्वात्मान्तराल में अभी कलन करता है । अन्तः प्रकाशैकात्म्य से स्थित होने पर भी वह शत शत वैचित्र्यों से व्यापृत है ।।३०९-३१०।।

तुटियों से, कलाओं से सचराचर अध्वा के अन्तःकलन के कारण भी यह काल है । जब उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर पहुँच कर यह साम्य उन्मना का स्पर्श कर लेता है, उस समय वहाँ काल का कलेवर गल जाता है । सारी कलना समाप्त होकर नैकल्य में समाहित हो जाती है ।।३११।।

उन्मना परतत्त्वात्मक पद है । वहाँ कलना का कारण काल नहीं रहता । कल धातु की सक्रियता वहाँ समाप्त हो जाती है । वहाँ कोई काम्य नहीं । कोई कलंक नहीं । निष्कल और कालवर्जित, क्रमाध्व भास वर्जित एक अद्भुत अव्यय नित्य शाश्वत पद है । वह तत्त्व इस शाङ्करी उन्मना को भी अतिक्रान्त कर जाने वाला परम तत्त्व है ।

भासात्मककालवर्जितः, तद्रूपो न भवति केवलं प्रोक्तव्याख्यासतत्त्वविश्वकलनाकारित्वात्काल इत्युक्तः । अव्यय इति अपरिक्षीयमाणमूर्तिः । उक्तं च योजनिकायाम्–

'सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ।
उन्मनान्ते परे योज्यो न कालस्तत्र वर्तते' ॥ (४।२८७)

इति ॥३१२॥

यस्मात्–

तस्यादौ यादृशं रूपं कल्पान्ते चैव तादृशम् ।

आदौ सृष्टिकाले । किञ्च–

अरूपो रूपनिर्मुक्तः सोऽनादिर्भववर्जितः ॥३१३॥
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च दानादिगुणवर्जितः ।

रूप्यन्त इति रूपाणि देशकालाकारनियमा न विद्यन्ते यस्य, अत एव रूपेभ्य इदमीदृगित्यादिरूपव्यापारेभ्यो निर्मुक्तः, यतोऽनादिस्तत एव भवेनोत्पादेन वर्जितोऽसंस्पृष्टः । सर्वज्ञ इति प्राग्वत् । सर्वेण रूपेण कर्ता सर्वात्मना स्वतन्त्रः । चकारो ज्ञत्वकर्तृत्वयोः सामरस्यमाह । यश्च व्यतिरिक्ते ज्ञेये कार्ये ज्ञाता कर्ता च, असावनादिभिः प्रवाहनित्यतया वर्तमानैर्गुणैर्मायाधर्मैर्युक्तो भवति । अयं तु अभेदसर्वज्ञसर्वकर्तृत्वात्मकत्वात्तैरसंस्पृष्टः ।

एवमपि ततो नान्यत्किञ्चिदस्ति; अपि तु–

स एवापररूपेण

स्वस्वातन्त्र्यात्स्फुरन्नपि–

उन्मन्या मूर्ध्नि संस्थितः ॥३१४॥

योजनिका प्रकरण में पटल ४।२८७ में कहा भी गया है कि, काल की सर्वकलना का साम्य भाव भव्य, व्यापक और परम अव्यय तत्त्व है, वह उन्मना को भी अतिक्रान्त कर अवस्थित है । वहाँ काल नहीं होता ॥३१२॥

उसके आदि में जो रूप होता है, कल्पान्त में भी वह वही रूप रहता है । इसलिये देशकाल से उत्पन्न पारिस्थितिक आकार के अभाव में किसी तरह निरूपित न रहने के कारण वह अरूप कहलाता है । वह रूप व्यापारों से निर्मुक्त है । अनादि है और उत्पत्ति के आधार रूप भव की भूति से रहित है । ज्ञत्व और कर्तृत्व के सामरस्य के कारण सर्वज्ञ और सर्वकर्तृत्व सम्पन्न है । अत, सबसे असंसृष्ट परम शिवरूप ही हैं ॥३१३॥

वही सर्वातीत अव्यय तत्त्व स्वात्म स्वातन्त्र्य के सर्वातियायी प्रभाव से अपर रूप से स्फुरित होते हुए उन्मना के शिखर भाग पर अवस्थित होता है ॥३१४॥

अतश्चायम्-

देवदेवो जगन्नाथः परमात्मा शिवोऽव्ययः ।

पूर्वानुक्रमयोगेन सोऽकामात्सृजते जगत् ।।३१५।।

जगता कालाग्न्यादिशिवान्तेन नाथ्यत इति जगन्नाथः । पूर्वानुक्रमयोगेनेति समनापदमारुह्य तत्तत्कारणमूर्त्याश्रयणेनेत्यर्थः । अकामादित्थमिदमेवमहं करोमीति सङ्कल्पं विना । शिष्टं प्रागेव व्याख्यातप्रायम् ॥३१५॥

अकामादित्याक्षिपन्ती श्रीदेवी उवाच-

अकामस्य क्रिया नास्ति निष्क्रियश्च सृजेत्कथम् ।

एतं प्रश्नवरं गुह्यं कथयस्व प्रसादतः ।।३१६।।

सर्वा गमनपचनादिक्रिया सङ्कल्पपूर्वा, सङ्कल्पश्च चिदानन्दघने भगवति नेष्टः, तत्कथमक्रियस्य स्रष्टृत्वम्, अथ च चित्प्रकाशात्मकपरमेश्वरस्वरूपव्यतिरिक्तस्य अन्यस्य सत्त्वमेव न घटते किमङ्ग कर्तृत्वम् । अत एव प्रश्नानां मध्ये वरमुत्कृष्टं प्रश्नमेतन्निर्णयाच्च सर्वसंशयोच्छित्तिर्भवति प्रसादतस्तत्त्वार्थोन्मीलनेन कथयेति एतन्निर्णयमादिश ॥३१६॥

इत्थं पृष्टः श्रीभैरव उवाच-

आदित्यस्य मणेर्यद्वत्तापिताद्रविरश्मिभिः ।

वह्निः संजायते तस्माद्रवेस्तत्र न कामिता ।।३१७।।

इसलिये यह देवाधिदेव देवाराध्य, कालाग्नि से शिवपर्यन्त सबके द्वारा सनाथ बनाने के लिये प्रार्थ्यमान होने के कारण जगन्नाथ परमात्मा अव्यय शाश्वत शिव पूर्वानुक्रम योग से समना पद पर आरूढ आरोहण-कारणमूर्त्ति का आश्रय लेने के कारण आराध्य परमेश्वर, विना करने के संकल्प के ही जगत् की सृष्टि करता है ॥३१५॥

श्री देवी कहती हैं-भगवान् ! अकाम की तो कोई क्रिया होती ही नहीं, तथा जो निष्क्रिय है वह सक्रिय हो ही नहीं सकता । ऐसी अवस्था में भगवान् यह बताने का कष्ट करें कि, इस सृष्टि संरचना का रहस्य क्या है । विना क्रिया के यह प्रक्रिया कैसे रूप ग्रहण कर सकी ? क्रिया के विषय में चिदानन्दघन परमेश्वर में संकल्प हो भी कैसे सकता है ? अक्रिय में स्रष्टृत्व कैसे ? भगवान् ! इस तत्त्वार्थ का उन्मीलन कर हमें कृतार्थ करें ॥३१६॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! सूर्यकान्तमणि, रविरश्मि से तृप्त होकर आग उत्पन्न कर देता है । उसमें उसका कोई प्रयोजन या संकल्प नहीं होता । आग उसमें उत्पन्न हो जाती है किन्तु सूर्य की उसमें कोई इच्छा नहीं होती ।

मणेरपि न कामित्वं तद्वद्दैवस्य चेष्टितम् ।

यः किल कुम्भकारादिः स्वव्यतिरिक्तं कार्यं किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य जनयति, तस्य सङ्कल्पं विना तत्पूर्वकक्रियानुदयान्मा भूत् कर्तृत्वम्, परमेश्वरस्य स्वतन्त्र-भट्टारकस्य इदमेव परमेश्वरत्वं यदयम्–

'सृष्टिसंहारकर्तारं................'। (१।३)

इत्याद्युक्तनीत्या स्वचिद्भित्तौ स्वातन्त्र्यशक्त्या दर्पणनगरवत् स्वानतिरिक्तमपि अतिरिक्तमिव शिवादिक्षित्यन्तमनन्तावान्तरवैचित्र्यचित्रितमाभासयंस्तावदशेषचमत्कारात्म-कपूर्णानन्दघनस्वभाव एवेति वस्तुस्वभावमात्रसाम्येन सूर्यसंस्पृष्टसूर्यकान्तोत्थवह्निरत्र दृष्टान्तः ।

तदाह–

आदित्यवच्छिवो ज्ञेयः शक्तिर्मणिरिव स्थिता ।।३१८।।

न तु जाड्यं भिन्नत्वं च दार्ष्टान्तिके शङ्कनीयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्व-साधर्म्यायोगात् ।

किञ्च–

ऋतुकालमिताद् वृक्षात्कालोऽङ्कुरनियोजकः ।
यद्वच्छिवसमायोगात्तद्वच्छक्तेर्जगत्स्थितिः ।।३१९।।

इसी तरह परम स्वतन्त्र स्वतन्त्रभट्टारक परमेश्वर का यही पारमैश्वर्य है कि, उसकी अपनी चिद्भित्ति में स्वातन्त्र्य शक्ति से ही दर्पण नगर की तरह अनतिरिक्त रहते भी अतिरिक्त की तरह यह भासित हो जाती है । भगवान् कहते हैं कि, देवि ! उसी तरह अशेष चमत्कारों के चाकचिक्य से पूर्णानन्द स्वभाव ही यह स्पन्द साकार हो उठता है ।

अतः उसी आदित्य की तरह ही यह शिव भी है । मणि की तरह ही उसकी शक्ति है । जिससे यह सब कुछ हो जाता है । इस दृष्टान्त में जड़ता और मणि की भिन्नता आदि दार्ष्टान्तिक में कमी की बात नहीं सोचनी चाहिये । दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में सर्वधर्म साम्य या साधर्म्य नहीं होता ॥३१७-३१८॥

इसी तरह की एक दृष्टान्त की और चर्चा कर रहे हैं–तरु अर्थात् वृक्ष को ही लीजिये । ऋतुकाल के ऊपर वृक्ष पूरी तरह निर्भर होता है । यह उसका स्वभाव ही है कि, उसमें कोपल निकलें, समय पर मुकुल और कलियों का प्रकल्प उसमें ललित कलित रूप से निकले, अङ्कुरों का उन्मेष हो, उसी तरह नित्यावियुक्त चिदानन्द रूप शिव और शक्ति का यह स्वरूपगत स्वभाव ही है कि, कृत्य पञ्चक का प्रपञ्च उससे प्रसरित हो जाय, प्रस्फुरित हो जाय ।

ऋतुकालभाजस्तरोर्यथा अयं स्वभाव एव यदङ्कुरादिवैचित्र्यवत्त्वम्, तथा नित्यावियुक्तचिदानन्दात्मनोः शिवशक्त्योः स्वरूपमेव एतद् यत् कृत्यपञ्चक-प्रपञ्चात्मना स्फुरणम् । तदुक्तं शिवसूत्रेषु–

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' । इति । (३।३०)

इत्थं च एवंविधाशेषविश्वचमत्कारसारपरमशिवात्मकस्वचिद्भूमिविमर्शनं सर्वशास्त्रेषु परमोपादेयं जीवन्मुक्तिप्रदमुच्यत इत्याशयेन प्रश्नवाक्ये गुह्यमभिहितमिति शिवम् ॥३१९॥

शम्भोः पूर्णानन्दचिद्रत्नराशेः
शक्तिर्बाह्याभासनात्मोच्छलन्ती ।
देवी त्रैतैकात्मरूपामिमां तां
स्वां सम्पूर्णां देवतामामृशामि ॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते एकादशः पटलः सम्पूर्णः ।।११।।

शिव सूक्त भी यही कहता है कि,

'यह विश्व मात्र उसकी शक्ति का ही प्रचय है' इस तरह यह इस प्रकार का विश्व चमत्कार सार परमशिवात्मक चिद्भूमिके आमर्श प्रत्यवमर्श सभी शास्त्रों में प्रतिपादित है । यही परमोपादय रहस्य है । यही जीवनमुक्तिप्रद महामन्त्र है । यही रहस्य है । इसीलिये श्लोक ३१६ के प्रश्न वाक्य में गुह्य शब्द प्रयोग किया गया है । इसी गुह्यज्ञान से सर्व संशयों का समुच्छेद हो जाता है । परमेश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है और इसी प्रसाद रूप अनुग्रह से तात्वर्य्य का उन्मीलन हो जाता है, इति शिवम् ॥३१९॥

चित्स्वरूप शिव शम्भु परम आनन्द शक्ति-शिव विमलविमर्श ।
यही रत्न की राशि बाह्य का विश्वाभास फलक आदर्श ।
परापरा-अपरा-अन्तर्हित परमाम्बा का प्रत्यवमर्श ।
करता हूँ मैं क्षेमराज नित शाक्त दिव्यता का संस्पर्श ॥

स्वातन्त्र्य समुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरव भट्टारक प्रकीर्त्तित
महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराजकृतोद्योत विवरणोपेत
डॉ० परमहंसमित्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य समन्वित

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का

एकादाश पटल परिपूर्ण ॥११॥

शुभं भूयात्

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

अथ द्वादशः पटलः

स्वात्मनि स्वेच्छया क्लृप्ततत्तत्त्वस्फुटद्युतौ ।
स्वाभिन्ना भासयन्सिद्धीः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

पटलसङ्गत्यर्थमुक्तमनुवदन्ती तत्त्वसिद्धिबुभुत्सया श्रीदेव्युवाच–

सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तत्त्वानां कथितस्त्वया ।
जगत्सम्भवहेतुश्च

जगतस्तत्त्वभूतभावभुवनादिरूपस्य हेतुः परमकारणं परमशिवः । एतच्च–

त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं मया ।।१।।

प्रसादादि प्राग्वत् ॥१॥

स्वातन्त्र्य-समुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरव भट्टारक प्रवर्त्तित श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य क्षेमराजकृतोद्योत विवरणोपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

श्री स्वच्छन्दतन्त्र

द्वादशः पटल

(१२)

स्वात्मफलकपर स्वेच्छया, स्वात्मरूप स्वच्छन्द ।
भासित करते सिद्धि सब, जय जय जगदानन्द ॥

पटल की सङ्गति बिठलाते हुए सभी तत्त्वों की सिद्धियाँ किस प्रकार की होती है ? उनके सदुपयोग के सदभिलाष को समुल्लसित करती हुई देवेश्वरी श्री देवी कह रही हैं–

भगवन् ! आपने तत्त्वों की सृष्टि, स्थिति और संहार के स्वरूप का वर्णन किया । साथ में इनकी उत्पत्ति के कारणों का भी स्पष्टीकरण किया । यह बताया कि, जागतिक तत्त्वों को, इनके भूत भाव और भुवनादिकों के परम कारण शिव का स्वरूप क्या है ? भगवन् ! आपके कृपा-प्रसाद रूप अनुग्रह से मैंने सब सुना और कृतार्थ हुई ॥१॥

इदानीं तु–

तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत् ।

विज्ञानं धारणादिक्रमेण साक्षात्कारः । तेष्विति तद्विषया सिद्धिर्यथा स्यात् ।

एतद्वदितुं श्रीभैरव उवाच–

पृथिव्यादि शिवान्तं च कथयामि समासतः ।।२।।

यथा देहे यथा च बहिः स्थितम् । समासतः सङ्क्षेपेण, विस्तरतस्तु अग्रे धारणावसरे भविष्यति ।।२।।

तत्र–

पृथ्वी कठिनरूपेण शृणु देहे यथा स्थिता ।

यथा इति येन मांसादिना प्रकारेण । तदाह–

मांसेऽस्थिषु तथा चैव स्नायुलोमनखेषु च ।।३।।

मज्जान्त्रेषु च विज्ञेया पृथ्वी पञ्चगुणोत्कटा ।

एतच्च अग्रे स्फुटीभविष्यति ।

कफासृगाममूत्रेषु रसस्वेदवसासु च ।।४।।

शुक्रे च सङ्ग्रहे चैव स्थिता आपश्चतुर्गुणाः ।

देहे इत्येव । रस आहारपानपरिणामोत्थ आद्यो देहधारको धातुः । संग्रहः पार्थिवादीनां मांसादिभावेन परिणतानां संश्लेषः ।

भगवन् ! मेरी प्रार्थना है कि, इस समय आप मुझे तत्त्व के विज्ञान का रहस्य समझायें । मैं जानना चाहती हूँ कि, इसमें सिद्धियाँ किस प्रकार होती हैं, यह सुनायें । मैं धारणा क्रम से तत्त्वों का साक्षात्कार करना चाहती हूँ । भगवान् भैरव देवी के अनुरोध को स्वीकार कर बोले, देवि ! पृथ्वी से शिव पर्यन्त तत्त्व सिद्धि के सन्दर्भों को समान रूप से तुम्हें बता रहा हूँ । ध्यान पूर्वक सुनो ।।२।।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! पृथ्वीतत्त्व शरीर में जिस प्रकार कठिन रूप से अवस्थित है, इस तरह समझना चाहिये । १–मांस, २–अस्थि, ३–स्नायु, ४–लोम और नखों में, तथा ५–मज्जा एवम् आँतों में पञ्च गुणोत्कटा पाँच तन्मात्रमयी पृथ्वी अवस्थित है ।।३।।

कफ, असृक्, आम, मूत्र, रस, स्वेद और वसा, शुक्र एवं इनके पार्थिव मांसादि के साथ मिलकर अप् तत्त्व अवस्थित है । यह चार गुणों से युक्त है । इसमें केवल गन्ध नहीं होता ।।४।।

इसमें रस मुख्य होता है । आहार और जलपान के परिणाम से उत्पन्न आद्य देह धारक तत्त्व ही रस होता है । इनके ही पाचन और जठराग्नि से परिणत

पचने दहने चैव तेजस्यूष्मणि संस्थितम् ।।५।।

आहारादेः पाकनिमित्तं महाक्षारजननात्मकदाहाय परासह्यदीप्तये उपलभ्योष्म-सम्पत्तये च देहे तेजः स्थितम् ॥५॥

तेजस्त्वेवं स्थितं देवि प्रकाशे च त्रिलक्षणम् ।

प्रकाश इति नेत्ररश्मिद्वारेण वस्तुप्रथनाय । त्रयो रूपस्पर्शशब्दा लक्षणं यस्य । एतच्च अदृष्टवशाद् देहे अनुद्रिक्तरूपस्पर्शं स्पष्टम् ।

वायुरुच्छ्वासनिःश्वासस्पर्शनव्यूहलक्षणः ।।६।।
मूत्रोच्चारविसर्गेषु अन्नपानप्रवेशने ।

स्पर्शनं बाह्याभ्यन्तरस्पर्शग्रहणम् । व्यूहो रचना । उच्चारो मलपरिणामः । विसर्गो बहिष्कृतिः । तदित्थम्–

वायुरेभिः स्थितो देहे विज्ञेयस्तु द्विलक्षणः ।।७।।

एभिर्व्यापारैरुपलक्षितः । द्वौ शब्दस्पर्शौ लक्षणं ज्ञप्तिहेतुर्यस्य स द्विलक्षणो द्विगुणः ॥७॥

एकलक्षणमाकाशं कथयामि यथा स्थितम् ।

एकः शब्दो लक्षणं यस्य । तत्र पृथिव्याः खटखटारूपः, जलस्य च्छलच्छ-लता, तेजसो धगधगाकृतिः, वायोः शुकशुकास्वभावः, आकाशस्य प्रतिश्रुत्काख्यः शब्दः, स्पर्शोऽपि पृथ्व्याः पाकजोऽनुष्णाशीतः, जलस्य शीतः, तेजस उष्णः,

---

महापाक जन्य क्षार के दाह के असह्य रूप को सह्य बनाने के लिये और शरीर में जीवनोपयोगी ऊष्मा के रूप में तेज भी शरीर में अवस्थित है ॥५॥

इस रूप में प्रकाशमान तेज त्रिगुणोत्कट माना जाता है । नेत्र रश्मि के माध्यम से प्रकाश बाहर प्रक्षिप्त होता है । इसमें रूप भी है, स्पर्श भी है और शब्द का समन्वय भी है । यह त्रिलक्षणात्मक तेज शरीर में गर्मी भरे ऊष्मा से तो स्पष्ट रूप से जाना जाता है । हाँ रूप और स्पर्श इसमें उद्रिक्त नहीं है ।

इसी तरह देह में वायु भी अवस्थित है । यह उच्छ्वास निःश्वास, स्पर्श की संरचनाओं के कारण रूप में विद्यमान है । मूत्रोत्सर्ग, पुरीषोच्चार, अन्न और जल के भीतर प्रवेश रूप क्रियाओं में लक्षित होता है । इसके केवल शब्द और स्पर्श नामक गुणों से इसकी ज्ञाप्ति होती रहती है ॥७॥

जहाँ तक आकाश का प्रश्न है, यह 'शब्दगुणकमाकशम्' के अनुसार केवल एक गुण वाला है । एक मात्र शब्द ही इसका लक्षण है । पृथिवी में खटखटाहट जल में छलछलाहट, तेज धगधगाहट, वायु में सुरसुराहट आकाश में अनुसुनाहट का स्वभाव पाया जाता है ।

वायोरपाकजोऽनुष्णाशीतः, पृथ्व्याः सितादि नाना रूपम्, जलस्य सितम्, तेजसो भास्वरम्, पृथ्व्याः षड्विधो मधुरादिरसः, जलस्य मधुरः, पृथ्व्या एव तु सुरभिरूपो गन्ध इति । विशिष्टैरेव तैर्गुणैर्देहे पृथिव्यादिभूतानि लक्षणीयानि ।

यथास्थितमित्युक्तं स्पष्टयति-

सुषिरात्मकं तु विज्ञेयं नवधाच्छिद्रलक्षणम् ।।८।।

नव च्छिद्राणि द्वाराणि ब्रह्मरन्ध्रचक्षुःश्रोत्रघ्राणास्यचूचुकनाभिलिङ्गगुदगतानि लक्षणं यस्य ॥८॥

इत्थं नवद्वारलक्षितम्-

शब्दात्मकं गुणं ह्येतत्कथितं तव सुव्रते ।

एवं देहे भूतपञ्चकं प्रदर्श्य, तदुपस्थापकतत्प्रकाशकानि कर्मेन्द्रियबुद्धिमनांसि प्रकाश्येन्द्रियकारणभौतिकरूपादिप्रतीतिवशानुमेयानि रूपाद्यविशेषरूपाणि तन्मात्राणि उपपादयिष्यति । तत्र तावत्-

वागिन्द्रियं वदेद्वाणीं सा च वाणी चतुर्विधा ।।९।।

आकाश में प्रतिश्रुत्का रूप शब्द, स्पर्श पृथ्वी में पाकज, अनुष्ण और अशीत रूप में रहता है । जल में शीत रूप से, तेज में उष्ण, और वायु में अपाकज अनुष्ण का और अशीत रूप रहता है । पृथिवी सित रक्त पीत अनेक रूपवाली है । जल का केवल एक ही श्वेत रूप है । तेज का भास्वर और पृथिवी का छः रसमय मधुराम्ल लवणादि रसमय शरीर है । जल का मधु स्वभाव है और पृथ्वी मात्र गन्धवती है । इन्हीं विशिष्टगुणों के साथ पृथ्वी आदि तत्त्व देह में अवस्थित हैं । शरीर का सबसे विलक्षण स्वभाव है कि, नवधासुषिरों अर्थात् छिद्रों से समन्वित है । ये ९ छिद्र-१-ब्रह्मरन्ध्र, २-चक्षु, ३-श्रोत्र, ४-घ्राण, ५-चूचुक, ६-नाभि, ७-मुख, ८-लिङ्ग और ९-गुदामार्ग रूप हैं ॥८॥

इस तरह पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँचों तत्त्व शरीर में किस रूप में अवस्थित हैं, इसका ज्ञान होना चाहिये । इसे भगवान् भैरव ने स्पष्ट किया । इनकी उपस्थापक और इनकी प्रकाशक शक्ति के रूप में कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और मन नामक तत्त्व भी इस शरीर में हैं ।

इनके कैसे, किस तरह, क्यों इन्द्रिय कारणों और भौतिक रूपादि प्रकाशन के साथ ही इनका अनुमान भी होता रहता है, इन तथ्यों का उपपादन भगवान् कर रहे हैं । जैसे १-वागिन्द्रिय है । यह क्या करती है ? उत्तर है कि, यह वाणी का उच्चारण करती है । यह चार प्रकार की होती है । १-संस्कृता वाक्, २-प्राकृता वाक्, ३-अपभ्रंश वाक् और ४-अनुनासिका । यह चौथा भेद स्वीकार्य

संस्कृता प्राकृती चैव अपभ्रष्टानुनासिका ।

'संस्कृता नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' ।

इति तत्रभवद्भर्तृहरिणा उक्ततात्पर्या संस्कृता । प्रकृतिभूताया वर्णलोपान्यथाभावादि-क्रमेण आयाता प्राकृति । यदाहुः-

'तद्भवस्तत्समो देशी त्रिविधः प्राकृतक्रमः' । इति ।

अपभ्रष्टा देशभाषा विचित्राः । अनुनासिका नासिकामनुगता गीयमानाक्षररूपा वर्णाङ्गमिति प्रसिद्धा ।

छेदनं भेदनं दानं व्यधनं शिल्पयोजनम् ।।१०।।
ग्रहणं विजयश्चैव सर्वं हस्तेन्द्रिये स्थितम् ।

छेदनं रज्ज्वादिषु । भेदः शरादिकृतो लक्ष्याधिष्ठः । विजयो युद्धम् । विजयी इति वा पाठः ।

समनिम्नोन्नताश्चैव लोष्टकण्टकवालुकाः ।।११।।
कर्दमो जलदुर्गाणि रथ्याट्टालकपर्वताः ।
पादेन्द्रियेण गम्यन्ते देशान्तरगमागमे ।।१२।।

नहीं है । इसे विदेशज वाक्य भेद कह सकते हैं । गीयमानाक्षर रूपा तो सभी वाणियाँ होती हैं । व्युत्पत्ति के अनुसार भी यह नाम उचित नहीं लगता । वर्णाङ्ग विशेषण भी व्यर्थ का विशेषण है । फिर भी यह भगवद्वाक्य है । इसे इसी रूप में जान-कर आधुनिक वाग्भेदों से भी परिचित होना चाहिये ।

'संस्कृता' नामक दैवी वाक् महर्षियों द्वारा आख्यात है, यह परिभाषा आचार्य भर्तृहरि की है । प्रकृति से प्राप्त प्राकृती वाक् होती है । प्राकृती वाक् में ही कुछ विद्वान् तद्भव, तत्सम और देशज शब्दों का ही अन्तर्भाव करते हैं ।

अपभ्रष्टा देश भाषा होती है और अनुनासिका नासिका से अनुगत होती है । वर्णाङ्ग के रूप में यह आचार्य क्षेमराज के समय प्रसिद्ध रही होगी ।

२-कर्मेन्द्रियों का पहला भेद वाक् है । इसके विषय में समास से कुछ कहा गया । यहाँ-हस्तेन्द्रिय (पाणि) के विषय में बता रहे हैं-

१-छेदन, २-भेदन, ३-दान, ४-व्यधन, ५-शिल्पयोजन, ६-ग्रहण, ७-विजय ये कार्य हस्तेन्द्रिय से सम्पन्न होते हैं । व्यधन बहेलियों का काम है । भेदन और शिल्पयोजन बढ़ई का है और ३-विजय योद्धा का है ।।९-१०।।

३-पादेन्द्रिय के द्वारा सम, निम्न, उन्नत भूमियों पर लोष्ट कण्टकाकीर्ण और बलुकामयी भूमियों पर, कीचड़ जलदुर्ग, रथ्या, अट्टों, पर्वतों आदि पर

देशान्तरगमनागमननिमित्तं समनिम्नादिस्थानानि पादेन्द्रियेण गम्यन्ते ॥१२॥

उत्सर्गे पर्दिते चैव पायुर्वै चेष्टते सदा ।

उत्सर्गो मलमोक्षः । पर्दितं गुदरन्ध्रेण कुत्सितशब्दः ।

आनन्दकृदुपस्थश्च गम्यागम्यप्रवर्तकः ।।१३।।

आनन्दकृत्त्वादेव विहितानिषिद्धादौ सर्वत्र प्रवर्तनमस्य स्वभावः, अत एव तन्नियमः शास्त्रे क्रियते ॥१३॥

तदित्थम्–

कर्मस्वेतानि वर्तन्ते तेन कर्मेन्द्रियाणि तु ।

यथा च एतानि ईदृंशि, तथा–

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि वर्तन्ते बुद्धियोगतः ।।१४।।

बुद्धेर्ज्ञानस्य योगः सम्बन्धस्तत्र तन्निमित्तं प्रवर्तन्ते ॥१४॥

तत्र वितत्य शब्दाख्यविषयप्रभेदनिरूपणपूर्वं श्रोत्रेन्द्रियस्य तदुपलब्धि-साधनत्वमाचष्टे–

षड्जाख्यर्षभगान्धारमध्यमाः पञ्चमः प्रिये ।
धैवतो निषधश्चैव स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ।।१५।।

चलना चढ़ना उतरना आदि काम सम्पन्न होते हैं । देश देशान्तर में इसी के माध्यम से आया जा सकता है ॥११-१२॥

उत्सर्ग और पर्दन तथा अश्विनी क्रिया पायु का काम है । उपस्थ मूत्रोत्सर्ग, स्त्री सम्भोग (विहित या निषिद्ध) (गम्य या अगम्य) दोनों जगह आनन्द प्रदान करता है ॥१३॥

चूँकि ये कर्मों में ही प्रवर्त्तित हैं । इसलिये इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं । इसी तरह बुद्धि के योग से ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं ॥१४॥

ज्ञानेन्द्रियाँ- श्रोत्र–

शब्द के विषय में पहले कहा भी गया है । श्रोत्रेन्द्रिय से ही इनकी उप-लब्धि होती है । अतः शब्दोपलब्धि साधन होने के कारण सर्व प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में कह रहे हैं–षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषध ये सात स्वर माने जाते हैं ॥१५॥

गान्धारो मध्यमः षड्जस्त्रयो ग्रामाश्च पार्वती ।

इत्थम्-

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशतिः ।।१६।।
तान एकोनपञ्चाशदित्येतत्सुरमण्डलम् ।

तदित्थम्-

सूक्ष्मशब्दाः स्मृता ह्येते चराचररवस्थिताः ।।१७।।

सूक्ष्मध्वनिमात्ररूपाः, अत एव चराचरे सर्वत्र रवरूपतया ध्वनिमात्रावस्थिताः ।।१७।।

अथ-

स्थूलांश्चैव प्रवक्ष्यामि यथावत्तान्निबोध मे ।
भेरीपटहशङ्खोत्था मृदङ्गपणवोत्थितः ।।१८।।
वेणुगोमुखशब्दश्च मन्दलो दर्दुरो ध्वनिः ।
तन्त्रीवाद्यानि चित्राणि करवाद्यानि यानि च ।।१९।।
संयोगजवियोगोत्थाः काष्ठपाषाणवारिजाः ।
अपभ्रंशोऽनुनासिक्यः संस्कृतः प्राकृतो रवः ।।२०।।

संयोगजा हुडुक्कादिहस्तसंगोत्थाः, विभागजास्तु दलादिविश्लेषोदिताः ।।२०।।

गान्धार, मध्यम और षड्ज ये तीनों 'ग्राम' कहे जाते हैं । इसी तरह संगीत शास्त्र में इक्कीस मूर्च्छनायें होती हैं ।।१६।।

इसी तरह ४९ तान माने जाते हैं । इतना यह वाग्द्वारा विनि:सृत और कलाकलित संगीतज्ञों द्वारा गाये जाने पर गले और मुख से निकलने वाली कर्ण प्रिय, श्रुति मधुर सुर, रागिनियों की तान कहलाती हैं ।

ये सभी सूक्ष्म शब्द हैं । चराचर के 'रवों' में अवस्थित रहते हैं । सूक्ष्म शब्द अर्थात् सूक्ष्म ध्वनियाँ हैं । 'रव' रूप से अर्थात् रागिनी रूप से अवस्थित रहती हैं ।।१७।।

जहाँ तक स्थूल शब्दों का प्रश्न है, वे इस प्रकार हैं । जैसे, भेरी, पटह, शङ्ख, मृदङ्ग, पणव से निकले शब्द स्थूल होते हैं ।।१८।।

वेणु, गोमुख, मन्दल, दर्दुर ध्वनि, तन्त्रीवाद्य, हाथ से बजाये जाने वाले ढोलक, झाल आदि वाद्यों के सभी स्थूल शब्द हैं ।।१९।।

संयोग और वियोगज ताली आदि ध्वनियाँ, काष्ठ, पाषाण और जल से उत्पन्न अपभ्रंश और अनुनासिक संस्कृत या प्राकृत रव ये सभी स्थूल शब्दों की श्रेणी में आते हैं ।।१९-२०।।

तदित्थम्–

सप्तस्वरप्रतिष्ठानि व्यक्ताव्यक्तानि चैव हि ।
उक्तानुक्तानि गृह्णाति श्रवणेन्द्रिययोगतः ।।२१।।

वाद्यसंस्कृताद्यात्मकानि सर्वाणि शब्दरूपाणि सप्तस्वरात्मकध्वनिविशिष्ट-निष्ठानि श्रोत्रेण पुरुषो गृह्णाति ॥२१॥

ततश्च–

शब्दोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।

एष प्रोक्तरूपः सर्वः शब्दोऽस्य श्रवणेन्द्रियस्य विषयः । कस्य अस्येति । आह येन पुद्गलः पुमान् बुद्ध्येत जानीयात् । एवमुत्तरत्रापि संगतिः कार्या ।

मृदुं च कठिनं चैव कर्कशं शीतलं तथा ।।२२।।
उष्णं च पिच्छिलं लोष्टं कर्दमं वालुकास्तथा ।
शरकुन्तासिघातादि ताडनं छेदनं तथा ।।२३।।
एतानि वै विजानाति स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियम् ।

स्पर्शनं सद् जानाति स्पर्शनक्रमेण वेत्तीत्यर्थः ।

तदित्थम्–

स्पर्शोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।।२४।।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि, वाद्य संस्कार आदि से व्यक्त या अत्यक्त रूप से सुनी जाने वाली ध्वनियाँ, उक्त या अनुक्त सभी प्रकार के शब्द श्रवण इन्द्रिय योग से सुने जाते हैं । श्रवण ग्राह्य शब्द श्रोत्रेन्द्रिय साधन से ही कोई भी ग्रहण कर सकता है ॥२१॥

श्रोत्र का विषय शब्द ही है । शब्द जानकारी का साधन है । इसी से अर्थज्ञान होता है । पुद्गल पाशबद्ध पुरुष को शब्द के माध्यम से विषयों की जानकारी होती है । इस अवसर पर यह ध्यातव्य है कि, शब्द और अर्थ शिव-शक्ति रूप ही होते हैं ।

२–स्पर्श–त्वक्

स्पर्शन क्रिया की सक्रियता में व्यापृत इन्द्रिय का नाम त्वगिन्द्रिय है । यह इन्द्रिय, मृदुल, कठिन, कर्कश, शीतल, उष्ण, पिच्छिल, लोष्ठ, कर्दम, बालुका, शर, कुन्त और तलवार का आघात, ताडन, छेदन इन सबका ज्ञान करती है और कराती है । त्वगिन्द्रिय का विषय ही स्पर्श है । पुद्गल पुरुष को इसी इन्द्रिय द्वारा यह ज्ञान होता है ॥२२-२४॥

अथ–

चतुरिन्द्रियकर्माणि कथ्यमानानि मे शृणु ।
सितं रक्तं पीतं च कृष्णं हरितधूम्रकम् ।।२५।।
कपिलं पिङ्गलं बभ्रु अन्यान्यपि विशेषतः ।

रूपाणि । तथा–

नरनारीपशुमृगाञ्ज्योतिःस्थावरजंगमम् ।।२६।।

तदित्त्थम्–

रूपाकृतिविविक्तानि चक्षुः पश्यति सर्वदा ।

रूपं सितादि, आकृतिः संस्थानम्, ताभ्यां विविक्तानि विलक्षणानि वस्तूनि चक्षुः पश्यतीत्यस्य कर्तृत्वमुपचरितम् ।

तदेवम्–

रूपाख्यो विषयो ह्यस्य येनात्मा प्रतिबुद्ध्यते ।।२७।।
मधुराम्लरसं चैव लवणं कटु तिक्तकम् ।
कषायमिश्रं स्वादुं च जिह्वा वेदयते रसम् ।।२८।।

इत्त्थम्–

रसोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।
सुरभिर्दिव्यगन्धश्च दुर्गन्धश्चाप्यनेकधा ।।२९।।

३–चक्षु–इसके बाद चक्षु इन्द्रिय का क्रम आता है । यह तेजस् तत्त्ववती इन्द्रिय है ।

इसके माध्यम से श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, हरित, धूम्र, कपिल, पिङ्गल, बभ्रु, शबल आदि वर्णों का ज्ञान होता है । नर, नारी, पशु, मृग, ज्योति, स्थावर जङ्गम सभी के रूपों और उनकी आकृतियों का ज्ञान इसी इन्द्रिय द्वारा होता है । रूप ही इसका विषय है । इसे देखकर आत्मा में प्रतिबोध का उदय होता है ॥२५-२७॥

४–रसना–मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और मिश्र इन छः या मिश्र को मिलाकर सात रसों का आस्वाद जीभ से ही होता है । इसका विषय ही रस है । पुद्गल पुरुष जीभ से इनके आस्वादन का आनन्द प्राप्त करता है ।

५–पाँचवीं इन्द्रिय (ज्ञान) नासिका है । इसका विषय गन्ध है । इस इन्द्रिय के माध्यम से, सुरभि का ज्ञान होता है । दिव्य गन्धों की पहचान होती है । दुर्गन्ध और सुगन्ध का अन्तर इसी से पता चलता है । इसके अतिरिक्त भी सभी प्रकार के पुष्पों की गन्ध पहचान में आ जाती है । शरीरादि में बद्ध अभिज्ञान

उभौ जिघ्रति नासाग्रे

नासा कर्त्री अग्रे स्थितावुभौ जिघ्रति । अतश्च अस्य अयम्–

विषयो गन्धसंज्ञितः ।

येनासौ बुद्ध्यते क्षेत्री अहङ्कारेण मोहितः ।।३०।।

शरीरादौ बद्धाभिमानत्वादेव व्यतिरेकेण विषयान्वेत्ति । एतच्च पूर्वत्रापि सम्बन्धनीयम् ।

सङ्कल्पे च विकल्पे च दशधाक्षेषु धावति ।

अनिवारितसन्देहमजय्यं सर्वदेहिनाम् ।।३१।।

मनश्च कथितं ह्येतद्धर्माधर्मनिबन्धकम् ।

बुद्धिकर्मेन्द्रियविषये य इदं श्रितमिदमादधे इति सङ्कल्पः, यश्च इदमीदृश-मिति निश्चयात्मा विकल्पः । अत्र धावति यथा तथा प्रवर्तते । अत एव एतद् अनिवारितसन्देहं सर्वत्र ससंशयम्, ज्ञानयोगं विना यद् न केनचिज्जेतुं पार्यते, धर्माधर्माभ्यां निबध्नातीति तन्निबन्धकं तत्सङ्गमकृत् ।

अथ इन्द्रियकार्यरूपाद्युपलब्ध्यनुसारेण देहे तन्मात्रावस्थितिं दर्शयितुमाह–

स्वरूपधर्मं वक्ष्यामि तन्मात्राणां यथार्थतः ।।३२।।

अर्थः प्रयोजनं तदनुसारेण तन्मात्राणां स्वरूपमुपागतनियताश्रयावस्थितिरूपं धर्मं स्वभावं वच्मि ।।३२।।

के आधार पर ही ज्ञानेन्द्रियाँ काम करती हैं । इसमें जानने का अहङ्कार भी सम्मिलित है । पुरुष इसी तरह विषयों का बोध करता है । इस विषय में साधक को सावधान रहना चाहिये ।।२८-३०।।

अब मन के विषय में बतला रहे हैं । संकल्प, विकल्प तथा इन्द्रियों के दश प्रकार के विषयों में मन दौड़ता रहता है । इसके चाञ्चल्य के कारण इसके सन्देह का कभी भी निवारण नहीं हो पाता । यह ज्ञान योग के विना किसी के द्वारा विजित नहीं किया जा सकता ।

मन धर्म के द्वारा भी बन्ध में डालता है और अधर्म के द्वारा भी । इसलिये लिखा है कि, धर्म और अधर्म दोनों से अज्ञानियों को और भी सन्तप्त करता है ।।३१।।

यहाँ से तन्मात्राओं के यथार्थ धर्म स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं । वस्तुतः अर्थ प्रयोजन को कहते हैं । प्रयोजन के अनुसार ही उनकी नियत आश्रय में अवस्थिति रूप धर्म का वर्णन कर रहे हैं ।।३२।।

तत्र–

गन्धं तु गन्धतन्मात्रं नासिकाग्रेण जिघ्रति ।
जिह्वया रसतन्मात्रं रसं गृहणाति संस्थितम् ।।३३।।
चक्षुषा रूपतन्मात्रं रूपं गृहणात्युपागतम् ।
गृहणाति स्पर्शतन्मात्रं त्वचा स्पर्शमुपागतम् ।।३४।।
शब्दं च शब्दतन्मात्रं गृहणाति श्रवणेन तु ।

गन्धादिप्रतीतिसाधनघ्राणादीन्द्रियाश्रयनासिकादिक्षेत्रगतमदृष्टवशादुद्भूत-गन्धतन्मात्रादिकं कर्तृ तेनैव घ्राणादिना गन्धादिगुणं गृहणातीति संगतिः । अत्र च अयमाशयः–यदाहङ्कारिकत्वाद् व्यापकत्वेऽपि इन्द्रियाणां गन्धतन्मात्राद्यवस्थिति-नियमितं नासिकादिक्षेत्रमभिव्यक्तिस्थानमिति, तत एव समुद्भूतवृत्तिगन्धतन्मात्र-नियन्त्रिता गन्धस्योपलब्धिर्भवतीति नियमिततन्मात्रोपरक्ताहङ्कारिकत्वमिन्द्रियाणाम्, अन्यथा साङ्ख्यवत्केवले आहङ्कारिकत्वे नियतविषयसम्बन्धो न घटते, नैयायिकवद्वा केवलभौतिकत्वे तु अहंप्रतीत्यनुगमो न स्यात् ।

एतदुपसंहरति–

सूक्ष्मस्तन्मात्रधर्मोऽयं भूतानां प्रकृतिक्रमात् ।।३५।।

गन्ध की प्रतीति का साधन नासिका है । यह उद्भूत गन्ध तन्मात्र का ग्रहण करती है । अर्थात् नासिका के अग्रभाग से इसे सूँघ लेती है । जिह्वा रसतन्मात्र का ग्रहण करती है अर्थात् पदार्थ में अवस्थित रस का स्वाद ले लेती है ।।३३।।

नेत्र इन्द्रिय अपने नेत्र अवयव द्वारा उपागत रूप का ग्रहण कर लेती है । इसी तरह स्पर्श तन्मात्र का ग्रहण त्वक् इन्द्रिय करती है । यह त्वक् का लक्षण है कि, मृदु आदि स्पर्शों का अनुभव कर लेती है । इसी तरह शब्द शब्दतन्मात्र का विषय श्रवण इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है ।

वास्तविकता यहाँ यह है कि, यह सारी प्रक्रिया आहङ्कारिक है । फलतः इसकी त्यापकता के सन्दर्भ में इन्द्रियों में गृहीत गन्ध आदि तन्मात्राओं की स्थिति नियमित हो जाती है और इनकी इन्द्रियों के अवस्थान से अभिव्यक्ति होने लगती है ।

जैसे नासिकाग्र से गन्ध की अभिव्यक्ति श्रोत्र से शब्द की अभिव्यक्ति, रसना से रस की अभिव्यक्ति नियमित है । तन्मात्र नियन्त्रिता ही विषयाभिव्यक्ति होती है और इनकी उपलब्धि होती है । इस तरह तन्मात्रा से उपरक्त आहङ्कारि-कता इन्द्रियों में नियमित रूप से बनी रहती है ।

यतो भूतानां प्रकृतयस्तन्मात्राणि तत एव तत्तत्तन्मात्राधिष्ठिततत्तदिन्द्रिय-कारणकपृथिव्यादिभूतगतगन्धादिगुणोपलब्धिर्भवतीत्ययमिन्द्रियगताना तन्मात्राणां सूक्ष्मः सर्वजनासञ्चेतितो धर्मोऽस्ति ॥३५॥

देहे अहङ्कारस्थितिं दर्शयति–

वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वं बुद्ध्यते येन पुद्गलः ।
अहं विद्वानहं भोगी त्वहं जातो महाकुले ।।३६।।
अहं दाता च भोक्ता च तेजस्वी बलवानहम् ।
अहं योद्धा च संग्रामे शत्रवश्च मया जिताः ।।३७।।
धर्मशीलश्च गुणवान् श्रेयस्कर्ता ह्यहं परम् ।
अहं पापी दुराचारो मूर्खश्चाहं दुराकृतिः ।।३८।।
न दत्तं न मया भुक्तं मत्समो नास्ति दुःखितः ।
इत्यहङ्कारचित्तानां ममत्ववशवर्तिनाम् ।।३९।।
अहङ्कारो निबध्नाति संसारे दृढबन्धनैः ।

विद्वान् बोद्धा पापी–इत्यादिसात्त्विक्यादिप्रतीतिरूपैः संसारहेतुभिःदृढैर्बन्धनै-रहङ्कारो निबध्नाति जनान् । ऊर्ध्वमिति एतावदन्ततत्त्वव्यापकत्वेन ।

सांख्य केवल आहङ्कारिक सम्बन्धाभिव्यक्ति मानता है । तन्त्रागम नियत विषय सम्बन्ध भी स्वीकार करता है । न्याय मतवादी केवल भौतिक प्रतीति मानता है । ऐसी स्थिति में अहं प्रतीत्यनुगम बाधित हो जायगा । इसलिये कहा जा सकता है कि, इन्द्रियों की विषय स्थिति नियमित हैं । अतः इस भाव से तन्मात्राओं की आहङ्कारिक अभिव्यक्ति होती ही रहती है ।

इसलिये निर्णयात्मक रूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि, तन्मात्र ही विषयों की प्रकृति हैं । या विषयों की प्रकृति तन्मात्र हैं । वहीं से उन उन तन्मात्राओं में अधिष्ठित, उन उन विषयों की इन्द्रियों के कारण उन गुणों की उपलब्धि होती रहती है । इस तरह इन्द्रिय गृहीत तन्मात्राओं की धर्मवृत्ति बड़ी सूक्ष्म होती है । उसकी प्रतीति सबको नहीं होती ॥३४-३५॥

वैकारिक और राजस् आहङ्कारिकता से प्रभावित पुद्गल पुरुष यह समझने लगता है कि, मैं विद्वान् हूँ, भोगी हूँ । मेरा जन्म महान् कुल में हुआ है । मैं दाता हूं । भोक्ता हूँ, तेजस्वी और बलवान् हूँ । योद्धा हूँ, संग्राम में शत्रुओं का संहार करने में समर्थ हूँ ॥३६-३९॥

धर्मशील, गुणवान्, कल्याणकारी मुझसे बढ़कर कोई नहीं । कोई अपने को पापी, दुराचारी, मूर्ख और कुरुप हूँ । मेरे द्वारा कोई दान कर्म नहीं किया गया ।

तदित्त्थम्-

त्रिविधस्याप्ययं धर्मोऽहङ्कारस्य प्रकीर्तितः ।।४०।।

यत्तु वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वम् इत्युक्तम्, तदहङ्कारस्य राजसताप्राधान्य-दर्शनाय ।।४०।।

अथ धर्ममुखेन धर्मिरूपाया बुद्धेर्देह सत्तामाह-

बुद्धिधर्मांस्ततो वक्ष्ये धर्मादीस्तव सुव्रते ।

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुष्टयम् ।।४१।।

अधर्मश्च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ।

एषां मध्यात्-

बध्नाति सप्तधा सा तु ज्ञानभावेन मोहयेत् ।।४२।।

साङ्ख्यसिद्धानिति अर्थात् ।।४२।।

एषा च इत्थं मुख्यतया लक्ष्यत इत्याह-

बुद्धिश्चाध्यवसायं च करोति विविधेष्वपि ।

वस्तुषु ।

धर्मादीनामथाष्टानां लक्षणानि शृणु प्रिये ।।४३।।

मेरे समान दुःखी संसार में कोई नहीं । ये भाव वैकारिक अहङ्कारी चित्तवालों के होते हैं । ये सभी मोह और ममता के वशवर्त्ती होते हैं । ऐसे लोगों को अहङ्कार दृढ़व्रत बन्धन में बाँध लेता है । इस विषय में यहाँ तक कहा जा सकता है कि, तीनों प्रकार के अहङ्कारों की ऐसी ही वृत्तियाँ होती हैं । अहङ्कारी की ऐसी ही सोच होती है । वैकारिक के ऊर्ध्व में राजस ही होता है ।।४०।।

यहाँ से बुद्धि के धर्मों की चर्चा कर रहे हैं । ये वस्तुतः ८ होते हैं । बुद्धि ही यहाँ धर्मी है । धर्मी के ही ये धर्म है । क्रमशः इनकी यह संज्ञा है । १-धर्म, २-ज्ञान, ३-वैराग्य, ४-ऐश्वर्य, ५-अधर्म, ६-अज्ञान, ७-अवैराग्य और ८-अनैश्वर्य ।।४१।।

बुद्धि इनमें से सात के द्वारा बन्धन प्रदान करती हैं । ज्ञान के द्वारा यह मोह और ममत्व का प्रसार करती है । इसमें ज्ञान एक ऐसा धर्म है, जो जगत्परक होने पर मोहक होता है और ईश्वर परक होने पर वैराग्य उत्पन्न करता है ।।४२।।

बुद्धि का काम है-अध्यवसाय । गीता में भगवान् ने कहा है कि, व्यवसायात्मिका ही बुद्धि होती है । यह वैविध्यपूर्ण भेदवाद पर दृष्टि रखती है । इसी के ये आठों धर्म हैं । उनके सम्बन्ध में मैं तुम्हें बता रहा हूँ ।।४३।।

तत्र–

उपवासो जपो मौनमक्रोधोऽस्तेयमार्जवम् ।
सत्यं शौचं च दानं च दया क्षान्तिश्च सर्वदा ।।४४।।
विद्याभ्यासश्च लज्जा च इन्द्रियाणां च निग्रहः ।
इष्टापूर्तं तीर्थसेवा पितॄणां चैव तर्पणम् ।।४५।।
अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो जीवितस्य च रक्षणम् ।
धीगुणः प्रथमो ह्येष धर्म इत्यभिधीयते ।।४६।।

इह यः पूर्वम्–

'अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता' ॥ (११।१४५)

इत्येवं दशविधो धर्म उक्तः, तस्यैव सप्रपञ्चभङ्ग्यन्तरप्रतिपादनमेतत् । तथा च इन्द्रियाणां निग्रहो ब्रह्मचर्यस्य प्रपञ्चोक्तिः । लज्जा उपवासो जपो मौनं दानं दया क्षान्तिरिष्टापूर्तादित्रयं च अकल्कतायाः प्रपञ्चः । विद्याभ्यासो जीवितरक्षा च गुरुशुश्रुषायाः फलम् । सर्वसत्त्वाभयमहिंसारूपम् । स्तेयवर्जनक्षान्ती सन्तोषार्जवरूपे ॥४६॥

---

१. धर्म का लक्षण–

उपवास, जप, मौन, अक्रोध, अस्तेय, आर्जव, सत्य, शौच, दान, दया, सर्वदा क्षान्ति, विद्याभ्यास, लज्जा, इन्द्रियनिग्रह, इष्टापूर्त्त, तीर्थ सेवा, पितृतर्पण, सभी प्राणियों से अभय, जीवन की रक्षा, इतने बुद्धि के ऐसे गुण हैं, जिन्हें धर्म के अन्तर्गत मानते हैं ।

पटल ११।१४५ के अनुसार अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, सन्तोष, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकल्कता रूप दशधा धर्म का लक्षण माना गया है । इन्हीं दश गुणों का विस्तार पूर्वक वर्णन उक्त श्लोक में किया गया है । इन्द्रिय निग्रह में तो सभी निहित हैं । ब्रह्मचर्य इन्द्रिय निग्रह के ही परिणाम रूप में प्रतिफलित होता है ।

लज्जा, उपवास, जप, मौन, दान, दया और क्षान्ति तथा इष्टापूर्त्त, तीर्थ सेवा और पितृतर्पण ये अकल्कता के ही प्रपञ्च हैं । विद्याभ्यास और जीवन रक्षा गुरुशुश्रूषा के ही फल माने जाते हैं । सर्वसत्त्व से अभय अहिंसा का ही विस्तार मात्र है । अस्तेय और क्षान्ति ये दोनों आर्जव के अन्तर्गत आते हैं ॥४४-४६॥

तदित्थम्–

धर्मकर्मनिबद्धानां संसारमनुवर्तिनाम् ।
पुनर्मार्त्यं पुनः स्वर्ग्यं तिर्यक्त्वं च पुनः पुनः ।।४७।।

भवतीति शेषः ।।४७।।

एवम्–

धर्मभावः समाख्यातः

इदानीम्–

ज्ञानभावं च मे शृणु ।

भावं बुद्धिधर्मम् । तमेव स्फुटयति–

चतुर्विंशतिकः पिण्डः करणेन्द्रियसंयुतः ।।४८।।
प्राकृतः स तु विज्ञेयो धर्माधर्मप्रवर्तकः ।

मनोवाक्कायव्यापारैर्धर्माद्यर्जकः ।

अकर्ता निर्गुणश्चाहं

तेन प्रकृतिभिन्नस्य–

न मे बन्धोऽस्ति प्राकृतः ।।४९।।

धर्म के इन कर्मों के समान आचरण करने वाले लोग संसार के ही अनुवर्त्ती माने जाते हैं । इन्हें बराबर मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ता है । कभी स्वर्ग लोक का आनन्द ऐसे लोग प्राप्त करते हैं । कर्मानुसार तिर्यग्योनि भी इन्हें मिलती है ।।४७।।

२. ज्ञान–

यही उक्त धर्म भाव का स्वरूप है । ज्ञान भाव के विषयों को बता रहे हैं । भाव का अर्थ भी बुद्धि का धर्म ही होता है । यह पिण्ड चतुर्विंशतिक माना जाता है । २५ तत्त्व ही सांख्य के अनुसार परिगणित हैं । यह पिण्ड २४ तत्त्वों तक सीमित है । इसमें अन्तःकरण और इन्द्रियाँ ही मुख्य अङ्ग हैं । इसलिये इसे प्राकृत कहते हैं । इससे धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कार्य होते रहते हैं । मन, वाक् और शरीर से वे सभी कार्य होते रहते हैं । इन्हीं सन्दर्भों में मनुष्य जीवन यापन करने के लिये बाध्य होता है ।

इसी में ज्ञान का प्रकार उदित होता है । जीव यह सोचने लगता है कि, मैं इन कार्यों का करने वाला नहीं वरन् अकर्त्ता हूँ । गुणों को अतिक्रान्त कर विराजमान गुणातीत तत्त्व हूँ । मैं प्रकृति से भिन्न हूँ । मैं निर्बन्ध मुक्त तत्त्व हूँ । मैं प्राकृत नहीं हूँ ।।४८-४९।।

केवलमिदं सर्वम्–

प्रकृत्या कारितं मन्ये

बुद्ध्यादिद्वारेण प्रवर्तितमिति निश्चिनोमि । तदीदृशविवेकज्ञानोत्थात्–

वासनादेव मुच्यते ।

वासनं संस्कार: । मुच्यत इति साङ्ख्यभिक्षु: ।

तदेतत्–

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं प्रकृतेर्येन मुच्यते ।।५०।।

कतिपयं कालं पृथग्भवति ।।५०।।

अथ–

मुक्तं प्रकृतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।

स च–

बद्धः संसरते भूयो यावद्देवं न विन्दति ।।५१।।

मैं यह निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि, यह सब उक्त धर्म प्रकृति द्वारा ही कराये जाते हैं । मैं इनसे पृथक् परम पुरुष रूप तत्त्व हूँ । इस प्रकार विवेक पूर्ण बोध जीव में जिस समय जागृत होता है, वह उसके सौभाग्य का ही क्षण होता है । भगवान् कहते हैं कि, इस प्रकार के 'वासना' अर्थात् संस्कार से जीव बन्धन मुक्त हो जाता है । यही सांख्य शास्त्रीय ज्ञान है । इसके द्वारा प्रकृति से मुक्त हो जाता है । यह शाश्वत मुक्ति नहीं है । कुछ दिनों के लिये प्रकृति से भले ही पृथक् हो जाये ।।५०।।

प्रकृति के बन्धन से कुछ समय तक मुक्त जीव को ईश्वर पुन: बन्धन प्रदान करते हैं क्योंकि, प्रकृति के कर्मों के संस्कार तो उसे घेरे ही रहते हैं । इस प्रकार पुन: कर्मबन्ध में आया जीव तब तक संसरण करने के लिये बाध्य हो जाता है, जब तक देवाधिदेव विषयक पूर्णज्ञान उसे नहीं हो जाता । वही देव स्वयम् ईश्वर हैं । वस्तुत: प्रकृति तो जड़ होती है । इसमें कर्त्तृत्व नहीं होता । पुरुष का उससे अभ्युपगम न रहने से संसर्ग की अवस्था में भी जगत् का उदय न हो, इसके लिये बन्ध और मोक्ष के निर्माता ईश्वर का ज्ञान आवश्यक होता है । इस तरह सांख्य शास्त्रीय ज्ञान के होने के बावजूद भी मुक्त होने वाला जीव पुन: प्रत्यावर्त्तित होता है क्योंकि, उसमें वास्तविक तत्त्व ज्ञान का उदय नहीं हो पाता है ।।५१।।

ईश्वरं सृष्टिकर्तारं सर्वजन्तुनिबन्धकम् ।

प्रकृतेर्जडाया: कर्तृत्वाघटनात् पुंसस्तदनभ्युपगमात् संसर्गेऽपि जगदुदयो न स्यादिति तयोर्बन्धमोक्षनिर्मातारं यावदीश्वरं न लभते तावत्साङ्ख्यमुक्तोऽपि पुन: प्रत्यावर्तते तत्त्वज्ञानानुदयात् ।

वैराग्यं लक्षयितुमाह–

वैराग्यात्सन्त्यजेत्पुत्रान्दारानिष्टान्सुसम्मतान् ।।५२।।
हस्त्यश्वरथयानानि सुहृद्भोगधनानि च ।

सुष्ठु सम्मताननुकूलान् । किञ्च–

उपवासं जपं तीर्थं पञ्चाग्निं जलशायिताम् ।।५३।।
उपास्यैतानि घोराणि देहं सन्त्यजति क्षणात् ।

दक्षिणाग्न्याहवनीयगार्हपत्यौपसदिकसावित्राख्याग्निपञ्चमध्यावस्थानं ग्रीष्मे पञ्चाग्न्याख्यं तप: । एतानीति तपांसि ।

कथं त्यजतीत्याह–

गिरिवृक्षजलाग्निभ्य: प्रहारोद्बन्धनाशनै: ।।५४।।

गिर्यादीनाश्रित्येत्यर्थ: । वृक्ष: प्रयागादिस्थितो वट: । आशनमशनमाङ्पूर्वस्य अश्नाते: प्रयोग: ।

तदेवंप्रायाणि अन्यानि अपि–

वैराग्यं तु समाश्रित्य कुरुते साहसान्यपि ।

---

३. वैराग्य का लक्षण–

वैराग्य से पुत्र स्त्री आदि उसके लिये इष्ट नहीं रह जाते । यद्यपि वे सुसम्मत होते हैं फिर भी उनमें उसका राग नहीं रह जाता । हस्ती, अश्व, रथ, यान, सुहृत्, मित्र, भोग के साधन और धन आदि का परित्याग कर अपने को भगवत्सत्ता में अर्पित करना वैराग्य से ही होता है । अपने में वैराग्य महत्त्वपूर्ण धर्म है ॥५२॥

इसी के साथ उपवास, जप, तीर्थ, पञ्चाग्नितप, जलधारणा आदि की उपासना और घोर तपस्या करने में व्यक्ति लगा रहता है और क्षण मात्र में ही शरीर का परित्याग कर देता है । कभी पर्वत से गिर कर, कभी वृक्ष से दबकर कहीं जल में डूबकर और आग से जलकर शरीर का त्याग कर देता है । अपनी इस विवशता को जानकर उसे और विराग हो जाता है ॥५४॥

कभी बैठे सोते जागते प्रहार से मर जाता है । कभी बन्धन से और कभी भोजन से या बन्ध में नाश से ही मरता है । इन विवशताओं के कारण भी शरीर

ऐश्वर्यभावमापन्नो द्रव्यैस्तृप्तिं न गच्छति ।।५५।।
न दारैर्न धनैर्भोगैः परिवारैर्न वाहनैः ।
तपो व्रतानि मन्त्रांश्च ऐश्वर्यार्थे तु साधयेत् ।।५६।।

किञ्च–

युद्धं द्यूतं तथा मायां चौर्यं चानृतहिंसनम् ।
अन्यान्यपि त्वयुक्तानि विस्रम्भच्छलघातिताम् ।।५७।।
ऐश्वर्यभावमापन्नः करोति च बहून्यपि ।

तपोव्रतादीनि सात्त्विकस्य, युद्धादीनि तु राजसस्य, आश्वासहननादीनि तामसस्य अर्थहरणकारणानि ।

धर्मादिचतुष्टयं प्रदर्श्य, अधर्मादीनपि देहिनो दर्शयति क्रमेण–

प्राणिहिंसारतो नित्यं चौरिकानृतदम्भवान् ।।५८।।

का त्याग करता है । यही नहीं वैराग्य का आश्रय लेकर वह कई प्रकार के साहसिक कदम भी उठा लेता है । कहीं अत्यन्त ऐश्वर्य सम्पन्न अवस्था में भी अतृप्ति के कारण परीशानी का अनुभव कर शरीर और संसार को छोड़ने के लिये मृत्यु का वरण कर लेता है ।।५५।।

स्त्री, धन, ऐश्वर्य भोग, परिवार और वाहनों के सारे जीवन संतर्पण के माध्यम इन भोगों से उसे तृप्ति नहीं होती । बहुत से लोग तो इन्हीं ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के लिये, तप का आचरण करते हैं, व्रतों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करते हैं और मन्त्रों के जप और पुरश्चरण आदि भी करते रहते हैं । पर इसका फल क्या होता है ।।५६।।

कहीं युद्ध, जुआ, छलकपट रूप माया, चोरी, झूठ और हिंसा का आश्रय ऐसे लोग लेते हैं । अन्यान्य अयुक्त कामों का सम्पादन जीव करता है । कहीं विश्वासघात जैसा जघन्य पाप भी कर डालता है कि, हमारे ऐश्वर्यभाव में किसी प्रकार की कोई कमी न होने पाये ।।५७।।

इस तरह धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य रूप चार बुद्धि धर्मों के साधन के व्यामोह में पड़ा, इतने अनपेक्षित अपराधों में लिप्त होता है । जब अधर्म आदि का आचरण करता है, तब उसकी क्या गति होती होगी, यह भी विचारणीय है । जब वह धर्म को छोड़ अधर्म को अपनाता है, तो प्राणियों की हिंसा से भी नहीं चूकता । नित्य ही चोरी, डकैती, छिनौती, झूठ और दम्भ में वह डूबा रहता है । कोई दूसरी हितकारिणी बात उसे रुचती ही नहीं ।।५८।।

याचको दुःखदाता च भवेच्चाधर्मचेष्टितम् ।

चौरिका चौर्यम् । प्राणिहिंसारतत्वादि एतदधर्मस्य चेष्टितं भवतीत्यर्थः ।

नास्ति धर्मो न चाधर्मः स्वर्गं मोक्षं च को गतः ।।५९।।

अज्ञानभावमापन्नः सर्वं मिथ्येति भाषते ।

नित्यं दुःखी परप्रेष्यो भारं यानं वहन्नपि ।।६०।।

कृच्छ्रजीवी च सततमवैराग्ये न खिद्यते ।

सतीत्यर्थः ।

राज्यं कृत्वा तु सामन्तः सामन्त्याद्ग्रामभुग्भवेत् ।।६१।।

ग्रामाद्भ्रष्टस्तदर्धेन वर्ततेऽसावनीश्वरः ।

न शोचति न चोद्विग्नः क्रीडते पूर्वराज्यवत् ।।६२।।

अन्त में कभी यह भी दशा आती है कि, वह भिखारी भी बन जाता है । दूसरों को दुःख देने में उसे सुख मिलता है और अधर्ममय व्यापारों में वह लिप्त हो जाता है । धर्म तो अब रहा नहीं और स्वयम् इतना असमर्थ हो जाता है कि, अधर्म में भी अशक्त हो जाता है । धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का । सारा जीवन उसका व्यर्थ हो जाता है । न स्वर्ग न मोक्ष । न राम मिले, और न माया । यही दयनीय चित्र है अधर्मिक पुरुष का ॥५९॥

अज्ञानी की तो बात ही मत पूछिये । जड़ता की प्रतिमूर्त्ति सा झूठ ही का बाना और झूठ का ही चबेना, उसकी नियति हो जाती है । माटी की मूरत सा जड़ता से ही जकड़ा रहता है ।

यही दशा अवैराग्यवान् की भी होती है । नित्य दुःखी दूसरे का हथियार बन जाता है । जीवन उसके लिये भार बन जाता है । भार की सवारी ढोता है । जिन्दगी की गाड़ी भार बनकर खटारा बन जाती है ॥६०॥

ऐसा कठिनाई में जीने वाला वह अवैराग्य में कष्ट से जीता है । इसका उसे खेद तक नहीं होता ।

अनैश्वर्य की दशा तो और भी भयङ्कर होती है । एक राज्याधिकारी सामन्त मात्र गाँव का अधिकारी हो जाय, तो मृत्यु से भी बढ़कर कष्ट होता है । दुर्गा सप्तशती का सुरथ जङ्गल की खाक छानने को लाचार हो गया था ॥६१॥

ग्राम से भी भ्रष्ट होकर वह सामन्त सामान्य सी अनीश्वर जिन्दगी जीने को लाचार हो जाय, उस समय उसकी क्या दशा होती होगी, न वह शोक ही करने लायक रह जाता है और न उद्विग्न ही हो पाता है । किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है । फिर भी रस्सी जल जाती है और ऐठन नहीं जाती ॥६२॥

अनैश्वर्यस्य भावोऽयमेवं ते समुदाहृतः ।

अथ देहस्थम्–

अव्यक्तं त्रिगुणं वक्ष्ये संसारस्य प्रवर्तकम् ।।६३।।

ईश्वरेच्छात इति अर्थात् ॥६३॥

एतस्मादेव–

यस्माच्च जगदुत्पत्तिः प्रकृतिस्तेन चोच्यते ।

एतदेव प्रकर्षेण क्रियते प्रपञ्च्यते बुद्ध्यादिक्ष्मान्तं सर्वमस्यामीश्वरेणेति प्रकृतिः ।

किञ्च देहावस्थितिप्रतीतिहेतुम्–

अस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि रजःसत्त्वतमोऽभिधम् ।।६४।।

तत्र–

प्रकाशभावः सत्त्वं च धर्मः सत्त्वसमाश्रितः ।

प्रकाशभावोऽर्थाकृतिसंवेदनम्, सत्त्वं शुद्धचित्तता यया पूर्वोक्तो धर्मः ।

सत्त्वसम्बन्धादेव यश्च परेषां धनान्नादेः–

संविभागी च सततं नित्यं सत्त्वोपकारकः ।।६५।।

क्षमादयासमायुक्तो ज्ञानविज्ञानपारगः ।

स सात्त्विक इत्यर्थः । सत्त्वोपकारको दानं विनापि वागादिना प्राण्युपकारी ।

यह अनैश्वर्य भाव की भीषणता है । भगवान् कह रहे हैं कि, इन उदाहरणों से व्यक्ति को सावधानी से अपने में सोचना चाहिये ।

यहाँ से भगवान् देह में अव्यक्तरूप से अवस्थित त्रिगुण का वर्णन कर रहे हैं । यही संसार का प्रवर्त्तक माना जाता है । इसीलिये इस सृष्टि को ही त्रिगुणात्मिका कहते हैं । यह ध्यातव्य है कि, सृष्टि के प्रवर्त्तन में ईश्वरेच्छा ही प्रधान कारण होती है ॥६३॥

प्रक्रिया का ही भाव प्रकृति में होता है । प्रकर्ष पूर्वक कार्य का प्रपञ्चन या प्रवर्त्तन (जो पृथ्वी से बुद्धिपर्यन्त प्रवर्त्तित है) इसमें ईश्वर की इच्छा के अनुसार होता है । इसीलिये प्रकृति कहते हैं । इस प्रकृति के तीन धर्म प्रसिद्ध हैं । इन्हें १–सत्त्व, २–राजस् और ३–तमस् कहते हैं ॥६४॥

सत्त्व श्रेष्ठ धर्म है । यह प्रकाशात्मक होता है । प्रकाश का भाव अर्थ के संवेदन में अनुभूत होता है । सत्त्व अर्थात् शुद्धचित्त की चेतना में निहित तत्त्व माना जाता है । इसीलिये इस धर्म को प्रकाश का प्रतिरूप मानते हैं ।

किञ्च–

प्रीतिर्दानं धृतिर्मेधा तपः शौचं दमस्तथा ।।६६।।
ऋतवाक्समदृष्टिश्च दिव्यबुद्धिप्रबोधनम् ।
यस्मिन्नेते सदा धर्मा भवन्ति पुरुषोत्तमे ।।६७।।
स सात्त्विकस्तु विज्ञेयः

समदृष्टिः स्वात्मनि इव परत्र प्रतिपत्तिः । दिव्यबुद्धिः प्रतिभा ।

अथ–

रजोधर्मांश्च मे शृणु ।
निस्त्रिंशश्चातिलोभी च विद्वेषी क्रोधनस्तथा ।।६८।।
कामी हर्षसमाविष्टो दुःखार्तः पर्यटेत्सदा ।
मानी दम्भसमायुक्तोऽप्यहङ्कारे व्यवस्थितः ।।६९।।
नित्यं युद्धरतः शूरः

इसी सत्त्व के सम्बन्ध से अन्य पदाथ जैसे धन और अन्न आदि के साथ भागीदार के रूप में रहता है । सम्यक् रूप से विशिष्ट सहभाव ही संविभाग होता है । यहाँ सत्त्व भाव बना रहता है । सद्‌गुण ही सत्त्व का प्रधान रूप है । सत्त्व से विश्व का उपकार होता है । अतः यह उपकारक माना जाता है । दान आदि के बिना भी सत्त्व गुण ही सत्त्वोपकारक होता है ।।६५।।

सत्त्व में क्षमा का उदय रहता है । दयाभाव का उद्रेक रहता है । इन दोनों से सम्यक् संयुक्त सत्त्वगुण सम्पन्न पुरुष होता है । सात्त्विक पुरुष ज्ञान विज्ञान में पारङ्गत होता है । सत्त्वोपकारक पुरुष दान के विना भी प्राणियों के उपकार में निरत रहता है ।

उसमें प्रीति, दान, धृति, मेधा, तप, शौच, दम, ऋत समदर्शी, दिव्य-बुद्धि (प्रतिभा) और प्रबोध रूप विवेक-ज्ञान जिस पुरुष में होते हैं, वह व्यक्ति पुरुषोत्तम कहलाता है । उसे ही सात्त्विक कहते हैं ।।६६-६७।।

इसके बाद रजस् से अन्वित राजस धर्म के विषय में भगवान् बतला रहे हैं ।

निस्त्रिंश, अतिलोभी, विद्वेष करने वाला, क्रोधी, कामी, अपने किये पर प्रसन्न, जब दुःख आ पड़े तो पीड़ा की अनुभूति से कातर, भ्रमण में रुचि रखने वाला, अभिमानी, दम्भी और घमण्डी होता है । यह सब उसके स्वभाव में निहित रहता है । सबसे झगड़ा मोल लेता रहता है और शूरवीर होता है । यह सब राजसी पुरुष के लक्षण है ।।६८-६९।।

कामी सन् हर्षयुक्तः, न तु सन्तोषसुखवानिति ।

एवंविधो यः, तस्य एतद् निस्त्रिंशत्वादिकम्-

राजसं गुणलक्षणम् ।

अथ-

कामक्रोधाभिभूतत्वं लोभेन च समन्वयः ।।७०।।

ईर्ष्या दम्भो विषादश्च मद उन्माद एव च ।

निद्रालस्यमकर्मित्वं दौर्मेध्याज्ञानिते तथा ।।७१।।

अधर्मताबुद्धिमत्त्वं नास्तिक्यं छलचित्तता ।

एतत्सर्वं तमोगुणरूपम् । अतश्च-

तमः चिह्नानि चैतानि दृश्यन्ते यत्र मानवे ।।७२।।

तामसः स तु विज्ञेयः पुरुषः कलुषाशयः ।

तदित्थम्-

एतत्त्रिगुणमव्यक्तं त्रिगुणं समुदाहृतम् ।।७३।।

एतत् त्रिभिर्गुणैर्युक्तत्वात् त्रिगुणम् ।।७३।।

एतत्सम्यग्विदित्वा तु मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

विदित्वा प्रमेयतया परिच्छिद्य, प्राकृतैर्धर्मैर्मुच्यते प्रकृतिवैव्यक्त्यमेति ।

तामस धर्म और तामसिक पुरुष के लक्षण इस प्रकार हैं–काम और क्रोध से अभिभूत रहता है । लोभ तो उसकी घुट्टी में पिलाया गया होता है । परम ईर्ष्यालु, दम्भी, विषादी और उन्मादी ईर्ष्या, दम्भ, विषाद और मद के दुर्गुणों से भरा रहता है ।

नींद, आलस्य, अकर्मी (कामचोर), अमेध्य (अशुद्ध) और अज्ञानता का वह आश्रय होता है । धर्म विरोध, मूर्खता, नास्तिकता और मन में छल की भावना ये सब तमोगुण के लक्षण माने जाते हैं । ये चिह्न तमोगुण के हैं । ये जिस मनुष्य में दीख पड़ते हैं । ऐसा कलुष आशय वाला पुरुष तामसिक है, यह जानना चाहिये । ये त्रिगुण भाव हैं । अव्यक्त प्रधान में अव्यक्त रहते हुए समय पर व्यक्त होते रहते हैं ।।७०-७३।।

इन गुणों के वास्तविक ज्ञान से, अच्छी तरह जानकारी से व्यक्ति प्राकृत गुणों से मुक्त होकर ऊर्ध्वधाम की ओर अग्रसर हो जाते हैं । सम्यक् वेदन में प्रमेय रूप से सबका परिच्छेद पूर्वक प्रबोध होता है । इस तरह प्राकृत गुणों से मुक्ति मिल

वस्तुतस्तु न स मुच्यते यत एतावती अस्य प्रतीतिर्यदुत–

गुणधर्मा न चैवाहं बुद्ध्यहङ्कृद्गुणो न हि ।।७४।।

करणेन्द्रियहीनश्च भूततन्मात्रवर्जितः ।

अकर्ता निर्गुणश्चाहं चिन्मात्रः पुरुषः स्मृतः ।।७५।।

करणबाह्येन्द्रियाधिष्ठातृसमः । स्मृत इति पुराणादिप्रणेतृभिः । अतश्च अहमकर्ता ।।७५।।

अत एव–

मानसं वाचिकं चैव शारीरं कर्म यत्कृतम् ।

तत्सर्वम्–

प्रकृत्या कारितं मन्ये

प्रकृतिप्रयुक्तैर्मनःप्रभृतिभिः कृतमिति अवैमि ।

एवं च न प्रयोजकत्वम्, नापि मुख्यं कर्तृत्वं पुंसोऽस्तीति कृत्वा–

अकर्ता पुरुषः स्मृतः ।।७६।।

एवं संन्यस्य कर्माणि वर्तते न च नित्यशः ।

नाहं कर्ता न मे बन्ध एवं बुध्येत यो नरः ।।७७।।

जाती है । वस्तुतः यह वास्तविक मुक्ति नहीं होती । हाँ उसे यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि, मैं गुणों के इन धर्मों से ऊर्ध्वस्तरीय बोध से समन्वित पुरुष हूँ, जिसमें बुद्धि अहङ्कार आदि करण ज्ञान को अतिक्रान्त कर व्यक्ति अवस्थित होता है ।।७४।।

करणों और इन्द्रियों की दैहिक क्षमता को अतिक्रान्त कर अधिष्ठाता भाव को प्राप्त पुरुष में पांचभौतिक और तन्मात्र सृष्टि का बन्ध शिथिल हो जाता है । उसमें अकर्त्ता भाव की व्याप्ति हो जाती है । वह यह जान जाता है कि, मैं निर्गुण चिन्मात्र पुरुष हूँ । यह महान् अकर्त्ता का महनीय स्तर है ।।७५।।

मानसिक, वाचिक और शारीरिक जितने कर्म सम्पन्न होते हैं, इनको वह प्रकृति के द्वारा कारित मानने लगता है । अर्थात् इनमें लिप्त नहीं होता । इस तरह न प्रयोजक रह जाता है, न ही मुख्य कर्त्ता रह जाता है । शास्त्र, पुराण और आगम ऐसे पुरुषों को अकर्त्ता पुरुष कहते हैं ।।७६।।

इस तरह एक प्रकार का कर्म सन्यास हो जाता है । वह स्वयं कर्म में प्रवर्त्तित नहीं रह जाता । उसे यह ध्रुवबोध हो जाता है कि, मैं कर्त्ता नहीं हूँ । मेरा बन्ध नहीं है । मैं निर्बन्ध एवं विमुक्त पुरुष हूँ ।।७७।।

प्रकृतेः स विमुच्येत यावन्न सृजतीश्वरः ।

एवमिति वचनेन कर्माणि संन्यस्येति सङ्गतिः ।

प्रकृतिमात्रविवेकमात्मनो मन्यमानः अकर्त्र्या जडायाः प्रकृतेः कर्तृत्वमधिष्ठातुरीश्वरस्य बन्धादिकर्तुश्च अकर्तृत्वं मोहाद् मन्यमानस्तत्त्वाप्रज्ञानात् कश्चित् कालं निवृत्तप्रकृतिसम्बन्धोऽपि न तत्त्वतः प्रकृतिबन्धात् प्रमुच्यते । तदाह–

साङ्ख्यज्ञानेन सम्मूढो मुक्तिरित्यभिमन्यते ।।७८।।

न हि मुक्तिर्भवेत्तस्य कश्चित्कालं विदेहता ।

कश्चित्कालं या विहेहता, सा न मुक्तिर्यतस्तस्मात्साङ्ख्यज्ञानेन मोहितो मुक्तिरिति मिथ्यैव जानाति ।

केवलमेतावज्ज्ञानादसौ–

तिष्ठेत्प्रकृतिनिर्मुक्तः सृष्टिसंहारवर्जितः ।।७९।।

इदमेव अस्य प्रकृतिनिर्मुक्तत्वं यत् प्रकृतिकार्यशरीरादिसर्गसंहारवर्जितत्वम् । एवं च यावदीश्वरः पुंसां भोगाय पुनः सृष्टिं न आरभते, तावदसौ प्रकृतिलीनप्राय एव आस्ते इत्युक्तं भवति ॥७९॥

ऐसा पुरुष प्रकृति से विमुक्त हो जाता है । वह तब तक इसी अवस्था में रहता है, जब तक ईश्वरेच्छा से उसका पुनः सृजन नहीं होता ।

प्रकृति मात्र का विवेक स्वात्म में संवलित है, इस प्रकार का अहङ्कार पूर्ण संवेदन, कर्तृत्व रहित जड़ प्रकृति में कर्तृत्व का संवेदन और प्रकृति के अधिष्ठाता, बन्ध आदि के कर्त्ता ईश्वर में अकर्तृत्व का संवेदन जिसमें होता है, वह मोह मुग्ध ही माना जा सकता है । इसका अर्थ यह होता है कि, वह पुरुष तात्त्विक प्रज्ञा से वंचित है । फलतः कुछ समय तक तो वह प्रकृति के प्रभाव से मुक्त रहता है । ऐसी स्थिति में वह तत्त्वतः प्रकृति बन्ध से प्रमुक्त नहीं हो पाता है । इसी-लिये ईश्वरेच्छा से उसका संसरण शुरू हो जाता है । इसी आधार सांख्यज्ञानी को मुक्त नहीं मानते । वह मिथ्यामुक्ति का दम्भ तो भर रहा होता है, परन्तु वह सम्मूढ का सम्मूढ ही रह जाता है ॥७८॥

इतना अवश्य माना जा सकता है कि, कुछ समय तक वह विदेहता की स्थिति में अवश्य रहता है । वास्तविक मुक्ति उसकी नहीं होती । वह अल्पकालिक विदेहता, मुक्ति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि, वह सांख्यज्ञान से कुछ काल तक ज्ञान के 'कोमा' में रहता है । मात्र इस विदेहता के कारण प्रकृतिनिर्मुक्त तो कहा ही जा सकता है । हाँ इस विदेहता में सृष्टि और संहार से कुछ रक्षा उसकी अवश्य हो जाती है ।

यावत्करोत्यसौ सृष्टिमीश्वरः परमेश्वरः ।
तावत्प्रकृतिबन्धेन संसारे क्षिप्यते पुनः ।।८०।।

न च एतावन्मात्रस्त्रष्टृत्वमस्य ऐश्वर्यम्; अपि तु शुद्धाशुद्धसर्वाध्वविषयमित्याशयेन परमेश्वरः अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य प्रभुरित्युक्तम् । तत ईश्वरे पुंसां कर्मपरिपाकानुसारिभोगदानाय सृष्ट्याभिमुख्यमाश्रयति साङ्ख्ययोगी–

क्षिप्तः संसरते भूयः संसारे घोरसागरे ।
धर्माधर्मनिबद्धस्तु साङ्ख्याज्ञानेन मोहितः ।।८१।।

घोरो विभीषिकाशतप्रदो दुरन्तत्वाच्च सागर इव सागरः । यद्यपि च नाहं कर्ता प्रकृतिरेव कर्त्रीत्यनेनावसितं तथापि तत्तस्या जडत्वाद् नोपपन्नम्, बुद्धेश्चिच्छायायोगे चेतनत्वमुपचरितं कथं मुख्यं कर्तृत्वं स्यात्, प्रकृतेश्च सत्त्वोद्रेकाभावात् ।

प्रकृति का कार्य शरीरादिसर्ग-संहार राहित्य ही है । इसलिये जब तक ईश्वर पुरुष आत्माओं के भोग के लिये सृष्टि का आरम्भ नहीं करता, तभी तक उसकी प्रकृति निर्मुक्तता मानी जा सकती है । यही सृष्टिसंहार वर्जित अवस्था का स्वरूपार्थ है ।।७९।।

परमात्मा द्वारा सृष्टि का प्रवर्त्तन ही उसका ऐश्वर्य नहीं है अर्थात् ईश्वर भाव नहीं है । वरन् शुद्ध और अशुद्ध अध्वा दोनों के प्रति उसका अधिकार है । इसी आशय से उसे परमेश्वर कहते हैं । वह अनाश्रितान्त विश्व का प्रभु होता है । उसी के सामर्थ्य से वह प्रकृति प्रदत्त बन्ध रूप संसार में पुनः प्रक्षिप्त कर दिया जाता है ।।८०।।

यह संसार भी विचित्र है । इसे सागर कहकर इसकी दुरन्तता का और इसके विभीषिकाप्रद रूप का दिग्दर्शन कराया गया है । संसार सागर में प्रक्षिप्त पुद्गल पुरुष पुनः पुनः संसरण का शिकार होता रहता है । जब कोई यह कहता है कि, मैं कर्त्ता नहीं । प्रकृति ही कर्त्री होती है, तो इस निश्चय की कसौटी क्या है । यह बात कसौटी पर खरी नहीं उतरती । क्योंकि, प्रकृति जड़ है । उसमें कर्तृत्व की बात उपपन्न नहीं है ।

जहाँ तक बुद्धि का प्रश्न है, इसमें चितिशक्ति की छाया का योग होता है । इसे चेतन कह सकते हैं किन्तु यह कथन भी उपचार मात्र है । मुख्य कर्त्तृत्व में इसमें नहीं माना जाता । प्रकृति में सत्य का उद्रेक होता ही नहीं है । इसमें चितिशक्ति की ग्रहण योग्यता नहीं होती । अतः उपचारात्मक चेतनायमानता का भी इसमें अभाव होता है । परिणामतः कर्म का सम्बन्ध भी इससे नहीं बनता । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि, ज्ञान जन्य निष्काम कर्म भाव की निष्पत्ति भी इससे नहीं होती ।

चिच्छायाग्रहणायोग्यतया उपचरितमपि चेतनायमानत्वं नास्तीति कथं कर्मसम्बन्धः, कथं वा ज्ञानान्नैष्कर्म्यप्राप्तिः, अतोऽवश्यमीश्वरेच्छावशोत्थापितकलादिसम्बन्धहेतुकं पुंसो मितविषयं कर्तृत्वमस्तीति अनादिभवोपार्जितधर्माधर्मनिबद्धत्वमस्य साङ्ख्यज्ञानमोहितस्य अस्तीति युक्तमुत्पश्यामः ॥८१॥

इत्थमीश्वरेच्छातः संसारसङ्गरतोऽयम्–

अहं कर्ता च भोक्ता च ईश्वरो बलवानहम् ।

इति मन्यमानः–

ममत्वेनैव सम्मूढो भ्राम्यते घटयन्त्रवत् ।।८२।।

अहङ्कारपूर्वकत्वाद् ममकारस्य । भ्राम्यत इति ईश्वरेण । यदुक्तं गीतासु–
'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येष वसतेऽर्जुन ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ॥ (१८।६१) इति ॥८२॥

एतदुपसंहरति–

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं

इह पूर्वं यत् प्रश्नितम्–

इसलिये यह मानना पड़ता है कि, ईश्वरेच्छा के कारण उत्पन्न कलादि सम्बन्धों के फलस्वरूप पुरुष में किञ्चित् मित कर्तृत्व आ जाता है । यह भी आवरण स्वरूप ही होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, अनादि संसार में उपार्जित धर्म अधर्म निबद्धता तो सांख्यज्ञान से मोहित पुरुष में स्वभावतः रहती ही है । शास्त्रकार यही कह भी रहे हैं कि, प्रकृतिबन्ध से संसार में क्षिप्त सांख्यज्ञानी भी संसृतिचक्र में चक्कर खाने से बच नहीं सकता ॥८१॥

इस तरह ईश्वरेच्छा से ही संसार के कुरुक्षेत्र में रत एक लड़ाका यदि मान ले कि, मैं ही कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, मैं ही ऐश्वर्य सम्पन्न बलवान् हूँ, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी ममत्व, इसी मोह व्यामोह में पड़ा पुरुष घटयन्त्रवत् घुमाये जाने के लिये बाध्य हो जाता है । इस तरह ईश्वर द्वारा ही भ्रान्त होता रहता है ।

भगवान् गीता में स्वयं कहते हैं कि, 'अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं । वे अपनी माया के माध्यम से यन्त्रारूढ़ प्राणियों को चक्कर में डालते रहते हैं' ॥८२॥

यह सांख्य विषयक ज्ञान का सन्दर्भ भगवान् द्वारा विस्तार पूर्वक वर्णन का विषय बनाया गया । इस विषय में भगवती उमा ने स्वयं इसी पटल के प्रारम्भ में प्रश्न किया था और कहा था कि, प्रभो ! मुझे तत्त्वज्ञान से अवगत करायें । उसी का यह उत्तर यहाँ उपसंहृत किया जा रहा है । इसमें देहाश्रित धरा से प्रकृति-पर्यन्त के तत्त्वों की वास्तविकता से परिचित कराया गया है ।

'तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत्' । (१२।२)

इति तन्निर्णयाय देहाश्रयाणि धरादिप्रकृत्यन्तानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि, अधुना उच्चारणादिक्रमेण तत्तत्सिद्ध्यर्थं साक्षात्कार्यमेतत्कार्यतत्त्वस्वरूपं स्थूलदृशा प्रदर्श्य, सूक्ष्मदृशा परदृशा च आत्माश्रयाणि नियत्यादिसमस्तानि शुद्धविद्यादि-शिवान्तानि च सिद्ध्यर्थमेव तत्त्वान्तरध्यानानि दर्शयन्नुपक्रमते–

शृणु ध्यानाधिदैवतम् ।

पृथिव्यादितत्त्वानां ध्यानं तत्संवाच्यतत्त्वाधिष्ठातृदेवतास्वरूपं च वक्ष्यमाण-तत्तत्सिद्धिप्रदं शृण्विति सम्बन्धः । अत्र च आदौ–

'समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।
जायते विविधा सिद्धिर्गिरिगह्वरमाश्रिते ॥
सुशुद्धे भूप्रदेशे तु......................'। (६।२)

इत्यादिक्रमेण पूर्वोक्तभैरवपूजापूर्वकं पृथ्व्यादितत्त्वध्यानमारब्धव्यम् ।

तत्र तावत्–

पृथ्वीं कठिनरूपेण चतुःसागरमेखलाम् ।।८३।।
सपर्वतवनाकीर्णां मृगपक्षिसमाकुलाम् ।
सुस्थिरां पीतवर्णाभामूबीजेन समन्विताम् ।।८४।।

यहाँ पहले मानस वाचिक उच्चारण क्रम से (श्लोक ७६) उनकी सिद्धि और साक्षात्कार करने योग्य तत्त्व स्वरूप को स्थूल प्रदर्शित किया गया है । इसके आगे सूक्ष्म और पर दृष्टि से आत्माश्रय नियत्यादि शुद्धविद्यादि शिवान्त तत्त्वों की सिद्धि के लिये तत्त्वान्तर ध्यान आदि का उपक्रम कर रहे हैं–

भगवान् पहले देवी को सुनने के लिये सजग करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! ध्यान पूर्वक ध्यान के अधिदेवता के विषय में सुनो । पृथिवी आदि तत्त्वों के ध्यान और उनके अधिष्ठाता देवता के स्वरूप उनकी सिद्धियों के विधान के सम्बन्ध में भी मैं बताऊँगा । इन्हें ध्यान पूर्वक सुनना आवश्यक है ।

देवी ! 'समयाचार युक्त साधक की कई प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं । साधक गिरिगह्वरों अथवा शुद्ध भू प्रदेश आदि में बैठकर एकान्त चिन्तन करता है । इस ६।२ श्लोक द्वारा पहले कही गयी भैरव पूजा पूर्वक पृथ्व्यादि तत्त्व ध्यान का आरम्भ करना चाहिये ।

'पृथिवी' नामक तत्त्व स्थूल सृष्टि से कठिन कर्कश कठोर एवं ठोस तत्त्व के रूप दृष्टिगोचर हो रहा है । इसके मध्यभाग में चारों समुद्र लहरा रहे हैं । पर्वतों

ध्यात्वा तत्सिद्धिमभ्येति

चतुःसागरमेखलादिरूपा या पूर्वं पृथ्वी उक्ता, तां सुस्थिरकठिनपीतवर्णाभां भुवनाध्वप्रतिपादिततत्तद्देवतात्मिकां सर्वदेहे गतां ध्यात्वा तत्सिद्धिमेति तन्मयः साधको भवति । अस्याश्च पूर्वोक्तरसात्मप्रक्रियया–

'धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मतः' । (५।५)

इति कृत्वा ऊकारबीजवाच्यत्वमुक्तम् । ध्यात्वेत्युक्त्या ध्यानात्पूर्वं धारणा आक्षिप्ता । सा च–

'स्वदेहं हेमसङ्काशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम्' । (१२।२२)

इतीदृग्धारणापूर्वं पृथ्वीध्यानमभ्यस्येत् ।

विषं सत्त्वान्निवारयेत् ।

विषं स्थावरजङ्गमादिरूपम्, सत्त्वान् पिशाचापस्मारादीन् शक्तिस्तम्भनादि-क्रमेण हेलयैव नाशयति ।

समापन्नपृथ्वीध्यानस्तु असौ–

अचाल्यः सर्वभूतानां यथैव वसुधा भवेत् ।।८५।।

और वनों से यह आकीर्ण है । तरह तरह के मृग, जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों से यह भरी हुई है । अपनी इस रूप सज्जा के साथ पीले वर्ण वाली यह माता पृथ्वी भुवनाध्वा में प्रतिपादित देवताओं की दिव्यता ये स्वयं दिव्य है ।

वही तत्त्व प्राणियों के शरीर में अस्थि, मेदस, मज्जा, नख लोम आदि के रूप में दृष्टिगोचर होती है । शिव के समान धृतिगुण से सम्पन्न है । इस रूप में इसका ध्यान करना चाहिये । इस तरह की तन्मयता से साधक सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है ।

५।५ के अनुसार धरित्री से ध्यान पर्यन्त का वाचक बीज 'ऊ' कार है । इस बीज की वाच्यता इन तत्त्वों में हैं । ध्यान से पहले धारणा भी अपेक्षित होती है । १२।२२ के अनुसार धारणा में अपने शरीर को सोने के समान पीला और शान्ताकला युक्त मानना चाहिये । साथ ही वज्र के चिह्न से चिह्नित रूप में ध्यान में लाना चाहिये ।

धारणा के क्रम में विशेषतः दो खतरों से बचना चाहिये । १–गुफाओं में तरह तरह के जहरीले कीड़े होते हैं । इनके विष से और २–जङ्गलों में खूंखार जानवर रहते हैं । इन्हें भी मन्त्रस्तम्भन से स्तब्ध कर अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

एतत्-

'........तत्सिद्धिमभ्येति...........'। (८४)

इति पूर्वोक्तेः स्फुटीकरणम् । यथैव वसुधेति पृथ्वीजयेन तदधिष्ठातृवत् तत्र ऐश्वर्यमाप्नोति । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥८५॥

जलध्यानमाह-

जलापूरितसर्वाङ्गो जलध्यानेन पूरयेत् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु विषसत्त्वान्विनाशयेत् ।।८६।।
तृष्णादाहविनिर्मुक्त ईतिभिश्च विवर्जितः ।
जगदापूरयेत्सिद्धः पूर्वबीजसमन्वितः ।।८७।।

जलध्यानेन पूरयेदिति अङ्गोपाङ्गप्रसरणक्रमेण विश्वमापूरितं भावयेत् । एवमभ्यस्यन्विषादि नाशयेदिति आप्यायनयुक्त्या साध्यमाप्याययति प्रशान्तविषभूतदोषं करोति, स्वयं च तत्तत्सन्तापाद्यवसरेषु तृष्णादिभिरीतिभिश्च सर्वोपद्रवैर्विर्जितः क्रमाच्च सिद्ध इति निष्पन्नाप्तत्वध्यानो जगदपि अम्भोवदेव आप्याययति । पूर्वबीजमूकार एव प्रधानान्तं तस्यैव वाचकत्वेन उक्तत्वात् । अत्रापि-

---

इस तरह पृथ्वी का ध्यान पूर्ण होता है । ऐसा पुरुष वसुधा के समान ही इतना भारी हो जाता है कि, किसी के द्वारा वह चलायमान नहीं पाता । अङ्गद ने पाँवों में इसी धारणा के चमत्कार से लङ्का का मानमर्दन किया था । यह एक प्रकार से एक तत्त्व का जय होता है । परिणामतः इसके अधिष्ठाता का ऐश्वर्य साधक को भी ऐश्वर्यवान् बना देता है ॥८३-८५॥

जलध्यान-

जल से सारे अङ्गों को आपूरित कर जल के ध्यान से आन्तरिक भीतरी भाव से भी जलापूरित अनुपूरित अनुभूत करे । इस प्रकार पिण्ड ब्रह्माण्डैक्य भावनकर सारे विश्व को जलापूरित भावित करे । ऐसा अभ्यास करने वाला साधक विष' भी नाशक बन जाता है । क्योंकि, वह विश्व को आप्यायित करता है । क्योकि वह स्वयं विश्व का आप्यायक हो जाता है । इसलिये विष को शान्त कर लेता है । वह जगत् को भी शान्त कर लेता है । इसी आप्यायन के सामर्थ्य से सभी सत्त्वों को शान्ति प्रदान कर शान्त बना लेता है ।

इसी प्रकार तृष्णा के दाह से भी विनिर्मुक्त हो जाता है । ईति रूप सभी उपद्रवों से मुक्त होकर प्रशान्त विष सत्त्व दोष पुरुष बन जाता है । यह सिद्ध पुरुष अप्तत्त्व का साधक अपनी सिद्धि के बल पर सारे जगत् को जलमय देखता है । इसका बीज भी प्रकृति पर्यन्त-तत्त्वान्तर्गत होने के कारण 'ऊ'कार ही है ।

'जलात्मकं स्मरेद्देहं सितं शीतं सुवर्तुलम्' । (१३।२)

इति श्रीपूर्वोक्तनीत्या कमललाञ्छितसितार्धचन्द्रमण्डलात्मिकां जलधारणां बद्ध्वा ऊकारपरामर्शपूर्वं प्राङ्निर्दिष्टदेवताधिष्ठितं जलमयं स्वदेहं ध्यायेत् ॥८७॥

'स्वशरीरोत्थितो वह्निर्ज्वलन्वै सर्वदाहकः ।
त्रिकोणं चिन्तयेद्देहं रक्तज्वालावलीधरम्' ॥ (१३।२१)

इति श्रीपूर्वनिरूपितवह्निधारणया स्वदेहं ध्यात्वा-

कुर्यात्कर्मसहस्राणि स्वबीजेन तु बीजितः ।

बीजितः परामर्शयुक्त्या योजितः । स्वबीजं रेफ इति असदिह तथा प्रक्रमाभावात् । प्रधानान्तं देहाश्रयाणि तत्त्वानि उक्त्वा तत्त्वध्यानप्रतिपादनस्य अयमेव आशय-यद् नवात्मप्रक्रियया ऊकारादिवाचकपरामर्शपूर्वमेतत्सिद्धिः स्यादिति ।

कृष्णरेण्वात्मको वायुर्ध्येयो बीजेन संयुतः ॥८८॥

ध्यान रहे कि, १३।२ के श्री पूर्वशास्त्रगपद्य के अनुसार 'अपने शरीर को जलात्मक स्मरण करना चाहिये । वर्ण श्वेत, स्वभाव शान्त और आकृति पूरी तरह वर्त्तुल ध्यान करानी चाहिये । धारणा की प्रक्रिया में यह कहा गया है कि, कमल से अलङ्कृत श्वेतार्ध चन्द्रलत् जल धारणा होनी चाहिये । इसमें नित्य 'ऊ'कार बीज का परामर्श रहना चाहिये । जलाधिष्ठातृदेवता युक्त जलमय ध्यान के साथ यह क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये ॥८६-८७॥

वह्निध्यान–

'अपने शरीर से अग्निदेव की तैजस रश्मियाँ निरन्तर 'अर' के रूप में निकलती रहती हैं । यही यदि स्थूल बन जाँय, तो सब कुछ जला भी सकती हैं । अग्निध्यापन के समय शरीर को त्रिकोण रूप में चिन्तन का विषय बनाना चाहिये । तभी शरीर का वर्ण भी लाल ज्वाला से दीप्त ध्यान में लाना चाहिये' । यह श्रीपूर्वशास्त्र की १३।२१ की उक्ति है । वह्निधारणा के सन्दर्भ में यह उक्त है । इसी रूप में शरीर का ध्यान करते हुए पूर्वोक्त बीज परामर्श करते हुए जीवन के सहस्रों कार्य सम्पन्न करते रहना चाहिये ।

अग्नि बीज यद्यपि 'रेफ' है । पर यहाँ इसका प्रयोग प्रकृति के अन्तर्गत तत्त्व होने के कारण नहीं करना चाहिये । उद्योतकार ने यहाँ भी 'ऊ'कार का परामर्श ही उचित माना है । यहाँ भी नवनाभ मण्डल की प्रक्रिया के अनुसार 'ऊ'कारादि नव वर्णों का क्रम ही अपनाना चाहिये । यह कहा है । यह विचारणीय विषय है ।

पूरयेद्वै जगद्देहान्

अत्रापि–

'स्वदेहं चिन्तयेत्कृष्णं वृत्तं षड्बिन्दुलाञ्छितम् ।

चलं सधूधूशब्दं च............................'।। (१३।३४)

इति श्रीपूर्वोक्तवायवीयधारणापूर्वकाद् ध्यानाद् जगद्गतान्देहानुच्छ्वासमात्रेण पूरये-दाप्याययेत् ।।८८।।

ध्यानप्रकर्षात्तु–

सिद्धश्चाश्चर्यकारकः ।

वायुतत्त्वाधिष्ठातृदेवताप्रभावात्किं किं न करोतीत्यर्थः ।

सुषिरात्मकं स्वदेहं तु जगच्च सुषिरात्मकम् ।।८९।।

ध्यायेत्प्रकृतिबीजेन

एकारेण । एवं च–

चित्रकर्माणि कारयेत् ।

वायु ध्यान–

वायु काले रंग की धूलिकणों से समन्वित तत्त्व है । इसी रूप में 'ऊ'कार की बीज से समन्वित वायु का ध्यान करते हुए सारे संसार के शरीर को भी उसी बीज से सम्पूरित करना चाहिये । श्रीपूर्व शास्त्र में १३।३४ श्लोक द्वारा धारणा के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि,

अपने शरीर को कृष्ण वर्ण, वृत्त और षड्बिन्दुलाञ्छित चलायमान और धू धू शब्द कर चलते रूप में सोचना चाहिये । इस प्रक्रिया में सिद्ध पुरुष अपनी एक उच्छ्वास से सारे जगत् को पूरित कर सकता है ।।८८।।

ध्यान का प्रकर्ष अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्तकर, उत्कर्ष के उच्चशिखर पर आरूढ पुरुष आश्चर्यमय सिद्धियों का प्रदर्शन करता है अर्थात् वायु तत्त्वाधिष्ठा-तृदेवता के प्रभाव से जो चाहे वही कर दिखा सकता है ।

इस धारणा के क्रम में अपने शरीर सुषिरमय ध्यान करना चाहिये । साथ ही जगत् को भी सुषिरात्मक ही सोचना चाहिये ।।८९।।

प्रकृति बीज 'ए'कार से ही इसका ध्यान होना चाहिये । श्रीपूर्व शास्त्र में (१३।७४) में इस विषय में उल्लेख है कि,

छः माह के ध्यान से साधक गगनाकार हो जाता है । वह सूक्ष्म रन्ध्रों से भी निकल सकता है । तीन साढ़े तीन वर्ष के ध्यान से आकाश स्वरूप ही हो

यदुक्तं श्रीपूर्वे–

'षण्मासाद्गगनाकार: सूक्ष्मरन्ध्रैरपि व्रजेत् ।

वत्सरत्रितयात्सार्धाद्व्योम एव भविष्यति ॥

इच्छयैव महाकाय: सूक्ष्मदेहस्तथेच्छया ।

अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च.......................'॥ इत्यादि । (१३।४७)

प्राक्स्थित्यैव कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियतन्मात्रध्यानानि क्रमेण आह । तत्र–

वागिन्द्रिये तथा वह्निर्ध्यातो वाक्सिद्धिदायक: ।।९०।।

तथेति–

'..............ज्वलन्वै सर्वदाहक:' ।

इति यथा पूर्वमुक्त: । स तु सर्वदेहगत:, अयं तु जिह्वानुसारिहृदयादिमूर्धान्तवागिन्दियदेहाश्रय इति विशेष: ॥९०॥

इन्द्र: पाणावभिध्यात:

पीत इति अर्थात् । येन असौ–

बाहुशाली त्वजेयक: ।

जाता है । इच्छा करते ही महाकाय और चाहते ही सूक्ष्म शरीर वाला भी हो जाता है । अच्छेद्य और अभेद्य आदि गुणों से समन्वित हो जाता है और चित्रविचित्र कार्य में समर्थ हो जाता है ।

इसी तरह पूर्ववत् इन्हीं बातों का अनुसरण करते हुए कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की तथा तन्मात्राओं के ध्यान की चर्चा कर रहे हैं । इस साधना के क्रम में वागिन्द्रिय में यादि अग्नि का ध्यान किया जाय, तो वाक्सिद्धि होती है, यह ध्रुव सत्य है ॥९०॥

अग्नि अलग से ज्वलनशील पदार्थ होने के कारण सर्वदाहक तो है किन्तु जब सर्वदेहगत अवस्था में वाणी में इसका ध्यान किया जाय, तो यह जिह्वा, हृदय और मूर्धान्त तक में प्रसरित वाक्तत्त्व के माध्यम से शरीर के सभी रोगों का नाश करता है । साथ ही वागर्थ के प्रसार के क्षेत्र की सिद्धियाँ भी प्राप्त करता है ॥९०॥

हाथ में इन्द्र का ध्यान करना चाहिये । इन्द्र का वर्ण भी पीत है । अत: हाथ में इन्द्र का ध्यान करते समय पीलापन भी इन्द्र के वर्ण में ध्यात होना चाहिये इसका फल यह होता है कि, व्यक्ति बाहुबली होता है और अजेय

स्वार्थे कन् ।

पादयोर्दूरसञ्चारं ध्यातो विष्णुः प्रयच्छति ।।९१।।

पायौ मित्रः सितो ध्यातः पायुव्याधिविनाशकः ।

शिश्ने प्रजापतिं श्यामं ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ।।९२।।

जितेन्द्रियश्च भवति त्विच्छया रमते शतम् ।

पूर्वबीजमनुक्तमत्र योज्यम् । विष्णुः कृष्णवर्ण इति अर्थात् ।

श्रोत्रेन्द्रिये दिशश्चित्रा ध्यायेद्बीजेन संयुताः ।।९३।।

दिशोऽधिष्ठातृदेवताः । चित्रा नानारूपाः । बीजं प्राग्वत् ।।९३।।

यश्च ईदृगसौ–

सकृदुक्तं च गृहणाति

महान्तमपि शब्दसन्दर्भमिति अर्थात् । अस्य च अभिसन्धिमात्रात्–

दिग्यात्रा चैव सिद्ध्यति ।

हो जाता है । इसी तरह पैर में श्यामवर्णी विष्णु का ध्यान करने से दूर संचरण की शक्ति से समन्वित हो जाता है । वह विष्णु का वरदान प्रद ध्यान माना जाता है ।।९१।।

पायु में मित्र का ध्यान पायु के समस्त रोगों का नाश करता है । मित्र सितवर्णी होते हैं । अतः ध्यान में उन्हें सितवर्ण का ही देखना चाहिये । इसी तरह शिश्न में प्रजापति देवता का ध्यान करना चाहिये । ध्यान में मन की एकाग्रता सदा अनिवार्य होती है और इस ध्यान में तो विशेष रूप से युक्तचेता होकर श्याम-वर्णी देव के रूप में ध्यान करना चाहिये ।।९२।।

इस ध्यान का फल का आनन्द प्रद माना जाता है । शास्त्र यह कहता है कि, व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है और इच्छा करने पर शताधिक रामाओं को भी तृप्त कर सकने की कामशक्ति से समन्वित हो जाता है । इसी तरह श्रोत्रेन्द्रिय में दिशाओं के अधिष्ठातृदेवताओं का ध्यान दिशाओं के क्रम में करना चाहिये । इस ध्यान में पूर्वोक्त 'एकार' बीज का ध्यान करना चाहिये ।।९३।।

इसका परिणाम भी बड़ा अच्छा होता है । एक बार जो सुन लेता है, वह कण्ठस्थ हो जाता है । ज्यों का त्यों उसे सुना भी सकता है । इसकी अभिसन्धि मात्र से दिग्यात्रायें सिद्ध हो जाती हैं । मुहूर्त्त न रहने पर भी इस ध्यान से मुहूर्त्त हो जाता है ।

दूरतरदिक्प्राप्तिरपि भवति ।

मारुतं कृष्णरूपेण ध्यायेत्तु त्वचि संस्थितम् ।।९४।।

यः स दंष्ट्राद्यभेद्यः स्यात्

अस्य च–

न क्वचिज्जायते व्यथा ।

वज्रदेहो जायत इति यावत् ।

आदित्यं चक्षुषि ध्यायेज्जिह्वायां वरुणं तथा ।।९५।।

नासायां पृथिवीं पीतां मनसीन्दुं तथैव च ।

पीतकं गन्धतन्मात्रं रसतन्मात्रकं सितम् ।।९६।।

रक्तं तु रूपतन्मात्रं कृष्णं तु स्पर्शसंज्ञितम् ।

अरूपं शब्दतन्मात्रं ध्यातव्यं बिन्दुरूपि च ।।९७।।

विषयेष्वीप्सितां सिद्धिं जानाति च विचिन्तितम् ।

इसी वायु का ध्यान कृष्ण रूप में करना चाहिये । यह ध्यान त्वगिन्द्रिय में किया जाता है ।।९४।।

वायु का इस प्रकार त्वचा में ध्यान करने वाले व्यक्ति को यदि कोई किसी अङ्ग को दातों से काट खाने की चेष्टा करे तो, वह निश्चित रूप से असफल हो जाता है क्योंकि उसकी त्वचा अभेद्य हो जाती है । उसके शरीर में कभी कोई व्यथा पीड़ा भी नहीं होती है ।

यहाँ आँखों आदि के द्वारा देवों आदित्यादि दर्शन का फल क्या होता है, इस पर प्रकाश डाल रहे हैं । सूर्य को आँखों के द्वारा ध्यान करने से तथा जिह्वा के द्वारा वरुण के ध्यान से विचित्र फल होते हैं ।।९५।।

नासिका से पीली पृथ्वी को मन से चन्द्रमा को, पीतवर्णी गन्ध तन्मात्र को, रसतन्मात्र को जीभ से ग्रहण कर सकता है ।।९६।।

लाल रंग के रूपतन्मात्र को, कृष्णवर्णी स्पर्शतन्मात्र को, अरूपी शब्द तन्मात्र को बिन्दु रूप से ध्यान करना चाहिये । इन विषयों से सम्बन्धित सिद्धियों के लिए ऐसा ध्यान करने वाले व्यक्ति सफल हो जाते हैं । शर्त्त यही है कि, वे विषय रूप से तन्मात्राओं के चिन्तन में अनवरत लगे रहें ।।९७।।

इन तन्मात्राओं के अनुभव में लगने के लिये ज्ञानेन्द्रियों के उन अग्रभावों की विशेषता को जानने के लिये श्री पूर्व शास्त्र के चतुर्दश अधिकार का स्वाध्याय करना चाहिये । उसके कुछ अंश यहाँ दिये जा रहे हैं ।

तन्मात्राणां घ्राणाग्रादीनि स्थानानि चतुरस्रादिरूपं च श्रीपूर्वतो ज्ञातव्यं यथा–

'पीतकं गन्धतन्मात्रं तुर्याश्रं पञ्चसम्मितम् ।
नासारन्ध्राग्रगं ध्यायेद्वज्रलाञ्छनलाञ्छितम्' ॥ इत्यादि ।

तथा–

'जलबुद् बुदसङ्काशं जिह्वायां चाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयेद्रसतन्मात्रं जिह्वाग्राधारमात्मनः ॥
सुशीतं षड्रसं स्निग्धं तद्गतोनान्तरात्मना' । इति ।
'एकान्तस्थो यदा योगी विनिमीलितलोचनः ।
शरत्सन्ध्याभ्रसङ्काशं यत्तत्किञ्चित्प्रपश्यति ॥

---

१. गन्ध धारणा–

पीत गन्ध तन्मात्रा वज्र लाच्छेन विष्णु से लाञ्छित रूप में ध्यान करना चाहिये जो चतुष्कोण हो और पाँचों तन्मात्राओं के सम्मित हों, यह पाँचवाँ तन्मात्र है भी ॥१४।२॥

२. रस धारणा–

रसतन्मात्र का जल बुद्बुद के समान जिह्वाग्र पर चिन्तन करना चाहिये । अर्थात् जिह्वा के अग्र आधार पर करना चाहिये । वही इसका आश्रय है । वहीं से स्रवित होता है ॥१४।१२॥

यह शीतल, षड्रसान्वित रस में डूबकर तद्गत होकर अन्तर आत्मा की गहराई से रसानुभूति करनी चाहिये ॥१४½॥

३. रूपवती धारणा–

एकान्त में साधना संलग्न योगी आँखों को अर्धनिमीलित अवस्था में शरत्कालीन सान्ध्य बादलों की तरह कुछ दिखायी पड़ने लगता है । यह रूप का बिम्ब मात्र होता है ॥१४।२०॥

वहीं चित्त को समाहित कर, दस दिनों तक उसको देखने में योगी यदि लगा रहे, तो उसे उस बिम्ब में सूक्ष्मतम अनन्त बिध बिन्दुओं का झिलमिल रूप दीख पड़ने लगता है । उसी में कुछ नील, कुछ पीत, कुछ रक्त और कुछ श्वेत भी होते हैं । उन्हें देखकर उनकी शबलता में मन को समाहित कर देना चाहिये । छः माह की साधना में रूप विज्ञान की विशेषताओं के दर्शन होने लगते हैं ॥१४।२३॥

तत्र चेतः समाधाय यावदास्ते दशाहकम् ।
तावत्प्रपश्यते तत्र बिन्दून्सूक्ष्मतमानपि ॥
केचित्तत्र सिता रक्ता नीलाः पीतास्तथापरे ।
तान्दृष्ट्वा तत्र सन्दध्याच्चेतोऽत्यन्तमनन्यधीः ॥
षण्मासात्पश्यते तेषु रूपाणि सुबहून्यापि' ।

तथा–

'षट्कोणमण्डलान्तःस्थमात्मानं परिभावयेत् ।
रुक्षमज्जनसङ्काशं प्रत्यंशं स्फुरिताकुलम् ॥
ततोऽस्य दशभिर्देवि दिवसैस्त्वचि सर्वतः ।
भवेत्पिपीलिकास्पर्शस्ततस्तदनुचिन्तयन् ॥
वज्रदेहत्वमासाद्य पूर्वोक्तं पूर्ववल्लभेत्' । इत्यादि ।

तथा–

'कर्णौ पिधाय यत्नेन निमीलितविलोचनः ।
यं शृणोति महाघोषं चेतस्तत्रानुसन्धयेत् ॥
दीप्यते जाठरो वह्निस्ततोऽस्यत दशभिर्दिनैः ।
दूरात्कथनविज्ञानं षण्मासादुपजायते' ॥ इति । (१४।३५)

---

४. स्पर्शवती धारणा–

इस धारणा की सिद्धि की साधना में लगा साधक यह अनुभव करे कि, मैं ऐसे आसन पर विराजमान हूँ, जो षट्कोण है । इसमें बैठे शरीर रूखा सा होने लगे तो अच्छा लक्षण मानना चाहिये । यह भी अनुभव होने लगे कि, सारा शरीर कृष्ण सा कलित रूप से स्फुरित हो रहा है ॥१४।२९॥

दश दिनों के लगातार अभ्यास से साधक की त्वचा में सर्वत्र चीटिंयों के रेंगने के स्पर्श के समान स्पर्शानुभूति होने लगती है । साधक इस सूक्ष्मानुभूति की आनन्दवादिता में समाहित होकर लगातार इसका अनुचिन्तन करता रहे । इसका सुपरिणाम वज देहत्व की उपलब्धि है ॥१४।३०॥

५. शब्दावरणविज्ञान धारणा–

यत्नपूर्वक दोनों कानों को ढककर आँखों को भी अच्छी तरह बन्द कर ले । कानों के भीतर होने वाले महाघोष को ध्यान पूर्वक सुने । चित्त को श्रवण में समाहित कर दे । दश दिन में ही उसकी जठराग्नि जल उठती है । इधर जठराग्नि तीव्र होती है और उधर दूर दूर की बातों को सुन लेने की शक्ति का उल्लास हो जाता है । ये साधना के चमत्कार हैं । श्रीपूर्वशास्त्र को ही श्रीमालिनी-विजयोत्तरतन्त्र भी कहते हैं ॥१४।३४½॥

बिन्दुरूपि चेति तन्मात्रविषयं यथायोगं योज्यम् । विषयेष्वीप्सितां सिद्धिमिति चक्षुरादिविषयेषु तथा प्रोक्तदृशा तन्मात्राधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणां तन्मात्रविषयेषु रूपादिषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु उपलब्ध्यादिकाम् । जानाति च विचिन्तितमिति यस्य कस्यचित्सम्बन्धि विचिन्तितं सङ्कल्पसिद्धिं जानातीति एषां मनोध्यानसिद्धिः ।

अहङ्कारधारणामाह–

वैकारिके तथा रुद्रो ध्यातव्यः सिद्धिमिच्छता ।।९८।।

अतश्च–

ध्यानात्सिद्धिमवाप्नोति मुक्ताहङ्कारबन्धनाम् ।

मुक्तमहङ्कारबन्धनं यस्य तादृशीं परप्रमात्रैकात्म्यप्राप्तिपर्यवसानामित्यर्थः । अत्रापि–

'षोडशारं स्मरेच्चक्रमात्मन्यहमनन्यधीः ।
एषोऽहमिति सञ्चिन्त्य स्वकार्यपरिवारितम् ॥
अप्रधृष्यो भवेद्योगी........................'। (१६।८)

इत्यादि श्रीपूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । अथ–

ब्रह्माणं बुद्धिसंस्थं तु ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ।।९९।।

उन उद्धरणों के बाद कुछ बिन्दुओं पर विचार करना चाहिये । जैसे पद्य ९७ में बिन्दु के साथ तन्मात्र विषयक योजित करना चाहिये । उक्त सभी तन्मात्र-धारणाओं के सन्दर्भ में इन्द्रियों की विषयता के महत्त्व का भी ध्यान रहना चाहिये । इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि मन की बातों का भी जान लेना है ।।९७।।

अहङ्कार धारणा–

वैकारिक अहङ्कार में रुद्र का ध्यान करना चाहिये । ताकि ध्याता को मनोवाञ्छित सिद्धि मिल सके ।।९८।।

इसमें ध्यान से ही सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । व्यक्ति अहङ्कार के बन्धन से मुक्त हो जाता है । अहङ्कार के बन्धन से मुक्ति की सीमा, साधना के आधार पर आगे उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हुए परप्रमाता परमेश्वर के ऐकात्म्य की प्राप्ति पर्यन्त पर्यवसित होती है । यहाँ भी श्रीपूर्वशास्त्र की १६।८ उक्ति ध्यातव्य है । वहाँ उल्लेख है कि, अनन्य भाव से षोडशारचक्र का ध्यान करना चाहिये । यह मैं हूँ (सोऽहम्) का अपने उद्देश्य के अनुकूल चक्र ध्यान करने से योग अप्रधृष्य अर्थात् अजेय हो जाता है ।

स्मरन्वै पूर्वबीजेन

पूर्वबीजेनेति ऊकारेण । एतच्च पूर्वत्रापि अनुसन्धेयम् । स्मरणं ध्याने हेतुः । अत्रापि–

'उदितादित्यबिम्बाभं हृदि पद्ममनुस्मरेत् ।
धर्मादिभावसंयुक्तमष्टपत्रं सकर्णिकम्' ॥ (१६।८)

इत्यादि अनुसर्तव्यम् । एवंध्यानवतः–

ज्ञानौघः सम्प्रवर्तते ।
दिव्या च जायते बुद्धिः संशयोच्छित्तिकारिका ॥१००॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रत्यक्षं सम्प्रजायते ।

ज्ञानौघादिकमत्र ध्येयब्रह्माख्यदेवतारूपमिति ज्ञातव्यम् ।

अथ–

प्रकृतिः कृष्णवर्णा तु रक्तशुक्ला विराजते ॥१०१॥

गुणत्रयमय्याः प्रकृतेरधिष्ठातृदेवता एषा अनेकवर्णा उक्ता ॥१०१॥

इत्थं च त्रिवर्णायाः–

रक्तं च हृदयं तस्याः बहुपादभुजानना ।

जहाँ तक बुद्धि का प्रश्न है, युक्तचेतस भाव से बुद्धि तत्त्व में अवस्थित ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये । पूर्वबीज से 'ऊ'कार का ही ग्रहण करना चाहिये । स्मरण ही ध्यान के मूल में कारण रूप से अवस्थित रहता है । श्रीपूर्वशास्त्र के (१६।९) में कहा गया है कि, उदयकालीन सूर्यबिम्ब के समान हृदय पद्म में ध्यान करना चाहिये । यह कमल अष्टदल कमल होता है । इस दलों पर धर्म अधर्म ज्ञान अज्ञान, वैराग्य अवैराग्य और ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य के न्यास करने चाहिये । बुद्धि संस्थ ब्रह्मा कर्णिका में ही विराजमान हों । इससे ब्रह्मारूप ज्ञान का समुद्र उद्रिक्त हो जाता है । बुद्धि दिव्य और निर्मल हो जाती है । मन में अब किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता ॥१००॥

इससे व्यक्ति त्रिकालदर्शी हो जाता है । भूत, वर्त्तमान और भविष्य उसके समक्ष प्रत्यक्ष होते रहते हैं ।

प्रकृतिध्यान–

प्रकृति का कृष्णवर्णात्मक ध्यान करना चाहिये । कृष्णवर्णी आभा में रक्ताभा और शुक्लता की भी झलक मिलती रहती है क्योंकि यह त्रिगुणात्मिका होती है ॥१०१॥

प्रकृति के वर्ण–ईशान में ओं, उत्तर-य, पश्चिम ल, निऋति म, दक्ष क्ष, अग्नि र, पूर्व ह और मध्य में 'ऊ' । ये नव वर्ण प्रकृति की दिशाओं के हैं । केन्द्र में 'ऊ' बीज माना जाता है ।

शिष्टमूर्ध्वमधश्च गात्रमस्याः सितं कृष्णं चेति अर्थात् ।

एषा च–

ध्यातव्या तत्त्वबीजेन यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ।।१०२।।

सर्वपुरुषान्प्रति विचित्रप्रकाशप्रवृत्तिस्थितिप्रदत्वादस्या बहुवक्त्रादित्वे तत्त्वस्य प्रकृत्याख्यस्यैव यद्बीजं प्रक्रान्तप्रक्रियया ऊकारस्तेनैव तत्त्वाधिष्ठात्री एषा ध्येया । एवञ्च वदतोऽयमाशयः–यत्पारमेश्वरे सर्वतत्त्वानि तत्तद्देवताधिष्ठितान्येव, न तु एषां जडत्वमेवमिति अत्र देवताप्रधानमेव तत्त्वध्यानमुक्तम् । आत्मनः सिद्धिः प्रकृति-विविक्तस्य उपलब्धिः ॥१०२॥

एवं हि आत्मा मुक्तप्रकृतिबन्धनः–

सिद्धश्चैव स्वतन्त्रश्च दिव्यदृष्टिश्च जायते ।

सिद्ध इति प्रकृतिविवेकेन उपलब्धोऽत एव स्वतन्त्रः, न ततु प्रकृतिवशस्तथा च दिव्या लोकोत्तरा स्वपरविषया दृष्टिः सम्यक्प्रतीतिर्यस्य तादृग्भवति ।

यावता कालेन एषा अस्य सिद्धिस्तदादेशाय आह–

षण्मासाभ्यासयोगेन दिव्या दृष्टिः प्रवर्तते ।।१०३।।

एष च अभ्यासकालः सर्वतत्त्वविषयो मन्तव्यः ॥१०३॥

प्रकृति का हृदय रक्त वर्ण का होता है । इसके कई पद, कई भुजायें और बहुत से मुँह भी होते हैं । इसका ऊर्ध्व और अघोभाग ही इसके गात्र हैं । उसी में ऊर्ध्व भाग श्वेत और अघोभाग कृष्ण माना जाता है । सभी पुरुषों के प्रति चित्र विचित्र प्रकाश की प्रवृत्ति वाली और स्थिति प्रदान करने वाली होने के कारण ही अनेक–वक्त्रा प्रकृति होती है । इसका बीज 'ऊ'कार ही माना जाता है । इसी तत्त्वबीज के माध्यम से इसका ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, इस पारमेश्वर प्रपञ्च में जितने तत्त्व हैं, वे सभी अपनी अधीश्वर देवताओं के अधिष्ठान होते हैं । सबमें उनके देवता अधिष्ठित रहते हैं । इन्हें केवल जड़ कह देना भी उचित नहीं है । इसलिये किसी तत्त्व का ध्यान हो, उसके देवता के साथ ही ध्यान सम्पन्न होना चाहिये । स्वात्म सिद्धि के लिये यह आवश्यक है । स्वात्म सिद्धि का तात्पर्य प्रकृति वैवित्य पूर्ण सिद्धि की समुपलब्धि है ॥१०२॥

तब आत्म तत्त्व प्रकृति के बन्ध से मुक्त हो जाता है । इसका परिणाम यह हो जाता है कि, यह सिद्ध स्वतन्त्र और दिव्यदृष्टि वाला पुरुष हो जाता है । प्रकृति के वश में अब वह नहीं रह जाता । उसे लोकोत्तर दृष्टि प्राप्त हो जाती है । इस सिद्धि के लिये समय सीमा भी अपेक्षित है । छः माह के लगातार अभ्यास से उसे दिव्य दृष्टि मिल जाती है । यह अभ्यास-काल प्रायः सभी तत्त्वों की साधना में होता है ॥१०३॥

तदित्थं दिव्यदृष्ट्युत्पत्तौ–

त्रैलोक्ये यत्प्रवर्तेत प्रत्यक्षं तस्य जायते ।

तदेव देवमनुष्यतिर्यग्रूपे लोकत्रये यत् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टादिकं किञ्चित्प्रवर्तते प्रकृतितो जायते, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति ।

उपसंहरति–

एष ते प्राकृतो योग उक्तः

एवं प्रकृत्यन्ते शरीरे तत्त्वानां स्थितिं धारणादिक्रमेण च तत्तत्सिद्धिहेतुत्वमुक्त्वा, तत्त्वान्तरध्यानानि उपक्षेप्तुं प्रकृतिसाक्षात्कारान्मायासाक्षात्कारस्य लोकोत्तरतामादिशति देवः–

मोक्षकरः परः ।।१०४।।

पर इति मायाख्यः प्रकृतेः साक्षात्कारयोगादपि पर उक्तः । स च मोक्षकरो मायोत्तरणात् प्रभृत्येव हि मोक्षमार्गसोपानपदप्रवृत्तिः पुंस्प्रकृतिविवेकज्ञानिनां पुनर्बन्धाविर्भावस्य उक्तत्वादेव ।।१०४।।

देहावस्थितिप्रकृत्यन्ततत्त्वेषु ध्यानपूर्वाः सिद्धीः प्रतिपाद्य, एतदधिष्ठातृपुंस्तत्त्वध्यानोत्थसिद्धिप्रतिपादनाय आह–

इस प्रकार की दिव्यदृष्टि मिलने के बाद चाहे देव योनि हो, मनुष्य योनि हो या तिर्यग्योनि हो, तीनों लोकों में जो कुछ भी प्रवर्त्तित है, चाहे वह सूक्ष्म हो, अव्यवहित हो या अतिप्रकृष्ट अर्थात् या अज्ञेय हो, जो भी प्रकृति में घटित होता है, वह सब कुछ इसकी दृष्टि से ओझल नहीं रह जाता ।

यही प्राकृत योग है । प्रकृत्यन्त इस शरीर में तत्त्वों की जो स्थिति है, उनकी स्थिति और उनकी धारणा आदि के क्रम से उनकी सिद्धि और उसके हेतु का विचार करने के बाद अब यहाँ भगवान् यह घोषणा कर रहे हैं कि, प्रकृति साक्षात्कार से माया का लोकोत्तर साक्षात्कार साधक को मोक्ष की ओर अग्रसर कर देता है । यही मोक्ष की उपलब्धि का कारण बन जाता है ।।१०४।।

माया के उत्तरण के अनन्तर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है । इस तरह प्रकृति और माया आदि मोक्ष मार्ग के सोपान माने जाते हैं । यह बात इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि, पुरुष-प्रकृति-विवेक रूप ज्ञान होने पर भी पुनर्बन्ध का आविर्भाव होता ही है । इसीलिये मोक्ष मार्ग के सोपान रूप में इन्हें आकलित किया जाता है ।।१०४।।

इस तरह वहाँ देह में अवस्थित प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों का ध्यान और उससे मिलने वाली सिद्धियों के वर्णन करने के बाद पुरुष तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं ।

अतः परं तु पुरुषः

ध्येय इति शेषः । स च-

पद्ममध्ये व्यवस्थितः ।

'साक्षात्कृत्स्नमिमं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति ।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम्' ॥

इति हृदब्जकर्णिकास्थः । किमस्य स्वरूपमित्याह-

चित्स्वरूपश्च

चिन्मात्र एव । यथोक्तं शिवूसत्रेषु-

'चैतन्यमात्मा' । इति ।

अत एव अस्य भेदवाद्युपगतो न कश्चिद्वास्तवो भेद इत्याह-

सर्वेषु देहमापूर्य संस्थितः ॥१०५॥

परमेश्वरमायाशक्तिवशादवभासितभेदेषु सर्वप्राणिषु संस्थितः, अतश्च तदुपाधिभेदादयं भिन्न इव न वस्तुत इति सर्वेष्विति संस्थित इति बहुवचनैकवचनयोराशयः ॥१०५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, इसके बाद पुरुष विषयक विचार करना आवश्यक और प्रासङ्गिक है । यहाँ यही ध्येय है ।

पुरुष

ऊ	ह	र
ओं	य	क्ष
व	ल	म

शरीर में पुरुष हृदय पद्म में ही व्यवस्थित है । आगम कहता है कि, यद्यपि वह सर्वथा सूक्ष्म है तथा साक्षात् स्वयम् इस पूरे शरीर को व्याप्त कर व्यवस्थित है । फिर भी इसका स्थान शरीर के मध्य में अवस्थित हृदयपद्म की कर्णिका है ।

इसका चिन्मात्र चिन्मय स्वरूप है । शिव सूत्र में उल्लेख है कि, आत्मा 'चैतन्य' ही है । इसका सुपरिणाम यह है कि, भेदवादियों के द्वारा उपगत किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता । सभी प्राणियों में पूरे शरीर को व्याप्त कर अवस्थित है ।

परमेश्वर माया शक्ति-वशीभूत होने के कारण अवभासित समस्त प्राणियों में अवस्थित होता है । इसलिये उपाधि भेद से भी यह भिन्न की तरह नहीं होता । वस्तुतः वही एक सबमें अवस्थित है । इसीलिये सभी शरीरों में तो बहुवचनत्व और संस्थितः में एक वचनत्व का समन्वय हो जाता है ॥१०५॥

इत्थं पुर्यष्टकसङ्कोचनाभासनादेव च–

स जीव इति विख्यातो येन जीवति तत्पुरम् ।

पुरं शरीरम् । एतदेव व्यतिरेकेण दर्शयति–

निर्गतेन मृता येन अचेताः शीर्यते तनुः ।।१०६।।

इत्थं च मायाशक्त्या पुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयम्–

वध्यते

विश्वभित्तिभूतपरिपूर्णबोधरूपतया स्फुरन्नपि असौ सङ्कोचावभासात्मना तावता अंशेन स्वयमेव बध्यते । यथोक्तं प्राक्–

'आत्मना बध्यते ह्यात्मा..........'। इति । (१०।३६०)

यदा तु तेन भित्तिभूतेन शुद्धविद्याशक्त्या सङ्कोचावभासोऽस्य विलाय्यते, तदा–

मुच्यतेऽसौ वै

न च देहपाते अस्य मुक्तिरपि तु जीवतोऽपि अस्येत्याह–

सुखदुःखानि वेत्ति च ।

उक्तं च प्राक्–

'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्येयं भावना स्थिता' । इति । (७।२५९)

पुर्यष्टक संकोच के ही आभासन के कारण ही वही परमेश्वर पुरुष 'जीव' रूप से विख्यात हो जाता है । इसी जीव भाव की जीवन्तता में यह 'पुर' रूपी शरीर भी जीवित लगता है । इसके निर्गत होते ही शरीर मर जाते हैं । चेतना हीन शरीर मर जाते हैं । शरीर भी शीर्ण होकर नष्ट हो जाते हैं ।।१०६।।

माया के द्वारा ही पुर्यष्टक आदि में इसे अभिमान हो जाता है । यह अभिमन ही इसके बन्ध का कारण बन जाता है । विश्व की यह भित्ति है । परिपूर्ण बोध रूप है । इसी आत्मस्वभाव के कारण स्वयम् बद्ध भी हो जाता है । यही बात १०।३६० में भी कही गयी है कि,

'आत्मा अपने से ही बद्ध हो जाता है' ।

जिस समय भित्तिभूत शुद्धविद्याशक्ति के द्वारा इसे स्वयं स्वात्मसङ्कोच का अवभास हो जाता है और इसका विलापन अर्थात् इसके सङ्कोच का नाश हो जाता है । उसी समय यह बन्धन मुक्त हो जाता है । देह पात पर ही इसकी मुक्ति होती है, यह बात गलत है । जीते जी मुक्त होना ही शुद्धविद्याविति भासित आत्मा का स्वभाव है । ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्त हो गया है–यह प्रसिद्धि मिल जाती है ।

देहपाते तु परमशिव एव असाविति कस्य कुतो मुक्तिरित्यभिहितमेव । तदीदृशचितिमात्ररूपस्य–

न तस्य रूपं वर्णो वा प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ।।१०७।।

वर्णो ब्राह्मणादिः, रूपं सितादि, प्रमाणम् आरोहमहदादि इदन्तानिर्देश्यत्वाभावात् । इदं च भेदस्य अवास्तवतैवेत्यादिशति । अथ च चित्स्वरूपत्वात् सततं प्रथमानमूर्तेरस्य प्रत्यक्षानुमानाद्याख्यं नवार्थभासरूपं प्रमाणं न क्वचित् दृश्यते नैव उपपद्यते । यथोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्–

'प्रमातरि प्रमाणे तु सर्वदा भातविग्रहे ।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनी' ।। इति । (२।३।१६)

श्रुत्यन्तरेषु अपि–

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' । इति ।

क्वचिच्छब्देन असम्भाव्य एव अयमर्थ इत्यादिष्टं भगवता ।।१०७।।

७।२५९ में यही बात इस तरह प्रतिपादित है कि, 'जीवित रहते हुए ही वह विमुक्त हो जाता है, जिसे यह भावना हो जाती है' । देहपात होने पर तो वह परमशिव ही हो जाता है । इसलिये अब 'मुक्ति' नामक कोई स्थिति शेष नहीं रह जाती ।

अब वह चिति की स्वात्म-सत्ता में ही उल्लसित होता है । उसका ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कोई वर्ण नहीं रह जाता । कोई रंगों वाला रूप भी नहीं रहता । इदन्ता से निर्देश्यता के अभाव के कारण कोई प्रमाण नहीं रहता । भेद की अवास्तविकता के कारण अभेद अद्वय सामरस्य में वह जीवित रहता है । चित् स्वरूप में अवस्थित इसके लिये प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाण भी नहीं माने जाते । श्रीप्रत्यभिज्ञा में स्पष्ट कहा गया है कि,

'प्रमाता सर्वदा स्वयम् आभासमान है । उसके नवाभास की कोई बात नहीं है । सर्वप्रमितिभाक् होने पर कारण उसके प्रमाण की भी कोई आवश्यकता नहीं होती (२।३।१६) ।

श्रुति कहती है–वह स्वयं सर्व विज्ञानवान् है । उसे विज्ञान का विषय कैसे बनाया जाय ?

श्लोक में 'क्वचित् शब्द के प्रयोग से भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि, प्रमाण असम्भव ही है ।।१०७।।

यतश्च अयं न कथञ्चिद्विषयीक्रियते, अत एव–

न शक्यः कथितुं वापि

अपिशब्दात् सङ्कल्पयितुं वा । अतश्चायम्–

सूक्ष्मश्चानन्तविग्रहः ।

अत एव व्यनक्ति–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु ।।१०८।।

तस्य सूक्ष्मतरो जीवः स चानन्त्याय कल्पते ।

बालस्य यदग्रं तस्य यः शतभागस्तस्य शतधा कल्पितस्येति तमपि सूक्ष्मतया तथा कल्प्यमानत्वादेव वेद्यपदपतितमनादृत्य प्रकृष्टः सूक्ष्मो जीवो येन केनापि प्रकारेण वेद्यः, तत एव चित्स्वरूपवेदकैकात्मकत्वादानन्त्याय देशकालाकारापरिच्छिन्नत्वादशेषैकात्म्याय कल्पते तद्रूपतया स्वस्वातन्त्र्यात् स्फुरति, न तु केनचित् तथा कल्प्यत इति । कल्पितत्वं कल्पनोत्थापितत्वम्, क्लृप्तिस्तु स्वयमेव तथावस्थितिः ।

एवमकल्पितत्वादध्येयस्यापि अस्य वक्ष्यमाणकञ्चुकाविष्टस्य अदूरविप्रकर्षेण उत्प्रेक्ष्यसिद्ध्यङ्गध्यानमाह–

आदित्यवर्णं रुक्माभमब्बिन्दुमिव पुष्करे ।।१०९।।

उसके विषय में किसी प्रकार की परिभाषा नहीं की जा सकती है । वह सूक्ष्म है । अनन्त विग्रहवान् है । बाल के आगे के सौ भागों के भी सौ भाग की सूक्ष्मता के समक्ष स्थूली कहे जा सकते हैं ।।१०८।।

इस प्रकार अप्रकल्प्य और अध्येय शिव जब कञ्चुकाञ्चित हो जाते हैं, तो अदूर रहते हुए भी विप्रकर्ष की बन जाती है । वह पास में है और अज्ञता के कारण दूरी भी बनी हुई । इसी सन्दर्भ में योगी आगे बढ़ता है । वह उत्तरोत्तर उत्प्रेक्ष्य का प्रेक्षण करने का प्रयत्न करता है और उसे सिद्धि की दिशा मिलती है । उसी ध्यान में वह लीन होता और स्वात्म को शिवत्व से आप्यायित करता है । वही कह रहे हैं–

योगी दिव्यचक्षु से अर्थात् दिव्य दृष्टि से तारक के समान प्रकाशराशि का दर्शन करता है । वह प्रकाश कैसा है ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए भगवान् कहते हैं कि, आदित्य के समान वर्ण से रमणीय है । उसमें रुक्म अर्थात् स्वर्ण की पीताभ रश्मियों का समन्वय रहता है । जैसे कमल पत्र पर पड़ा पारदर्शी प्रावृष कण की आभा ।।१०९।।

पश्यन्ति तारकमिव योगिनो दिव्यचक्षुषा ।

आदित्यवर्णमिति तथा रुक्मस्य हेम्न इव आभा प्रकाशो यस्येत्यनेन दीप्तत्वमात्रमस्य उक्तम्, न तु आकृतिमत्त्वम्, पुष्करे पद्मेऽब्बिन्दुमिवेत्यनेन शरीरादिभूम्यस्पर्शित्वम्, तारकमिवेत्यनेन तु स्फुरत्तासागरत्वम् । दिव्यचक्षुषेति स्वसंवेदनेन । अत्र च प्रातिलोम्येन नवात्मसम्बन्धी द्वितीयो वर्णो वाचकत्वेन प्रकरणानुसारं योजनीयः । तारकमित्यनेन च प्रकृतिबन्धात्तारकत्वमेव तद्ध्यान-स्योक्तमिति सिद्धिरपि निर्दिष्टा । दिव्यचक्षुषेत्यनेनापि तद्ध्यानाद्योगिनोऽशेष-प्रकाशकं चक्षुर्दिव्यमाविर्भवतीति सिद्धिनिर्देशः कृतः । तदेवं पुर्यष्टकवशिनोऽस्य एतद्ध्यानम्, वास्तवेन तु चितिमात्रात्मना रूपेण ध्यातैव अयम्, न तु ध्येयः । चिदात्मैव च सर्वाधिष्ठातृदेवतेत्याशयेन आत्मनोऽत्र देवतान्तराधिष्ठितत्वं नोक्तम् ।

यश्च अयं चितिस्वभावत्वाद् वर्णरूपादिरहितः पुरुष उक्तः, असौ–

रागविद्याकलोपेतः कालबद्धो हि रूपवान् ।।११०।।

इस वर्णन को गहराई से समझना चाहिये । यहाँ कोई आकृति नहीं । किसी आकृति का दर्शन नहीं है । बस सूर्य की रश्मियों की रञ्जकता, स्वर्णवर्णी आकर्षणमयी आभा, कमल में पड़ी स्फटिकवत् जलीय चमक ! न शरीर न भू और न किसी वस्तु का संस्पर्श । बस प्रकाश । योगी उस आभा से स्वयं भव्य हो रहा है । तारक तो अन्तरिक्ष में प्रकाश का स्फुरण ही लगता है । उसी तरह तारे से उसकी आँखों के समक्ष कोई प्रकाश ही स्फुरित हो रहा है मानो ! यह उसका स्वात्म संवेदन है ।

यहाँ साधना के एक रहस्य का उद्घाटन आचार्य क्षेमराज कर रहे हैं । नवनाभ मण्डल में प्रकृति का मूल स्वर 'ऊ' वर्ण बीज के रूप में प्रतिष्ठित है । प्रकृति से जब पुरुष तत्त्व की ओर आगे बढ़ते हैं, तो वर्ण बीज बदल जाता है । दूसरा वर्ण बीज 'ॐ'कार है । इसी का ध्यान तारकवत् करने का निर्देश शास्त्र देते हैं । इसी से सभी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं । दिव्य चक्षु का होना भी सिद्धि का ही अङ्ग है ।

यह ध्यान ऐसे पुरुष तत्त्व का है, जो पुर्यष्टक पाशों में बद्ध है । वास्तविक ध्यान तो चिदानन्दघन पुरुष का हो सकता है । योगी ध्याता है । उसका ध्येय चिदानन्द ही है । सर्वाधिष्ठाता चिदानन्दघन परमात्मा ही होता है ।

प्राङ्निर्णीतरूपकलादितत्त्वपञ्चकात्मककञ्चुकावृत आत्मा रूपवानिति आदित्यवर्णत्वादिध्येयरूप उक्तः ॥११०॥

अथ–

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव...............'। (५।११)
इत्यादिप्रोक्तनवात्मप्रक्रियया नियतिध्यानमाह–

श्यामवर्णेन विज्ञेया स्थिता जीवस्य देवता ।
दक्षिणेन सिताङ्गी तु वामेनासितरूपिणी ।।१११।।

जीवस्य जीवता नियतिनियन्त्रणाप्राणैवेत्याशयेन देवतेत्युक्तम् । नियामकत्वादेव च श्यामा । श्यामच्छायत्वेऽपि च अस्या दक्षवामभागयोः सितासित्वेन धर्माधर्मोत्थापकत्वमुक्तम् ॥१११॥

अस्याश्च–

तद्वर्णानि च वक्त्राणि मण्डलानि विशेषतः ।

दक्षिणे सितानि वामे च असितानीति वक्त्रचतुष्टयमपि दक्षिणतः सितं वामतोऽसितम् । मण्डलानीति वक्त्राङ्गोत्थितानि प्रभामण्डलकानि ।

जब यही, विद्या और कलाओं से कलित हो जाता है । तब वह पाशबद्ध होकर रूपवान् बन जाता है । कञ्चुकों से आवृत ही रूपवान् होता है । यही आदित्य वर्णवत् ध्येय है ॥११०॥

नवात्म प्रक्रिया में ५।११ का श्लोक है–कि, प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश और सदाशिव और शिव ये नवतत्त्व माने जाते हैं । इस क्रम में प्रकृति पुरुष के बाद नियति का ध्यान करते हैं ।

नियति में 'ओं' वायु कोण, व केन्द्र और अन्य अक्षर अपनी जगह पर पड़े रहते हैं। जैसे यह नियति चक्र का रूप है । इसका पूरा रूप श्याम होता हैं। यहाँ जीव की नियन्त्रण कारिणी है। इसलिये जीव की जीवता कहिये या दैवता एक ही बात है। नियामिका है। इसलिये श्यामा है । वामभाग में असितरूपिणी है। दक्षभाग में सित है। इसलिये सितासित रूपिणी है। यह मानते हैं अर्थात् धर्म और अधर्म दोनों की यही उत्थापिका है ॥१११॥

ऊ	ह	र
य	व	क्ष
ओं	ल	म

यह पुरुष को कर्म-बन्ध से बाँधती है। इसके वर्ण ही वक्त्र हैं। वर्ण ही वक्त्राङ्ग भी हैं। इससे उठने वाला प्रभा-मण्डल विशेष आकर्षक होता है।

एषा च सितासितरूपत्वादेव पुरुषम्–

कर्मबन्धेन बध्नाति

अस्य च–

सुखदुःखं प्रयच्छति ।।११२।।

तदीदृशीमेनाम्–

नियतिं च विजानीयादनिवार्यां सुरासुरैः ।

सर्वो हि तन्नियन्त्रितः । इत्थमेषा–

पूर्वबीजसहध्याना द्विरूपेण समन्विता ।।११३।।

पूर्वबीजेन प्रक्रान्तनवात्मसम्बन्धिना वकारेण सह ध्यानं तत्परामर्शसहितं चिन्तनं यस्याः, सा तथा प्रोक्तसितासितात्मकद्विरूपयुक्ता ॥११३॥

तस्याश्च–

ध्यानात्सिद्धिमवाप्नोति

कासौ सिद्धिरित्याह–

नियतेश्च विमुच्यते ।

न भूयो नियत्या नियम्यत इत्यर्थः ।

अथ कालतत्त्वध्यानमाह–

त्रिनेत्रं च चतुर्वक्त्रं कृष्णवर्णं चतुर्भुजम् ।।११४।।

संहरन्तं दुराधर्षमनन्तं कालमीश्वरम् ।

सितासित रूप होने के ही कारण यह पुरुष को आकृष्ट कर बाँधती है । इसी को कह रहे हैं कि, कर्मबन्ध से ही बाँधती है सुख भी देती है और असित होती है । इसलिये दुःख भी प्रदान करती है ॥११२॥

यह इतनी बलवती है कि, सुर और असुर अनिवार्यतः इससे नियन्त्रित्र हैं । यह नियति केन्द्र में 'व' होने के कारण 'व' वर्ण बीज से ही ध्यान की जाती है । ध्यान से ही नियति से विमुक्ति रूप सिद्धि प्राप्त होती है । यह निश्चय है ॥११३॥

ऊ	ह	र
य	ल	क्ष
व	ओं	म

कालतत्त्व–नियति के बाद काल तत्त्व का क्रम आता है । नवनाभ मण्डल के अनुसार इसके वर्ण इस प्रकार हैं–काल त्रिनेत्र तत्त्व है । इसके चार मुख हैं । चतुर्भुज है । अनन्त है अर्थात् किसी से इसका अन्त नहीं हो सकता । अतः यह अपरिच्छेद्य माना जाता है । ईश्वर की तरह ऐश्वर्य सम्पन्न

दुराधर्षं परमयोगिव्यतिरेकेण न अन्येन अभिभवनीयम् । अनन्तमन्येन अपरिच्छद्येम् । ईश्वरं विश्वसर्गसंहारप्रभविष्णुम् । ईदृशं कालं ध्यायेत् ।

अतश्च अस्य–

स्वबीजध्यानरूपज्ञः कालेन नहि कल्यते ।।११५।।

स्वबीजं नवात्मसम्बन्धी लकारः ॥११५॥

ये तु कालवञ्चनाय न यतन्ते, ते

चक्रवत्परिवर्तन्ते कालध्यानविवर्जिताः ।

तदुक्तं तत्रभवता हरिणा–

'जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः ।

स कालः कलयन्सर्वान्कालाख्यां लभते प्रभुः' ॥ इति ।

यत एवम्, तस्मादुक्तदेवतारूपम्–

एवं कालं सदा ध्यायेत्

एवं हि ध्यातुः प्रोक्तकालवञ्चनरूपा–

ध्येयसिद्धिश्च जायते ।।११६।।

न केवलं कालाधिकारोक्तमृत्युञ्जयप्रकारात् कालजयो भवति, यावत्प्रोक्त-कालध्यानादपीत्यर्थः ॥११६॥

है अर्थात् विश्व की सृष्टि और संहार का भी कारण है । संहार में विश्वास करता है और दुराधर्ष है । योगियों के अतिरिक्त किसी से भी अभिभूत नहीं होता । इसका मध्य केन्द्र वर्ण बीज 'ल' कार है । अतः इसी के द्वारा इसका ध्यान करना चाहिये । इसका आकलन असम्भव है ॥११४-११५॥

काल के चक्कर से बचने के लिये सदा तैयार रहना चाहिये । जो काल का ध्यान नहीं करते, उन्हें संसरण चक्र में चक्कर काटना ही पड़ता है ।

किसी 'हरि' नामक शास्त्रकार का कहना है कि, 'जलयन्त्र के समान ऊपर नीचे आने जाने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रवृत्त जीवों को यह काल अपनी कलना का शिकार बनाता रहता है । यह प्रभुः अर्थात् सर्वसमर्थ तत्त्व काल नामक शक्ति की चक्की में पिसने के लिये डाल देता है ।

इसलिये इस देवतात्मा काल का सदा ध्यान करना चाहिये । इसका ध्यान करने वाला पुरुष काल को प्रवंचित कर लेता है । अर्थात् कालतत्त्व से उसका मोचन हो जाता है । ध्यान के ध्येय की यही सिद्धि है कि, ध्याता कालजित् हो जाता है । यह स्थिति मृत्युञ्जय जप से जैसे होती है । काल ध्यान से भी उसी प्रकार की सिद्धि होती है ॥११६॥

एवंप्रकारावमृष्टप्रकृत्यन्ततत्त्वध्यानादनन्तरं य-व-लकारवाच्यं पुंनियतिकालानां सिद्ध्यङ्गं ध्यानमुक्त्वा, नवात्मप्रक्रियया पुमादितत्त्वत्रयेण सह यथाक्रमं युगलकस्थित्या निरूपितानामत एव तद्वर्णावमृश्यानां रागविद्याकलानामपि ध्यानमाह–

रागं तु रक्तवर्णं वै विद्यां श्यामां सुलोचनाम् ।
सितवर्णां कलां ध्यायेच्चैतन्योन्मीलिनीं तु ताम् ।।११७।।

सुलोचनामिति काकाक्षिवत् । अत्रापि चतुर्वक्त्रचतुर्भुजत्वे प्राग्वदनुसरणीये । कलाया विशेषणं चैतन्योन्मीलिनीमिति । यथोक्तं प्राक्–

'कलोन्मीलितचैतन्यो..........'। इति ।

एतच्च–

'...........विद्यादर्शितगोचरः' । (११।९८)

इत्यादिकोपलक्षणपरम् । तानि च तत्त्वानि आत्माश्रये हृदि ध्यानक्रमसाक्षात्कारतो वेद्यीकरणीयानि ।।११७।।

व्यामोहकत्वप्रशमनाय मायाया ध्यानमाह–

कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी दीर्घदन्ता सुलोचना ।
कचोर्ध्वपिङ्गकेशी च स्थूलकाया महोदरी ।।११८।।

माया के पाँच कञ्चुकों में से नवनाभ मण्डल में नवतत्त्वों की प्रधानता में नियति और काल इन्हीं दोनों का वर्णन है । इसके तीन कञ्चुकों से मुक्ति के लिये उनके ध्यान की चर्चा भी यहाँ कर रहे हैं–

राग, रक्त, वर्ण, विद्या, श्यामा और सुलोचना तथा कला को श्वेत मानते हैं । ये सब भी चतुर्भुज एवं चतुर्वक्त्र माने जाते हैं । इन तीनों में कला चैतन्य का उन्मीलन भी करती है । ११।९८ में भी चैतन्य के उन्मीलन की चर्चा की गयी है । इन तत्त्वों का ध्यान भी आत्मा के आश्रय रूप हृदय में ही होना चाहिये ।।११७।।

माया जहाँ व्यामोह प्रदान करने में दक्ष है, वहीं ध्यान करने पर यह व्यामोह का प्रशमन भी करती है । व्यामोह होने के कारण ध्यान में कुछ विशिष्टता अपेक्षित है । वही कह रहे हैं–

माया का वर्ण कृष्ण है । इसकी आँखें लाल हैं । इसके निकले दाँत इसको डरावना बना देते हैं । शिर के बाल खड़े खड़े है । पिङ्गकेशी माया की काया स्थूल है और उदर का भाग आगे निकल कर लटका सा प्रतीत होता है । इस रूप में इसकी कर्कशता चित्रित है । यहाँ माया के स्वरूप मात्र का ही वर्णन है ।

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वादस्या ईदृग्रूपं ध्यानमुक्तम् । कचेषूर्ध्वमिति उत्थिताः पिङ्गाः केशा यस्याः । इह यद्यपि केषाञ्चित् तत्त्वानां स्वरूपमात्रं ध्यानमुक्तमन्येषामाकृतिमद्देवतारूपत्वं तद्देवताधिष्ठितत्वम्, तथापि सर्वत्र तत्तदाभासरूपाणां तत्त्वानां तत्तद्देवताधिष्ठितत्वमेव साध्विति तत्तद्देवताधिष्ठितमूर्तीन्येव सर्वतत्त्वानि ध्यातव्यानि ॥११८॥

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वमेव अस्याः स्फुटयति–

या पातयति भूतानि ब्रह्माद्यानि पुनः पुनः ।

पातयति स्वरूपाच्छादनप्रमुखं संसारीणि कुरुते ।

ततश्च तैः–

निर्वैरपरिपन्थित्वान्माया ग्रन्थिर्दुरुत्तरा ॥११९॥

निर्वैरं निष्कारणमेव परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा माया परिपन्थिनी पूर्णस्वरूपगोपनेन सङ्कुचितक्षेत्रज्ञस्वरूपोत्थापिका, तद्रूपत्वादेव च पुंबन्धिका माया ग्रन्थिरित्युच्यते ॥११९॥

अतश्च परमेश्वरानुग्रहं विना न केनचिदुत्तीर्यत इत्याह–

साङ्ख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविदश्च ये ।
न तां लङ्घयितुं शक्ता ये चान्ये मोक्षवादिनः ॥१२०॥

बहुत से देवताओं की आकृति और तत्त्वों में उनके देवताओं के अधिष्ठित स्वरूप का भी वर्णन किया जाता है । इससे अच्छा क्रम यही है कि, उन उन रूपों में भासमान तत्त्वों के और उनके अधिष्ठित देवताओं का वर्णन क्रम ही पारम्परिक हो और यही होना भी चाहिये । सारे तत्त्वों के ध्यान इसी तरह हों, तो अच्छा है ॥११८॥

माया की यह सर्वमान्य बात है कि, यह ब्रह्मा से लेकर सभी प्राणियों के स्वरूप को आच्छादन के योग्य बना देती है । इस तरह स्वरूप-स्तर से इन सभी को पतित कर देती है । अकारण अस्मिता को लूटने वाली अर्थात् स्वरूप गोपन कर जीव के संकुचित स्वरूप को ही उत्कर्ष प्रदान करती है । इस रूप में पुंस्त्व को बन्धन प्रदान करने में तनिक भी कमी नहीं करती । इसीलिये इसे ग्रन्थि कहते है । यह दुरुत्तरा ग्रन्थि है । शास्त्र इस सच्चाई को सामने रख देता है ॥११९॥

इसके बन्ध से मुक्त होने का सबसे बड़ा उपाय परमेश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करना है । यही कह रहे हैं कि, सांख्य, वेद और पुराणों के जानकार तथा अन्यान्य शास्त्रीय रहस्यों में अपने को सर्वज्ञ मन्यमान अथवा अन्य मोक्षलिप्सा

अन्यशास्त्रममाहेश्वरम् ॥१२०॥

यतः सर्व एव ते–

क्लिश्यन्ति मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।

स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनपरभैरवैक्यापत्त्यात्मना मुक्तेरन्यो यः कश्चिन्मोक्ष उच्यते, स तावदध्वोत्तीर्णतायामपि इतराध्वानुत्तरणादमोक्षे मोक्षावभासः ।

स्वबीजध्यानयोगेन पूर्वध्यानस्वरूपतः ॥१२१॥
दीक्षासिना च तां छित्त्वा विशन्ति शिवमव्ययम् ।

स्वबीजं नवात्मसम्बन्धी मकारस्तस्य ध्यानं परामर्शस्तत्प्रधानेन सहितं यत् पूर्वोक्तम्–

'कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी.............'। (१२।११८)

इत्यादि ध्यानं तत्स्वरूपतो हेतोर्या पूर्वोक्ता निरूपिता दीक्षा, सैव असिः खड्गस्तेन तां मायां छित्त्वा शिवं विशन्ति तदैकात्म्यमायान्ति ।

शुद्धविद्याध्यानमाह–

चतुर्वर्णा भवेद्विद्या सा वर्णव्यापिनी स्मृता ॥१२२॥

से उपासना में स्वात्म को विलक्षण कहने वाले लोग इस माया को अतिक्रान्त नहीं कर पाते । क्योंकि ये सभी माहेश्वर मार्ग से अपरिचित हैं ॥१२०॥

माया के द्वारा ये सभी अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा से विभ्रान्त जीव अनेक प्रकार के क्लेशों से क्लिष्ट रहते हैं । स्वच्छन्द चिद्घन परभैरव तादात्मय की उपलब्धि ही मुक्ति है । इसके अतिरिक्त जितने मोक्ष हैं, सभी अमोक्ष हैं । एक अध्वोत्तीर्णता में अन्य अध्वाओं की अनुत्तीर्णता में अमोक्ष ही होता है । इसमें मोक्ष की लिप्सा का व्यवहार उत्तम नहीं हो सकता । इसमें मोक्ष का अवभास मात्र होता है । इसलिये माया बीज के ध्यान से अपने कल्याण की कामना करनी चाहिये । माया बीज नवनाभ मण्डल के माया चक्र के अनुसार केन्द्रीय बीज वर्ण मकार होता है । इसी बीज का ध्यानात्मक परामर्श इसमें लाभदायक होता है । ध्यान की चर्चा पहले की जा चुकी है । स्वरूप निर्धारितकर माया दीक्षा की तलवार से माया के आवरणों का उच्छेद कर अव्यय शिव में तादात्म्य लाभ करना ही श्रेयस्कर है ॥१२१॥

शुद्धविद्या ध्यान–

शुद्ध विद्या चार वर्णों से समन्वित है । इसे आदिक्षान्त परापश्यन्ती मध्यमा और बैखरी वर्णों में व्याप्त रहने के कारण वर्ण-व्यापिनी भी कहते हैं । माया को अतिक्रान्त कर सित-सृष्टि की पहली तत्त्व-रूपा यह पारमेश्वरी शक्ति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है ॥१२२॥

सितरक्तपीतकृष्णा ध्यातव्या सुषिरात्मिका ।
आकाशवायुमारूढा रूपयौवनशालिनी ।।१२३।।

इह–

'सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदन्तयोः' । (३।१।३)

इति प्रत्यभिज्ञायां निर्दिष्टरीत्या अशेषवाच्यवाचकाविभागप्रकाशमय्याः शुद्धविद्यायाः सर्ववाचकतद्वाच्यव्यापि रूपमित्थमादिशति परमेश्वरः । तथा हि चतुर्भिरम्बाज्येष्ठा-रौद्रीवामाख्यैर्बिन्दुसृष्टरेखाशृङ्गाटकार्धचन्द्रसन्निवेशैरागमोक्तरूपैर्वर्णनं स्वरूपव्यक्ती-करणं यस्याः, अतश्च वर्णानामादिक्षान्तानां व्यापिनी प्रोक्तशक्तिचतुष्टयक्रमेण पञ्चा-शद्वर्णभट्टारकात्मकस्वरूपोत्थापिका स्मृतेति अविच्छिन्नेन पारम्पर्येणाधीतेत्यनेन समस्त-वाचकव्यापि रूपमस्या उक्तम् । सितेत्यादिना तु समस्तवाच्यवाचकं पञ्चतत्त्वदीक्षा-निरूपितनीत्या पृथिव्यादितत्त्वपञ्चकात्मनो विश्वस्य पीतसितरक्तकृष्णसुषिरात्मकत्वात् तद्व्यापिन्या देव्यास्तथारूपता उक्ता । यतश्च अस्याः प्रतिपादितयुक्त्या समस्त-वाचकव्यापित्वमत एव इयमाकाशवायुं सर्ववर्णोदयास्पदं सौषुम्नं पदमारूढा । पूर्वोक्तनीत्या वर्णकुण्डलिन्याः प्राणकुण्डलिनीवाहनत्वादशेषवाच्यपरिपूर्णत्वादेव च इयं रूपयौवनशालिनी उक्ता । चतुर्वक्त्रेत्यादिरपपाठो भुवनाधिकारे–

सित, रक्त, पीत और श्याम यही इसके चार वर्ण हैं । यह इदन्ता और अहन्ता को समान अधिकरण पर रखकर साधक के समक्ष वैचारिक अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करती है । प्रत्यभिज्ञा (३।१।३) की इस उक्ति का विज्ञान शुद्धविद्या की संज्ञा में ओतप्रोत है । यह समग्र वाच्य और वाचक के अविभाग भाव का प्रकाशन करने में समर्थ है । समस्त वाचकों और वाच्यों में यह व्याप्त रहती है ।

पञ्चतत्त्व दीक्षा की सन्दर्भ में व्यक्त पृथ्वी की पीत वर्णता, अप्तत्त्व का सित रूप, तेज का रक्तरूप, वायु का कृष्ण रूप और आकाश का सुषिर रूप इदन्ता के अन्तर्गत पड़ने के कारण इसमें व्याप्त रहती है । इस तरह यह वाच्य में भी व्याप्त है और देवात्म वाचकों में भी व्याप्त रहने के कारण वाच्य वाचक दोनों रूपों में यह व्याप्त मानी जाती है ।

परिणाम यह होता है कि, सर्ववर्णोदयास्पद सौषुम्न पद पर आरूढ हो जाती है । क्योंकि आकाश वायु में आरूढ होने की प्रक्रिया से ही सौषुम्न पद पर प्रवेश मिल सकता है । इसके लिये इसका सुषिरात्मक रूप आधार बन जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, प्राण कुण्डलिनी ही वर्ण कुण्डलिनी की वाहक होती है । समस्त वाच्यों से परिपूर्ण होती है । उनमें बोध की सुधा भरी

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा.........'। (१०।११४४)

इत्युपक्रम्य विद्याधिष्ठितानां वामादिशक्तीनामपि–

'तप्तचामीकराकारा: पञ्चवक्त्रा...............'। (१०।११४६)

इत्यादिध्यानाभिधानात् ॥१२३॥

तदीदृशी एषा–

स्वबीजेन तु सा ध्येया

नवात्मसम्बन्धिना क्षकारेण ककारसकाराकारपिण्डीकरणयुक्त्या स्वीकृतविश्वात्मना कूटबीजेन परामष्टव्या ।

एवं च साधकस्य अशेषविश्वप्रकाशात्मिका–

तत्सिद्धिश्चैव जायते ।

चकारेण दण्डापूपिकान्यायेन अणिमादिसम्पत् समुच्चिता ।

तदेषा अशेषविश्वात्मताप्रथनयुक्त्या अनुत्तरधामविकासात्मकपरफलपर्यवसायिनी–

दिव्या सिद्धिरमोघा तु

अतश्च अयं साधक:–

सिद्धविद्यश्च जायते ।।१२४।।

रहती है । इसका परिणाम यह होता है कि, अमृत पान करने के कारण यह नित्य रूप और यौवन से सम्पन्न रहती है ।

१०।११४४ में इसे अषृवर्गों में उल्लसित भी कहा गया है । १–अवर्ग, २–कवर्ग, ३–चवर्ग, ४–टवर्ग, ५–तवर्ग, ६–पवर्ग, ७–यवर्ग और ८–शवर्ग यही इसके आठ वर्ग होते हैं । आठ इनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी होती है । वामा, ज्येष्ठा, रौद्री आदि का वर्णन भी १०।११४६ में किया गया है । वहाँ उनके ध्यान की भी चर्चा है ॥१२३॥

इसका ध्यान नवात्म प्रकरण गत नवनाभ मण्डल चक्र के अनुसार 'क्ष' चक्रेश्वर वर्ण बीज के साथ मन्त्र बनाकर करना चाहिये । यह क और स के योग से बनने वाला विश्वात्मक वर्ण माना जाता है । इसे कूट बीज भी कहते हैं । इसके साथ ही यह परामृश्य है ।

इस तरह अशेष विश्व की प्रकाशिका शुद्ध विद्या मानी जाती है । इस रूप में बीज के साथ ध्यान करने पर इसकी सिद्धि हो जाती है और साथ ही साथ अणिमादि संपत्समुपलब्धि ही होती है ।

सिद्धा वशवर्तिन्यः सप्तकोटिसङ्ख्या विद्या यस्य ॥१२४॥

किञ्च–

वेदलोकांस्ततः सर्वान्

लोकयन्तीति लोका रुद्रक्षेत्रज्ञाः, लोक्यन्त इति लोकाः शुद्धविद्यादिक्षित्यन्तानन्ततत्त्वादिमायापदार्थाः, तान्वेत्ति स्वाधारवर्तिनः सर्वान् स्वसामानाधिकरण्येन पश्यति ।

न केवलमयं सर्वज्ञो भवति, यावत्–

कामरूपी स गच्छति ।

शिववत् स्वेच्छामात्रेण तत्तदाकारनिर्माता भवतीति यावत् ।

अथ ईश्वरतत्त्वप्रभोरीश्वरस्य प्रागादिवक्त्रध्यानमाह–

कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ॥१२५॥

पूर्वाननमभिध्यायेत्

नराणामीश्वरस्य अनुग्रहादिकर्तुस्तत्पुरुषभट्टारकस्य इदं नारेशम् । अर्धनारीशमिति अपपाठः । भुवनाध्वनि–

अनुत्तर धाम में विकासात्मिका होने के कारण इसकी अमोघ और दिव्य सिद्धि बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है । इसकी साधना से साधक 'सिद्धविद्य' हो जाता है । अर्थात् सारी विद्यायें इसकी वशवर्त्तिनी हो जाती हैं । अतः यह सदा सेव्य है ॥१२४॥

शुद्धविद्या की आराधना का यह सुपरिणाम है कि, साधक समस्त लोकालोक वेत्ता हो जाता है । लोकयन्ति इति विग्रह वाक्य के अनुसार लोक रुद्र क्षेत्र के वे विशेषज्ञ होते हैं, जो ज्ञान के आधार पर-सर्वज्ञ को आलोकित कर देते हैं ।

लोक्यन्ते इति लोकाः विग्रह के अनुसार शुद्धविद्या से पृथ्वी पर्यन्त तत्त्व रूप माया प्रभावित पदार्थ ही लोक हैं । इन्हें गहराई के साथ तात्त्विक रूप से जानने वाला सामानाधिकरण्य की दृष्टि से इदन्ता और अहन्ता के सन्दर्भ में देखता है ।

यही नहीं शिव की तरह सर्वग बन जाता है । अपनी इच्छामात्र से जहाँ चाहता है, वहाँ उपस्थित हो जाता है । जिस आकार को चाहता है, उसे उसी रूप में प्रत्यक्ष कर देता है । शुद्धविद्या का यह महाप्रभाव है ।

'तस्योत्सङ्गगता विद्या.......'। (१०।११५८)
इत्युक्तत्वादर्धनारीश्वरतायाः का सङ्गतिः ।

तदीदृशं यत् पूर्वमाननं तद्ध्यानात् प्रकृष्टतपोनिष्ठस्य–

वायुभक्षस्य यत्फलम् ।

तत्पुण्यफलमाप्नोति

वायुव्याप्त्या अस्य वक्त्रस्य आगमे उक्तत्वात् तद्ध्यानप्रारम्भे एतद्ध्यातुः फलमिहैव आविर्भवति ।

क्रमात्तु–

अश्वमेधायुतस्य च ।।१२६।।

फलमाप्नोति ॥१२६॥

ध्यानप्रकर्षाच्च अस्य–

जगच्च वशमायाति

यतः सर्वत्र जगत्त्रये

क्रमते सिद्धिमेति च ।

ईश्वरतत्त्व ध्यान–

ईश्वरतत्त्व के पूर्ववक्त्र रूप तत्पुरुष वक्त्र का ध्यान इस तरह करना चाहिये । १–वह कुङ्कुम की तरह रक्ताभ है । २–मनुष्यों के ईश्वर से सम्बन्धित नरस्य इदं विग्रह के अनुसार राजस वर्चस्व से विभूषित रूप में ध्यातव्य है ।

३–त्रिनेत्र त्रिलोचन शिव रूप में ध्यातव्य है ।

४–जटाजूटधारी शिव रूप में ध्यातव्य है । यह पूर्व दिशा में पड़ने वाले तत्पुरुष वक्त्र का ध्यान है ॥१२५॥

(१०।११५८) भुवनाध्वा के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि, 'उसकी गोद में शुद्धविद्या विराजमान है' । इसकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं ।

पूर्वतत्पुरुषवक्त्र के ध्यान से वही फल प्राप्त होता है, जो वायुभक्ष का फल होता है । आगम में यह भी कहा गया है कि, इस वक्त्र में वायु की व्याप्ति होती है । इसलिये इसके ध्यान के प्रारम्भ में ही ध्यान का फल प्राप्त होने लगता है और उसी पुण्य का फल साधक को प्राप्त होने लगता है । परमेश्वर का आदेश है कि दश हजार अश्वमेधों के पुण्यफल इस क्रिया से प्राप्त होते हैं ॥१२६॥

ध्यान के प्रकर्ष का सुपरिणाम यह होता है कि, सारा जगत् साधक के वश में हो जाता है । तीनों लोकों में चंक्रमण की शक्ति उसमें आ जाती है ।

तत्तद्भुवनेशवत् प्रभवति, अणिमादिमांश्च भवति ।

एतच्च अस्य–

षड्भिर्मासैरसन्देहः

मासषट्कध्यानाद् निश्चितं भवतीत्यर्थः ।

दक्षिणस्य ध्यानं वक्तुमुपक्रमते–

दक्षिणं च तथैव हि ।।१२७।।

ईश्वरस्य । त्रिनेत्रं ध्यायेदिति तथैवेत्यस्य अर्थः ॥१२७॥

विशेषं तु आह–

नीलाम्बुदप्रतीकाशं पिङ्गभ्रूश्मश्रुलोचनम् ।
भ्रुकुटीकरालवक्त्रं च कपालाहिविभूषितम् ।।१२८।।
बहुरूपजटाधारं दक्षिणं तस्य चिन्तयेत् ।

वक्त्रं चेति चस्त्वर्थो विशेषद्योतकः । द्वितीयो दक्षिणशब्दः साधकानुकूल्यवाची ।

इत्थं च एतत्–

सुखदुःखविनाशाय ईतिज्वरविनाशनम् ।।१२९।।

भुवनों के स्वामियों (भुवनेश्वरों) के समान सर्व समर्थ हो जाता है । अणिमादि सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं । यह सारा ऐश्वर्य भाव छः मास के अनवरत ध्यान से आ जाता है । इसके बाद दक्षिणवक्त्र के ध्यान की चर्चा करेंगे ॥१२७॥

ईश्वर के दक्षवक्त्र को अघोर वक्त्र कहते हैं । यह नीले गभुआरे बादल की तरह श्यामवर्णी देव है । इसकी मूछें और दाढ़ियों का रंग पिङ्गलवर्णी है । आँखों से भी पिङ्गलता झलकती है । भौंहें विकराल और वक्र है । मुख से भी क्रोध ही झलकता है । शिर पर बहुरूपी जटाओं में आभूषण का काम सर्प करते हैं । यह दक्षिण वक्त्र का ध्यान है । यहाँ दक्षिण शब्द आनुकूल्य व्यक्त करने वाला है ॥१२८॥

साधक के प्रति अघोर कभी भी घोर नहीं होते । अनुकूल बने रहते हैं, क्योंकि बड़े दयालु हैं । इनके ध्यान और उपासना से भोगासक्ति रूप सुख और जागतिक सभी दुःखों का विनाश हो जाता है । इति की भीति नहीं रहती । समस्त ज्वरों का नाश हो जाता है ॥१२९॥

विशेषस्तु–

विषग्रहादि सर्वं तु ध्यानान्नाशयते क्षणात् ।

किञ्च–

अग्निवज्ज्वलते योगी जरामृत्युविवर्जितः ।।१३०।।

क्रमते सर्वलोकान्वै सिद्धश्च समतां व्रजेत् ।

सिद्धः प्राग्वत् मासषट्कध्यानात् । क्रमते स्वामित्वेन अधितिष्ठति । समतां व्रजेत् परमेशसाम्यमेति ।

पश्चिमवक्त्रध्यानमाह–

सितं त्रिनयनं देवि साक्षसूत्रकमण्डलु ।।१३१।।

पश्चिमं वदनं ध्यायेद्दिव्यसिद्धिप्रदायकम् ।

दिव्यसिद्धिरणिमादिका ।

इयांश्च एतद्ध्यानस्य महिमा, यत्–

हत्वा प्राणिसहस्राणि परदारशतानि च ।।१३२।।

इनके ध्यान से विष और दुष्ट ग्रहों की शान्ति हो जाती है । क्षणों में इनका विनाश हो जाता है । योगी जरामृत्यु रहित हो जाता है और तेज उसका अग्नि की तरह आग्नेय बना रहता है ॥१३०॥

समस्त लोकों में आने जाने में वह समर्थ हो जाता है । सभी सिद्धियों का अधिकारीं हो जाता है और ईश्वर की समता को प्राप्त कर लेता है ।

पश्चिमवक्त्र ध्यान–

इसके पश्चिमवक्त्र का ध्यान करना चाहिये । यह श्वेतवर्ण का होता है । इसके तीन नेत्र होते हैं । यह अक्षसूत्र और कमण्डलु धारण करने वाला वक्त्र तत्त्व है । शास्त्र में इसे सद्योजात कहते हैं ॥१३१॥

यहाँ वक्त्र दिव्य सिद्धि प्रदान करता है । इसकी उपासना का यह सुपरिणाम है कि, साधक को अणिमादि सभी सिद्धियों की उपलब्धि अनायास ही हो जाती है । इसकी उपासना का एक अन्यतम महत्त्व यह है कि, सहस्त्रों प्राणियों का वध करने वाला और अन्य स्त्रियों के साथ सम्भोग का अकृत्य करने वाला भी निष्पाप ही हो जाता है । अर्थात् सद्योजात के ध्यान का यही महत्त्व है कि अन्य शास्त्रों की दृष्टि में महापातकत्व युक्त भी सुतपा और पवित्र ही रहता है । यह शास्त्र-दृष्टियों का अन्तर समझने योग्य है । शिव तुल्य हो जाना कामेश्वरत्व का ही द्योतक है ॥१३२॥

अलेपको विशुद्धात्मा सिद्धिं प्राप्य शिवो भवेत् ।

हन्तिरिह हिंसार्थो गत्यर्थश्च क्रमेण । न केवलं प्राप्तसाधकदीक्षः सद्योवक्त्र-ध्यानादणिमादिसिद्धिं प्राप्य शिवो भवति, यावद् महापातकयुक्तोऽपीत्यर्थः । अतश्च प्रायश्चित्तविषयमपि एतद्ध्यानं निरूप्यमित्यादिष्टम् ।

उत्तरास्यध्यानमाह–

त्रिनेत्रमुत्तरं वक्त्रं रक्तोत्पलसमद्युति ।।१३३।।

यत्–

ध्यानात्तस्य जगत्सर्वं वशमेति न संशयः ।

मासषट्कं ध्यातुरिति अर्थात् । किञ्च–

तपते वर्षते चैव सृजते सहरत्यपि ।।१३४।।

ईप्सितां लभते सिद्धिं योऽब्दमेकं तु चिन्तयेत् ।

आत्मनेपदानि व्यत्ययात् ।

ऊर्ध्वास्यध्यानमाह–

सितमूर्ध्वं सदा ध्यायेच्छूलहस्तं जटाधरम् ।।१३५।।

उत्तरवक्त्र का ध्यान–

उत्तरवक्त्र का शास्त्रीय नाम वामदेव है । इसका बीज वर्ण 'व' है । वं वामदेवगुह्याय नमः मन्त्र से ध्यान और जप करने का आदेश शास्त्र देता है । यह त्रिनेत्र है और लाल कमल के समान इसकी द्युति होती है ।।१३३।।

इसके ध्यान से सारा जगत् वश में आ जाता है । इस उक्ति में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये । जो साधक छः माह तक इसका ध्यान अनवरत करता है, वह सूर्य की तरह चमकने लगता है । वह अग्निदेव की तरह तपने लगता है । वरुण की तरह विश्व को आप्यायित करने के लिये कृपा की वर्षा भी कर सकने में समर्थ हो जाता है । सृजन और संहार करने शक्ति से समन्वित हो जाता है ।।१३४।।

वह ईप्सित सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है । इसकी साधना में एक वर्ष का समय लगाना आवश्यक है । तभी ईप्सित सिद्धियों की उपलब्धि होती है ।

ऊर्ध्वास्य (ईशान) वक्त्र का ध्यान–

इसी के बाद ऊर्ध्ववक्त्र के ध्यान का क्रम आता है । इनका अनवरत ध्यान मङ्गलमय होता है । ध्यान में इनके हाथ में शूल और शिर पर जटाओं का जाल आना चाहिये ।।१३५।।

व्याघ्रचर्मपरीधानं साक्षसूत्रकमण्डलु ।
वीणाडमरुहस्तं च नागयज्ञोपवीतकम् ।।१३६।।
चन्द्रमूर्धोर्ध्वलिङ्गं च ध्यायेन्नित्यं महेश्वरम् ।

ऊर्ध्वलिङ्गमिति मौलिस्थाने लिङ्गाकारम् । महेश्वर इति पदेन एकवक्त्रं महेश्वरं ध्यायेत्, न तु वक्त्रमात्रमस्य इत्यर्थः । नित्यमिति मासषट्कं यावत् ।

अतश्च–

अनेनैव तु देहेन सर्वज्ञः कामरूपवान् ।।१३७।।

भवतीति शेषः ।।१३७।।

एवमीश्वरतत्त्वधिष्ठातुरीश्वरस्य आकृतिमतो ध्यानमुक्तम् । अथ अस्यैव–

'...........बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' । (४।२६४)

इति योजनिकाग्रन्थदृशा सर्वमिदमहमित्यशेषविश्वाभेदवेदनात्मकबिन्दुरूपस्य अन्तर्गतविश्ववाचकविभागमयनादध्यानमाह–

घण्टानादस्य वा ध्यानात्सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत् ।
ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ।।१३८।।

वे व्याघ्र चर्म धारण करते हैं । अक्षसूत्र और कमण्डलु से वे शोभित होते हैं । वीणा और डमरु इनके प्रिय वाद्य हैं । जिनका प्रयोग हाथ से बजाने में करते रहते हैं । नागों का ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं ।।१३६।।

इनकी मूर्धा पर चन्द्र सदैव शोभायमान रहते हैं । इनका ऊर्ध्वभाग लिङ्गवत् गोलाकार होता है । ऐसे एकवक्त्र महेश्वर का अनवरत ध्यान बड़ा कल्याणकारी होता है । इस ध्यान की अवधि कम से कम छः माह की होनी चाहिये ।

इस प्रक्रिया में लगे उपासक इसी शरीर से अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बन जाते हैं और इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ हो जाते हैं ।।१३७।।

इस तरह ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वर अर्थात् ईश्वरतत्त्वेश्वर का आकृतिमय ध्यान यहाँ तक वर्णित किया गया है ।

४।२६४ में इसी तत्त्व की योजनिका प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'बिन्दु रूप में स्वयम् ईश्वर हैं' कहा गया है । ईश्वरतत्त्व की अनुभूति का स्वरूप 'सर्वमिदमहमस्ति' है । शुद्धविद्या में इदन्ता और अहन्ता का सामानाधिकरण्य है । जैसे इदम् इदम् अहम् अहम् । किन्तु ईश्वर तत्त्व में अहमेव इदं सर्वम् की अनुभूति में इदन्ता गौण होकर अहन्ता तें समाहित होती लगती है । यह उल्लास क्रमशः दीख पड़ता है, पर यह अहं मय होता है ।

घण्टारवाकारस्य बिन्द्वन्तर्गतनादामर्शस्य ध्यानात् षाण्मासिकी सिद्धिर्भवेदिति षड्भिर्मासैर्नादामर्शे साक्षात्काररूपा सिद्धिस्तस्य भवति तत्सिद्धौ च यथेष्टसिद्धवस्तुप्राप्तिर्देहस्थस्यैव अस्य घटते ॥१३८॥

अथ अस्यैव अन्तर्भूतनादमशेषविश्वाभेदवेदनात्मकं बिन्दुप्रकाशमयं पूर्वमीशानवक्त्रध्यानमूर्ध्वलिङ्गमिति यत् लिङ्गमुक्तम्, तस्य ध्यानमाह–

लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात्पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत्स सूक्ष्मं लिङ्गं तनूपरि ।।१३९।।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।

लीनमनभिव्यक्ततया अन्तःस्थितं विश्वमस्येति लिङ्गमशेषविश्वाभेद-वेदनात्मकबिन्दुप्रकाशमयम् । पूर्वमीशानवक्त्रमूर्ध्वमात्रम् । पूर्वबीजं नवात्मक-

---

विश्वाभेद की संवेदना उन्मिष्ट हो जाती है । अभेदता ही बिन्दुरूपता होती है । इसके अधिष्ठता ईश्वरतत्त्व ही है । इस बिन्दुरूपता की वेदनात्मकता में संवेदना सूक्ष्म नाद परामर्श रूप में विमृश्य होती है । यह नाद सूक्ष्म स्फुरण रूप ही होता है । इसके ध्यान के विषय में भगवान् कह रहे हैं कि,

घण्टानाद के अनुरणन के समान ध्यान करने में लगातार छः महीने का समय लगाने से सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । मर्त्यलोक के लिये सारी अभीप्सित सिद्धियाँ यहीं उपलब्ध हो जाती हैं ।

यह षाण्मासिकी सिद्धि मानी जाती है । नादामर्श में इनका साक्षात्कार भी हो जाता है । देहभाव में ही ये सारी सिद्धियाँ मिल जाती है ॥१३८॥

यह अन्तर्भूत नादामर्श अशेष विश्वात्मक होता है । इसमें अभेद अद्वय भाव का संवेदन होता है । इसीलिये इसे बिन्दु प्रकाशमय कहते हैं । प्रस्तुत कारिका द्वारा ऊर्ध्वलिङ्गाकारा ईशान वक्त्र का ध्यान बता रहे हैं–

यद्यपि इसका बीज वर्ण 'क्ष'कार है । अतः 'क्षं ईशानमूर्ध्ने नमः' इस सामान्य मन्त्र से जप करते हुए ध्यान करना चाहिये किन्तु यह प्रकरण पूर्ववक्त्र रूप ईश्वर का है । अतः यहाँ 'र' बीजवर्ण लगाकर ही जप होता है । जो साधक एक मास तक लगातार इस तरह ध्यानमग्न हो जाता है, वह सब अनुभव करता है, कि हमारे शरीर पर एक दिव्य सूक्ष्म लिङ्गाकार शिव अवतरित हो गये हैं ।

यह अनुभव होता है कि, वह हमारे ऊपर चारों ओर घेरकर स्फटिक की पारदर्शिता के साथ चमक रहा है । यहाँ लिङ्ग शब्द की परिभाषात्मकता पर भी ध्यान देना चाहिये । लीन है, अभिव्यक्ति पूर्वक अन्तःस्थित है विश्व जिसमें, वही

सम्बन्धी रेफः, स च पूर्वदिग्वक्त्रध्यानेऽपि परामर्शकत्वेन अनुसन्धेयः । सूक्ष्मं सर्वेन्द्रियविषयं पश्येत् तत्प्रकाशमयः स्फुरेत् । विमुच्यते जीवन्मुक्तिमासादयते ।

यदि तु एतद्ध्यानवतः सिद्ध्यभिलाषो भवति, तदा-

सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते ।।१४०।।

तां दर्शयति-

त्रैलोक्यदर्शने बुद्धिः प्रत्यक्षा तस्य जायते ।

त्रैलोक्यदर्शनविषये साक्षात्काररूपा धीरस्य उदेति साक्षात्कृताशेषविश्वोऽयं भवतीत्यर्थः । तथा-

आक्रामेत्सर्वलोकांश्च

स्ववशान्कुर्यात् । किञ्च-

ईश्वरेण समो भवेत् ।।१४१।।

देहस्थोऽपि ईश्वरभट्टारकतुल्यो भवति ॥१४१॥

लिङ्ग माना जाता है । अशेषविश्वाभेद की संवेदना के कारण वह बिन्दुप्रकाश से समन्वित होता है । इसमें पूर्वबीज नवनाभ मण्डल के नववर्णात्मक बीजों के आधार पर ईश्वर का बीज वर्ण 'र' माना जाता है ।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि, स्वच्छन्द भैरव पञ्चब्रह्मभङ्गी के अनुसार उनके बीज वर्ण क्षं ईशान, यं तत्पुरुष, रं अघोर वं वामदेव और लं सद्योजात के क्रम में होते हैं । यहाँ भी अर्थात् ईश्वर तत्त्व में भी इन वक्त्रों का इन्हीं नामों के साथ वर्णन किया गया है । स्वाध्यायशील व्यक्तियों को इस साधना क्रम में सावधान रहना चाहिये ।

इस शुद्ध स्फटिकवत् अद्वयता के प्रतीक लिङ्गाकार का कोई भी साक्षात्कार कर विमुक्त हो जाता है । जीवन्मुक्ति प्राप्तकर लेता है । इस ध्यान में अनवरत संलग रहते हुए छः माह का समय यदि लग जाय तो, मानुष्ययोनि में अभीप्सित सभी सिद्धियाँ अनायास ही उसे उपलब्ध हो जाती हैं ॥१४०॥

सिद्धि के विषय को प्रकाशित कर रहे हैं-

१-त्रैलोक्य दर्शन की बुद्धि जागृत होती है अर्थात् समस्त सर्जन सत्त्व के रहस्य का द्रष्टा बनने की आकाङ्क्षा साधक में उत्पन्न हो जाती है ।

२-वह समस्त लोकों को अतिक्रान्त करने की कामना का कामेश्वर बन जाता है । और

इदं च अस्येश्वरतुल्यत्वम्, यत्–

सोमार्कौ चक्षुषी स्यातां चक्रे वै धी रथस्य तु ।
तन्मात्राणि हयास्तस्य मनः सारथि चोदितः ।।१४२।।
अहङ्कारो भवेद्योद्धा गुणश्चास्य महाधनुः ।
इन्द्रियाणि शरास्तस्य मृगो धर्मः प्रकीर्तितः ।।१४३।।

इह अनुन्मिषितविवेकप्रज्ञः सत्त्वादिगुणबद्धः पुर्यष्टकाविष्टोऽहङ्काराधिष्ठितमनः-प्रवर्तितैरिन्द्रियैर्विषयानाहरन्धर्माधर्माभ्यां बध्यते । यस्तु ईश्वराराधनात्प्राप्ततत्साम्यो योगीन्द्रः, स देहावस्थितोऽपि पुर्यष्टकं रथमिव वासनात्मकतन्मात्रकेण बहिः प्रवर्तमानं विवेचिकाया धिया चक्ररूपया सम्यक्सञ्चार्यमाणमारूढो ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिमयसोमार्काभ्यां चक्षुर्भ्यां विश्वमालोचयन्दीप्तेन्द्रियशक्तिग्रस्यमाने विषयग्रामे न कदाचित्पशुजनसुलभैर्धर्मादिविकल्पैः स्पृश्यत इति निस्त्रैगुण्यः पूर्णाहंभावमयोऽयम् । शिष्टं काव्यमात्रम् ॥१४३॥

३–वह ईश्वर की आराधना में सिद्ध होने के कारण ईश्वर के समान हो जाता है । देह में रहते हुए भी उसके स्वात्म में ऐश्वर्य का अधिष्ठान हो जाता है ॥१४१॥

उसकी ईश्वर तुल्यता इन बातों से प्रमाणित होती है । १–इन्दु और अर्क उसकी आँखों में अपने अमृतत्व और अपनी तेजस्विता का तत्त्व भर देते हैं ।

२–बुद्धि के रथचक्र में ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति के पहिये दौड़ने लगते हैं ।

३–इस रथचक्र में पाँच घोड़े जोते जाते हैं । ये पाँचों तन्मात्रात्मक विषय है ।

४–मन ही इस रथचक्र का सारथि है ।

५–अहङ्कार कुरुक्षेत्र को कौरव और धर्म क्षेत्र के पाण्डव-लड़ाकों का गुरु है ।

६–गुणों के धनुष केशर शिवात्मता पर ही प्रहार कर बैठते हैं ।

७–इन्द्रियाँ इस धनुष की बाण हैं । ये सटीक प्रखर प्रहार की पक्षधर हैं ।

८–और ये सब मिलकर धर्म पर ही प्रहार करते हैं ।

इस युद्ध में साधक विजयी होता है । वह निस्त्रैगुण्य से निखर कर शैव तादात्म्य की उपलब्धि कर लेता है । जिसमें ऐसा विवेक नहीं होता, वह जीवन युद्ध हार जाता है । गुणों को अतिक्रान्त कर पुर्यष्टक के पुरों को पारकर अहंभाव को आत्मतात् कर धर्माधर्म से ऊपर उठ जाता है ॥१४२-१४३॥

अतश्च

एवं स क्रीडते योगी परमात्मनि हृत्स्थिते ।
पुण्यपापैर्वर्तमान इच्छया परमेश्वरि ।।१४४।।

एवं पूर्वोक्तनीत्या परमात्मनि हृत्स्थिते वर्तमानः–

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवोदयः' ॥ (१०९)

इति विज्ञानभैरवादिष्टनीत्या तदभेदविमर्शमयो योगी इच्छया पुण्यपापैः क्रीडनप्रायैः क्रीडति, न अस्य जातुचित् संस्पर्श इति यावत् ॥१४४॥

अथ तीव्रतमशक्तिपाताभावादेवमस्य अभेदप्रतिपत्तिर्न प्ररोहति, तदापि धर्माधर्मबन्धप्रशमोपायमादिशति देवः कृपालुतया–

नाहं कर्ता न मे बन्धः सर्वमीश्वरकारणम् ।
मत्वा चेश्वरविज्ञानं सर्वकर्माणि सन्त्यजेत् ।।१४५।।

इतिशब्दोऽध्याहार्यः ॥१४५॥

योगी के लिये क्रीडा मात्र है । परमेश्वर संसार के सृजन का खेल खेलता और योगी उसका तटस्थ द्रष्टा बनकर परमेश्वर के खेल से मेलकर लेता है । वह हृदयस्थित परमात्मा में स्वात्म का दर्शन करता है, वह पुण्य और पापों की जागतिक परिभाषा को पारकर प्रतिष्ठित होता है ॥१४४॥

'परमेश्वर सर्वज्ञ है । सर्वकर्त्ता है । वह सर्वव्यापक है । मैं भी वही हूँ । शैवमहासद्भावभव्य आत्म तत्त्व के अतिरिक्त मैं अन्य कुछ भी नहीं हूँ । इस दृढ भाव से, दार्ढ्य से तत्काल शिवोदय हो सकता है' । विज्ञान भैरव १०९ की उसी उक्ति में शिवोदय की एक सामान्य विधिका ही निर्देश है ।

इस साधना विधि में शिवाभेदतादात्म्य सिद्ध योगी स्वेच्छा से पुण्यों और पापों का कन्दुक बनाकर खेलता है । किसी भी अवस्था में इनसे उसे छूत का भाव नही आ पाता है ॥१४४॥

वास्तव में साधना और उपासना के अभाव में ही तीव्रतम शक्तिपात से वञ्चित रह जाता है । परिणामवश उसे अभेद की प्रतिपत्ति नहीं होती । इसी सन्दर्भ में भगवान् यह आदेश कर रहे हैं कि, धर्म और अधर्म इन दोनों से बन्ध है । इसको दूर करने का उपाय कृपालु परमेश्वर स्वयम् बतला रहे हैं–

यह दृढ़ परामर्श सतत जाग्रत रहना चाहिये कि, मैं कर्त्ता नहीं हूँ । इसलिये कर्म बन्ध से मैं विमुक्त हूँ । सबके मूल में सर्वकारण ईश्वर ही विद्यमान है । यही ईश्वर विज्ञान है । यह दृढ़ निश्चय जो साधक या व्यक्ति कर लेता है ।

अतश्च–

धर्माधर्मस्य कर्तृत्वे प्रेरको हृदि संस्थितः ।

सर्वस्य । यः–

तमहं शरणं प्राप्तो न मे बन्धोऽस्ति कर्तृता ।।१४६।।

सदाशिवोऽष्टभेदेन पूर्वबीजसमन्वितः ।

ध्येयः पूर्वोक्तरूपेण तत्सिद्धिफलमिच्छता ।।१४७।।

अष्टभेदेनेति सकलादिमूर्त्यष्टकेन युक्तः । पूर्वबीजं नवात्मसम्बन्धी हकारः । पूर्वोक्तेन भुवनाध्वनिरूपितेन रूपेण । तत्सिद्धिफलं तत्समत्वावाप्तिः ।।१४७।।

एवं स्थूलमस्य ध्यानमुक्त्वा, सूक्ष्ममाह–

नादं वै व्यापकं ध्यायेदहोरात्रायनेषु च ।

व्यापकमिति पूर्वोक्तघोषादिशब्दाष्टकव्याप्तिरूपत्वादेव कालाधिकारोक्तप्राणापानरूपस्य अयनानां च दक्षिणोत्तरवाहरूपाणां व्यापकं सर्वेषां ध्वनिमयत्वात् ।

वह सचमुच जीवन्मुक्त हो जाता है । इस प्रकार सभी कार्य कलापों का परित्याग व्यक्ति करे–यही उपदेश और आदेश है ।।१४५।।

सदाशिवतत्त्व ध्यान–

धर्म और अधर्म इन दोनों के कर्त्तृत्व में प्रेरक तत्त्व कौन है ? इस जिज्ञासा का उत्तर भगवान् स्वयं देते हुए कह रहे हैं कि, वह तत्त्व तो अपने हृदय में ही अवस्थित है । जो उपासक उसके समक्ष यह प्रार्थना करता है कि, भगवन् ! मैं शरणागत हूँ । अब मेरा सांसारिक बन्ध समाप्त हो जाए । मैं आपको समर्पित हूँ भगवन् । मेरी कर्त्तृता अब आप में ही समाहित है विभो ! मेरी रक्षा करें ।।१४६।।

सदाशिव देव नवात्म मण्डल के अनुसार नौ बीज वर्णों से समन्वित है । इसका बीजवर्ण 'ह'कार है । शेष आठ वर्णों का न्यास उसके साथ ही होता है । यों सदाशिव को मर्त्यष्टक कहते ही हैं । सदाशिव देव की सिद्धि का चाहने वाला व्यक्ति भुवनाध्वा प्रकरण में निरूपित पद्धति के अनुसार ध्यान और जप करता है । परिणाम स्वरूप उसकी समत्त्व रूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।।१४७।।

इसके सूक्ष्म ध्यान के लिये 'नाद' तत्त्व का आश्रय लेना चाहिये । 'नाद' एक व्यापक शब्द रूप होता है । घोष आदि इसके आठ भेद भी होते हैं । कालाधिकार प्रकरण में प्राण अपान रूप दक्षिणोत्तर वाही प्राण व्यापार उक्त है । स्थूल ईश्वर संबन्धी घण्टारव रूप नाद से यह विलक्षण होता है । यह सभी शब्द में व्याप्त रहने वाला सूक्ष्म नाद माना जाता है ।

अत एव घण्टारवतुल्यात् स्थूलादैश्वराद् नादादयं विलक्षणः सर्वशब्दव्यापकः सूक्ष्मनादभेदः ।

ध्यानतश्च अयम्–

दक्षिणोत्तरसंक्रान्त्या विषुवज्ज्ञस्य मोक्षदः ।।१४८।।

दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिपञ्चचषकान्ते पुटद्वयसमवाही यो यो विषुवत्संक्रान्तिकालस्तत्र यो नादं जानाति उपलभते, तस्य अयं मोक्षं ददाति ।।१४८।।

अस्य स्वरूपं दर्शयति–

वंशध्वनिसमप्रख्यः शान्तनादस्तु स स्मृतः ।
सदाशिवः स विज्ञेयः

घोषादिविशेषरूपतोपशमात् शान्तः प्रोक्तस्थूलसदाशिवविलक्षणः ।

अस्य च–

ध्यानात्सिद्धिफलं शृणु ।।१४९।।

मासमात्रेण तेजस्वी वागीशस्तु द्वितीयके ।
तृतीये पश्यते सिद्धान्दिव्यदृष्टिश्चतुर्थके ।।१५०।।

या तु वलीपलितनाशादिरूपा, सा–

सिद्धिस्तु मानुषे लोके वत्सरार्धे न संशयः ।

किञ्च–

दिव्या सिद्धिस्तथाब्देन सायुज्यं तु द्वितीयके ।।१५१।।

दक्षिणायन और उत्तरायण संक्रान्तियों के अङ्गभूत पाँच चषकीय काल के समय विषुवत काल होता है । उसका ज्ञान अनन्त पुण्य प्रद होता है । इसका जानने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।।१४८।।

इसका स्वरूप शंख ध्वनि के समान शान्त होता है । इसलिये इसे 'शान्त नाद' कहते हैं । यही सदाशिव नाद है । इसके ध्यान से उत्पन्न सिद्धियों के अनन्त सुफल होते हैं । श्री भगवान् भैरव भट्टारक देवी को सुनने के लिये आदेश दे रहे हैं ।।१४९।।

एक मास ध्यान से व्यक्ति तेजस्वी होता है । दो मास के ध्यान से वागीश बन जाता है । तीन माह के ध्यान के फलस्वरूप सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं और चार माह के ध्यान से दिव्यदृष्टि उपलब्ध हो जाती है ।।१५०।।

छः माह तक लगातार ध्यान से शरीर का कायाकल्प हो जाता है । शिर के पके बाल भी काले हो जाते हैं । एक वर्ष की इस तपस्या से दिव्य सिद्धियाँ

द्वितीयेऽब्दे सदाशिवैकात्म्यमित्येवं पदं भवति ॥१५१॥

सदाशिवपदे नादध्यानमुक्त्वा, सप्रयोगं बिन्दुध्यानमाह–

षण्मुखीकरणं कृत्वा ध्यायेद्देवं सदाशिवम् ।

बिन्दुत्रयमित्यर्थः ।

अङ्गुष्ठाभ्यां श्रुती नेत्रे तर्जनीमध्यमाक्रमात् ॥१५२॥

शेषाभ्यां वृणुयाद्घ्राणे षण्मुखे किल बद्धधीः ।

तद्ध्यानाच्च–

दशधा वर्णरूपेण दृश्यते च सदाशिवः ॥१५३॥

बिन्दुरूप इति अर्थात् ॥१५३॥

सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।

नीलं चित्रकवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम् ॥१५४॥

स्फटिकाभं स्वच्छम्, मनोरमं तु–

'चन्द्रमण्डलसङ्काशं.............'। (१५६)

इत्यादिवक्ष्यमाणरूपमुपादेयम् ॥१५४॥

मिलने लगती हैं । दो वर्ष तक लगातार तपस्या से सायुज्य मुक्तिरूप सदाशिवैक्य प्राप्त हो जाता है ॥१५१॥

सदाशिव ध्यान की प्रक्रिया में षण्मुखीकरण का विशेष महत्त्व है । १–दोनों अंगूठों से दोनों कानों को बन्दकरे । २–तर्जनी और मध्यमा से आँखें तथा ३–अनामिका और कनिष्ठा दोनों से घ्राण । यही षण्मुख प्रक्रिया है ॥१५२॥

इस प्रक्रिया में दृढ़ता पूर्वक अपनी बौद्धिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिये । उस समय इसी क्रिया में लगे पुरुष को दश प्रकार के रंगों को इन्द्रधनुषी आकृति उभरती दीख पड़ती है । वही सदाशिव देव का रंगीन बिन्दु रूप दर्शन माना जाता है ॥१५३॥

ये दश रंग इस प्रकार हैं–१–सित, २–रक्त, ३–पीत, ४–कृष्ण, ५–हरित, ६–पिङ्गल, ७–नील, ८–चित्रकवर्ण, ९–स्फटिकाभ और १०–मनोरम (चन्द्रमण्डलवत् आकर्षक) ये दश परम उपादेय रूप के वर्ण दीख पड़ते हैं । ये सभी एकत्र दृष्ट होने के कारण शुभ लक्षण सम्पन्न माने जाते हैं ॥१५४॥

यदाह–

दृष्ट्वा सर्वाणि रूपाणि त्यजेत्तानि विचक्षणः ।
एकमेव तु गृह्णीयादन्ये तु गुणरूपकाः ।।१५५।।

विचक्षणस्तत्त्वज्ञानाभिनिविष्टः । एकमिति मनोरमम् । अन्ये इति रूपविशेषाः । गुणरूपा अनुपादेयाः ।।१५५।।

तदेकमाह–

चन्द्रमण्डलसङ्काशं विद्युत्पुञ्जनिभेक्षणम् ।
तारकाचलिताकारं बिन्दुमेवं विलक्षयेत् ।।१५६।।

विद्युत्पुञ्जनिभमीक्षणं प्रकाशो यस्य । तारकायाश्चलितस्य चलनस्य आकारो यस्य स्फुरत्तारकातुल्यमिति यावत् ।।१५६।।

एवं सदाशिवस्य बिन्दोरीदृग्रूपम्, यस्तु ईश्वरतत्त्वगतः, सः–

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
आभिः कलाभिः संयुक्तो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः ।।१५७।।

अत एव एकादशबिन्दुस्वरूपप्रतिपादनावसरे–

'............दशदैवतसंयुतः' । (११।१०)

तत्त्वज्ञानाभिनिविष्ट विचक्षण पुरुष मात्र एक मात्र परमोपादय सर्वातिशायी केवल एक मनोरम रूप को ही देखता और अन्य नव रंगों का परित्याग कर देता है क्योंकि, ये सभी गौण अतएव सिद्धि की दृष्टि से अनुपादेय हैं ।।१५५।।

चन्द्रबिम्ब का आकर्षक सौन्दर्य और उसके रंग एवं वर्ण सर्वातिशायी माने जाते हैं । उसके प्रकाश में वैद्युतिक प्रकाश पुंज की प्राञ्जलता और स्फुरणशीलतारक मण्डल की मण्डनमयी माण्डलिकता वहाँ होती है ।

चूँकि यह स्वतन्त्र सदाशिव बिन्दु के ध्यान का सन्दर्भ है । इसीलिये उक्त रूप रङ्गों और आकृति में इसी प्रकाश का दर्शन करना चाहिये ।।१५६।।

यह सदाशिव बिन्दु के ध्यान का स्वरूप है । जहाँ तक ईश्वरतत्त्वगत बिन्दु का प्रश्न है, उसमें निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता रूप इन चार कलाओं का समन्वय होता है । इन चारों कलाओं से समन्वित बिन्दु का ध्यान ही यहाँ अपेक्षित है ।

जहाँ तक एकादश बिन्दुओं के स्वरूप के प्रतिपादन का प्रश्न है, उस सम्बन्ध–११।१० में लिखा है कि, दश देवों को भी समन्वित करना चाहिये ।

इति ग्रन्थोऽस्माभिः–सद्योजातादिदेवतापञ्चकम्, निवृत्त्यादिकलाचतुष्टयं च ध्येयं यदिह प्रतिपादितम्–तदाशयेन तत्र प्रतिपादितः ॥१५७॥

उपसंहरति–

बिन्दुध्यानं समाख्यातं

ऐश्वरं सादाशिवं च द्विविधमपीति यावत् ।

शक्तिलक्षं निबोध मे ।

शक्तिर्लक्षं लक्षणं येन, तादृशं ध्यानं बुध्यस्वेत्यर्थः ।

तदेवम्–

खं वीक्ष्य मीलिताक्षो यदुद्यद्भास्करसन्निभम् ॥१५८॥
ईक्षते च महत्तेजः शक्तिः प्रभ्वीति सा स्मृता ।

खमिति ब्रह्मरन्ध्रम् । प्रभ्वी नादान्तान्ते प्रभवनशीला ।

सा च तत्र–

पीता रक्ता तथा कृष्णा स्फटिकाभा मनोरमा ॥१५९॥
द्रष्टव्या परमा शक्तिः

ज्ञानवशप्रकटीभूता ज्ञातव्या । ततश्च–

तां दृष्ट्वा शिवतां व्रजेत् ।

इसमें ईशान–सद्योजात पंचक, घण्टानाद, निवृत्यादिकला चतुष्टय कुल दश देवताओं के समन्वित करने की बात कही गयी है । इसी आशय से ११।१० में भी यह उल्लेख किया गया है । इस पर ध्यान देना चाहिये ॥१५७॥

ऐश्वर और सादाशिव दोनों प्रकार के बिन्दु ध्यान पर प्रकाश डालने के अनन्तर शक्ति के लक्षण के सम्बन्ध में कहने के लिये देवी उमा को भगवान् स्वयं सम्बोधित करते हुए उनसे अनुरोध कर रहे हैं कि, देवि ! सावधानी पूर्वक इसे समझने का प्रयत्न करो ।

प्रथम विधि यह है कि, उपासक ब्रह्मरन्ध्र रूप आकाश को पूरी तरह खुली आँखों से निहार कर उन्हें बन्द कर ले । भीतर ही उदीयमान दिवाकर के सदृश उभरते बिम्ब पर ध्यान केन्द्रित करें ॥१५८॥

उसी बिम्ब से एक महातेज प्रकाशित होता है । वही तेज शाक्त तेज माना जाता है । उसी तेज को प्रभ्वी शक्ति कहते हैं । यह पीत, रक्त, कृष्ण, स्फटि-काभ और मनोरम रूपों में दृष्टिगत होती है ॥१५९॥

इस परमोपास्य शक्ति के दर्शन से साधक कृतार्थ हो जाता है । यह अनु-ग्रह कारिणी शक्ति कृपामयी होती है । साधक इसे देखकर शिवता को प्राप्त हो

तत्पदोचिता परमशिवरूपा । अथ–

व्यापिनीं च ततश्चोर्ध्वे पञ्चरूपां विचिन्तयेत् ।।१६०।।

कारणैः स्वैः समोपेतां

व्याप्यादिभिः । तां च–

ध्यात्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

समनादिपदासादनयुक्त्येति अर्थात् ।

अथ पूर्वनिर्णीतरूपां क्रमेण–

समनामुन्मनां चोक्तां ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ।।१६१।।

अत्र च शक्त्यादिशिवान्तध्याने नवात्मसम्बन्धी प्रणवो वाचकत्वेन परामृष्टव्यः । ध्यायेदिति स्वविमर्शबलेन विमृशेदिति यावत् ।।१६१।।

अतश्च–

ध्यानात्सिद्धिमवाप्नोति

यया असौ–

व्यापकः प्रभुरव्ययः ।

समनाध्यानात्–

'तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः.............'। (१०।१२५८)

इति यः पूर्वमुक्तो व्यापकादिरूपः शिवः, तद्रूपो भवतीत्यर्थः ।

जाता है क्योंकि यह स्वयं परमशिवरूपरूपा होती है । इस साधना के स्तर से ऊपर उठकर पाँच रूपों में पारमेश्वरी व्यापिनी का दर्शन करना और उसके विषय में चिन्तन करना चाहिये ।।१६०।।

इसके कारणों के साथ इसका दर्शन और स्मरण करने से साधक स्वच्छन्द भैरव भाव के परमोच्चस्तर पर पहुँच जाता है । अपनी सुगुह्य साधना से समना पद का समासादन करते हुए उन्मना पद का ध्यान करते हुए और एकाग्र चिन्तन की स्थिति में अग्रसर होना चाहिये ।

शक्ति से शिव पर्यन्त सारा ध्यान नवात्ममुक्ति से ॐकार के माध्यम से ही सम्पन्न करने की प्रथा से इस ध्यान की स्थिति को संविद्विमर्श के माध्यम से पूर्ण करना चाहिये ।।१६१।।

इस ध्यान से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इसके द्वारा व्यापक और अव्यय प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं । १०।१२५८ के अनुसार वहाँ आरूढ़ शिव अनुग्रहशील हो जाते हैं । समना को पार कर उन्मना पद पर पहुँचते हैं । समना तक ही सारा विश्व है । इसके ऊपर शान्त शिव पद है ।।१६२।।

उन्मनाध्यानात्तु–

ततश्चोर्ध्वे शिवः शान्तः

समनान्ताशेषविश्वप्रशमात् शान्तः परमशिव एव भवतीत्यर्थः ।

स च–

पूर्वं वै कथितो मया ।।१६२।।

'शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते' । इत्यादौ ।

तथा–

'स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्' । (४।२९५)

इत्याद्युद्देशेषु च ।।१६२।।

इहापि तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह–

चक्षुषा यश्च दृश्येत वाचो वा यश्च गोचरः ।
मनश्चिन्तयते यानि बुद्धिर्यानि व्यवस्यति ।।१६३।।
अहङ् कृतानि यान्येव यच्च वेद्यतया स्थितम् ।
यश्च नास्ति स तत्रैव त्वन्वेष्टव्यः प्रयत्नतः ।।१६४।।

स इति चित्प्रकाशघनः परमशिवो भावाभावमये विश्वस्मिन्, त्रिजगति चित्प्रकाशैकात्म्येन प्रकाशमानोऽन्वेष्टव्यः प्रत्यभिज्ञेयः–यथा अयं सच्चिदात्मा प्रकाशो

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इस सम्बन्ध में मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ । ४।२९५ के सन्दर्भ में ही मैंने यह स्पष्ट किया था कि, शिवरूप संसारोल्लास के उच्चस्तर पर ही परम शिव का सर्वातिशयी पद है । उसमें युक्त हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता । तथा सूक्ष्म और स्थूल रूपों में वही सर्वोच्च शैवी सत्ता संव्यवस्थित है । इन उक्तियों को पारकर परम शान्त शिव पद पर साधक युक्त-चित्त रहते हुए स्वयं शिवरूप हो जाता है ।।१६२।।

भगवान् कहते हैं कि, आँखों से जिसे देखते हैं, वाणी से जिसे गोचर करते हैं । मन जिन विषयों का चिन्तन करता है । बुद्धि जिन विषयों की विवेचना करती है, अहङ्कार जिसका संवेदन करता है और इनके अतिरिक्त भी वह अचिन्त्य रह जाता है; इन सबका प्रत्यभिज्ञान चित्प्रकाशैकात्म्य रूप से करना चाहिये ।।१६३-१६४।।

चित्प्रकाशघन परमशिव भाव और अभावमय इस समग्र उल्लास में स्वयं प्रकाशमान है । इस परम प्रकाश परमेश्वर को चित्प्रकाशैकात्म्य भाव से ही जाना जा सकता है । वह भी प्रकाश और उसी के प्रकाशाभेद से प्रकाशमान यह

महेश्वरः यत्प्रकाशाभेदेन विश्वमिदं प्रकाशते, प्रकाशबाह्यस्य कस्यापि प्रकाशनानुपपत्तेः, यस्त्वेव विश्वप्रकाशात्मा स्वप्रकाशः प्रकाशः प्रकाशते, स एव अहमिति ।

एवंविधस्य च परतत्त्वैकतानहृदयस्य न देशाश्रमादिनियमः कोऽपीत्याह–

यत्र तत्र स्थितो देशे यत्र तत्राश्रमे रतः ।
सुखासीनः संयतात्मा एकचित्तः समाहितः ।।१६५।।
स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य अभावं भावयेत्सदा ।

सुखासीनो विदितवेद्यत्वात् प्राणायामाद्यायासरहितः । संयतात्मेति एकचित्तपदेन व्याख्यातः । समाहित इति व्युत्थानेऽपि परतत्त्वपरामर्शनिष्ठः । स्वच्छन्दं समनुस्मृत्येति विश्वाभासात्मचित्प्रकाशरूपत्वेन विमृश्य । अभावं भावयेदिति चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि कदापि अस्तीति प्रत्यभिजानीयात् ।

अतश्च–

भावनात्तस्य तत्त्वस्य तत्समश्चैव जायते ।।१६६।।

देहावस्थायामपीति यावत् ।।१६६।।

विश्वोल्लास ! सब एक ही तो हैं । प्रकाश के अतिरिक्त अप्रकाश का सद्भाव निश्चित रूप से अनुपपन्न है । इस स्थिति में प्रकाश से ऐक्य स्थापित कर जिस परम प्रकाश का हम प्रत्यभिज्ञान करते हैं, वहाँ स्पष्ट हो जाता है कि, यह तो मैं यही यही स्वयं हूँ । तब प्रयत्न भी शान्त हो जाता और मैं स्वयं को मिल जाता हूँ ।।१६३-१६४।।

इस सर्वोच्च अनुभूति के शिखर पर विराजमान शिवैकतानहृदय साधक देश, काल, आश्रम आदि नियमों से ऊपर उठ जाता है । वही कह रहे हैं ।

जहाँ जहाँ जिस देश में वह स्थित होता है, जिस आश्रम में रत रहता है, वहीं परमेश्वर की परानूभूति रूप सुख में विराजमान रहता है । संयतात्मा, एकचित और समाहित साधक स्वच्छन्द के संविद्विमर्श में अवस्थित हो जाता है । वह चित्प्रकाश के व्यतिरिक्त किसी पदार्थ के अस्तित्त्व के अभाव का ही भावन करता है ।

विदितवेद्य पुरुष अद्वय अभेद भाव में सुख पूर्वक व्यवस्थित होता है । उसे किसी प्रकार की प्राप्ति का परामर्श नहीं करना पड़ता । व्युत्थान दश में परतत्त्व के परामर्श में ही निष्ठ रहता है । विश्वाभास को भी चित्प्रकाशात्मक परामर्श मानता है । इसी रूप का प्रत्यभिज्ञाता परमोपासक परमशिव में अभेद भाव से व्यवस्थित होता है । भृङ्गी की भङ्गिमा के द्वारा जिसका भावन कर रहा होता है, वही हो जाता है । देह में भी वह विदेह बना रहता है ।।१६५-१६६।।

युक्तं च एतत्, यस्मात्–

ये धर्मास्तस्य चाख्याताः पूर्वं ते वरवर्णिनि ।

सर्वज्ञत्वादयः ।

तैस्तु धर्मैः समायुक्तो योगी वै भवति प्रिये ।।१६७।।

स्वरूपरूपकध्यानं तत्त्वानां कथितं मया ।

स्वरूपं कठिनत्वादि, रूपकं पीतत्वादि ।

अतश्च–

एवं ज्ञात्वा च ध्यात्वा च सिद्ध्यते मुच्यतेऽपि च ।।१६८।।

सिद्धिरपि अत्रत्या मुक्तिपर्यवसायिनी एवेति शिवम् ॥१६८॥

समस्ततत्त्वविभवपूर्णस्फारप्रथात्मकः ।

चिदानन्दघनः स्वात्मा स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

।। इति श्रीक्षेमराजविरचिते स्वच्छन्दोद्द्योत-समुपेते

स्वच्छन्दतन्त्रे द्वादशः पटलः ।।

यह बात सही भी है । उसके जितने धर्म शास्त्र द्वारा व्याख्यात हैं और वरवर्णिनि शिवे ! जिन धर्मों के विषय में तुमसे मैंने पहले भी कहा है, उन समस्त धर्मों से वह योगयुक्त साधक समायुक्त रहता है । प्रिये वास्तव में वही योगी कहलाने का अधिकारी है ॥१६७॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! उमे ! स्वात्म 'स्व' रूप का वास्तविक और विधि पूर्वक ध्यान और इसी सन्दर्भ में सभी तत्त्वों का ध्यान मैंने तुम्हें सुनाया और समझाया है । इस सर्वोच्च ध्यान या प्रत्यभिज्ञान के सन्दर्भ में आचार्य क्षेमराज का स्वरूप का कठिन और रूपक का पीतादि विवरण विज्ञ स्वाध्यायशील को निराश करता प्रतीत होता है ।

इन उक्त तथ्यों की जानकारी और उनका ध्यान एवं चिन्तन करने वाला साधक स्वयं सिद्ध हो जाता है और मुक्त भी हो जाता है । यह सिद्धि भी मुक्ति पर्यवसायिनी ही होती है ॥१६८॥

श्लोकानुवाद–

भव भैरवमय विभु वरद, शश्वत् स्वयं प्रकाश ।
चिदानन्दघन जय जयद सत्स्वच्छन्द उजास ॥

भाष्यकार संवेदन–

तात्त्विकतायां पूर्णतः, कृपया गुरोः प्रविश्य ।
जीवन्मुक्तः जयति सो, हंसः वरं विमृश्य ॥

स्वातन्त्र्य समुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरवभट्टारक प्रवर्त्तित महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराजकृतोद्योत विवरणोपेत डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का

द्वादश पटल परिपूर्ण

शुभं भूयात्

●

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

अथ त्रयोदशः पटलः

परामृतरसस्फारसारसंबोधबृंहितः ।
सर्वसंपत्प्रदः श्रीमान्स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

एवमियति द्वादशपटलान्तेऽस्मिन्ग्रन्थैकदेशे द्वाविंशतिरनुष्ठानभेदा दर्शिताः । तद्यथा मातृकाभैरवः, श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः कपालीशादिभैरवाष्टक-परिवृतः,

'यस्त्वंशकविशुद्धः स्याद्भैरवोऽत्र वरानने ।
तं मध्यमस्थं संपूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत्' ॥ (८।२५)

स्वातन्त्र्य-समुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरव भट्टारक-प्रवर्त्तित श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य क्षेमराजकृतोद्योत-विवरणोपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

श्री स्वच्छन्दतन्त्र

का

त्रयोदश पटल

(१३)

विशद बोध-वृंहित वरद परमामृत-रस रूप ।
संवित्संपत्प्रद वृहत् जय स्वच्छन्द सुरूप ॥

यहाँ तेरहवें पटल में बारहवें पटल के विषयों का वर्णन करना वर्णन-शैली के विपरीत है । इसे बारहवें पटल में ही देना उचित था । किन्तु उन्हें यही अच्छा लगा । इसलिये इसकी जानकारी के लिये प्रकरण विरुद्ध भेदवाद का यहाँ भी उल्लेख किया जा रहा है-जैसे १-मातृका भैरव, १-श्रीस्वच्छन्दनाथ+८-आवरण रूप कपालीशादि भैरवाष्टक +९-नवात्मा (नवनव भेदों में बँटा नवतत्त्व)+१-सामुदायिक सर्वात्मा+१+तेइस देवियों से परिवृत कोटराक्ष भैरव,+१-केवल भैरव । इस तरह १+१+८+९+१+१+१=२२ देवों के २२ अनुष्ठान भेद होते हैं । ये सभी ११वें और बारहवें पटल के ग्रन्थ के उक्त भाग में वर्णित हैं ।

इत्यंशकविचारोक्तग्रन्थदृशा कपालीशादिनाथाः स्वाम्यावरणवैचित्र्येण अवस्थिता अष्टौ, नवात्मा पृथक् पृथक् पदनवकभेदेन नवधा, सामुदायिकस्थित्या एकः, द्वात्रिंशद्देवीभिः परिवृतः कोटराक्षभट्टारकः, केवलो वा । अथ इदानीं सकलदर्शन-सारभूतं त्रयोविंशतितमं केवलमेव निष्कलनाथमयं स्वच्छन्दम्–

'स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य............'। (१२।१६६)

इति पटलान्ते पटलसंगत्यर्थमासूत्रितं निर्णाययितुं श्रीदेव्युवाच–

सारं यदस्य तन्त्रस्य यागं तु परमेश्वर ।
तमाख्याहि समासेन साधकानां हिताय वै ।।१।।

इज्यत इति यागः सर्वतन्त्रसारभूतो निष्कलनाथः, यजनं यागस्तदाराधन-प्रकारस्तं द्विविधं कथय ।।१।।

एवं प्रश्नितः श्रीभैरव उवाच–

मूलबीजाक्षरं मन्त्रनायकं परमीश्वरम् ।
प्रणवासनमारूढमङ्गवक्त्रैः समन्वितम् ।।२।।

इस तरह एकादश, द्वादश पटलों में वर्णित २२ अनुष्ठान भेदों के प्रदर्शन के बाद सकल दर्शन सारभूत केवल निष्कल नाथ रूप स्वच्छन्द भैरव परमेश्वर के तन्त्रयाग विषयक देवी की जिज्ञासा के समाधान के लिये इस तेरहवें पटल का प्रवर्त्तन भगवान् कर रहे हैं ।

बारहवें पटल के १६६वें श्लोक में श्री स्वच्छन्द के सम्यक् स्मरण की बात आ चुकी है । इसी तथ्य को पटल की संगति के लिये देवी ऐसी ही जिज्ञासा उपस्थित कर रही हैं–

परमेश्वर स्वच्छन्दनाथ ! इस तन्त्र का सार रहस्य इसका याग है । भगवन् ! साधकों के कल्याण के लिये संक्षिप्त रूप से आप बतायें कि, इस याग का स्वरूप क्या है ? यहाँ (इज्यत इति यागः) को निष्कलनाथ के रूप में परि-भाषित किया गया है । यह सभी तन्त्रों के सार रहस्य के प्रतीक हैं । यजनं यागः की दृष्टि से याग का प्रकार भी याग है । इस तरह याग के अधिष्ठाता स्वरूप का और याग-प्रकार इन दोनों रूपों में प्रश्न उपस्थित किया गया है ।।१।।

इस प्रकार पूछे जाने पर श्री भैरव सभी जिज्ञासाओं का समाधान कर रहे हैं । उनका कहना है कि, मूल बीजाक्षर रूप, मन्त्रनायक, परम ईश्वर, प्रणवासन पर आरूढ़ और अङ्ग वक्त्रों से समन्वित परमेश्वर की पूजा पूर्वोक्त द्रव्यराशि से करनी चाहिये । यही होम विन्यास है । यही दीक्षा है ।।२-३।।

पूर्वोक्तद्रव्यसंघातैः पूजयेत्यपरमेश्वरम् ।

परं मूलबीजात्मकमक्षरं चतुष्कलभट्टारकम् । ईश्वरमिति स्वच्छन्दभैरवं देवतारूपम् । परमेश्वरं सर्वप्रभुम् । मन्त्राणामावरणगतानां सर्वेषां वाचकम् । प्रणवासनादि प्रग्वत् । अङ्गैरिति सर्वज्ञत्वादिपरमार्थैः-

'सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भि.........'। (१।७१)

इति पूर्वोक्तैः, वक्त्रैश्चेति-

'यादिवान्तान्यक्षराणि संहारेण युतानि च' । (१।४५)

इति पूर्वोक्तैरेव, न तु श्रीकालोत्तरोक्तनिष्कलाभिन्नप्रायव्याप्तिकप्रासादभट्टारक-बुद्ध्यसु (?) पञ्चकसम्भिन्नहकारात्मकैरिति व्याख्येयम्-

---

इन श्लोकों में आये हुए शब्दों पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है । जैसे-

१-मूलबीजाक्षर (१।६९) मूल बीजात्मक अक्षर । मूल अर्थात् भैरव भाव को व्यक्त करने के लिये ऐसा बीजात्मक वर्ण, जिससे मौलिक रूप से भैरव भावात्मक विश्व वृक्ष की उत्पत्ति हो सके । ऐसा बीजात्मक वर्ण 'ह'कार माना जाता है । इसके साथ उन्मेष बीज और ऊर्मि बीज दोनों की दीर्घ सन्धि का रूप 'ऊ'कार युक्त हो जाता है । तत्पश्चात् ब्रह्मबीज बिन्दु शिर पर विराजमान हो जाता है । कुल मिलाकर 'हूं' यही मूल बीजात्मक चतुष्कल बीजवर्ण है । यही भैरव के सर्वभाव रूप रहस्य का द्योतक माना जाता है ।

२-ईश्वर-यह शब्द यहाँ भैरव अर्थ में प्रयुक्त है । यही परमेश्वर अर्थात् सबका प्रभु है ।

३--प्रणव के आसन पर ही भैरव विराजमान होते हैं । ४।५६

४-अङ्गवक्त्र १।४६ द्वारा व्यक्त है । इन सबकी पूजा पहले कही गयी वस्तुओं से की जाती है ।

अङ्ग सर्वज्ञत्वादि परमार्थ रूप भी माने जाते हैं । इस दृष्टि से सर्वज्ञत्व, परितृप्तत्व, अनादिबोध स्वातन्त्र्यशक्तिमत्व, अलुप्त शक्तित्व और अनन्तशक्तित्व-रूप भी माने जाते हैं । वक्त्र रूप में 'भैरवस्थमुखानि च' इस उक्ति के साथ १।४५-४६ के अनुसार क्षं ईशान, यं तत्पुरुष, रं अघोर, वं वामदेव और लं सद्योजात के बीज क्रमशः ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और वाम मुख के प्रतीक हैं । भैरवीय स्वरूप में प्रवेशोपाय के कारण ये मुख कहलाते हैं । मुख को ही वक्त्र भी कहते हैं ।

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्मात्तत्र यथोक्तं तत्कर्तव्यं नान्यतन्त्रतः' ॥

इति श्रुतेः । तेन यथोक्तैरेव अङ्गवक्त्रमन्त्रैः सम्यगिति अभेदेनैव अन्वितम्, न तु आवरणस्थित्येत्यर्थः । अत एव श्रीमदघोरेश्वर्यापि अभेदेनैव अन्वितम् ।

'तस्य देहार्धगां गौरीमुत्सङ्गे वा प्रकल्पयेत्' ।

इति यद्यपि शाक्तस्फारप्रधानेषु शास्त्रेषु कल्पिता श्रुतिरस्ति, तथापि इह अङ्ग-वक्त्रमन्त्रवत् शक्तिमत्स्वरूपाभिन्नैव असाविति गर्भीकृतशाक्तस्फार एव अयमत्रत्यः शक्तिमन्मंन्त्रः ।

जहाँ तक अङ्ग का प्रश्न है–ये सान्त अर्थात् 'ह' वर्ण में दीर्घ स्वर और बिन्दु के साथ बनने वाले बीजवर्ण हैं, जो हाथ, शिर, शिखा, कवच, लोचन और अस्त्र के साथ जाति अर्थात् नमः, स्वाहा, शिखा, कवच, वौषट और फट् के साथ मन्त्र में प्रयुक्त होते हैं । मन्त्र के प्रारम्भ में सान्तदीर्घ समन्वित हां, हीं, हूँ, हैं, हौं, हः रूप में बोले जाते हैं ।

इस प्रकरण कालोत्तर तन्त्र की उक्ति प्रामणिक नहीं मानी जा सकती । परम्परा से प्राप्त प्रसिद्धि कहती है कि, क्रियादि भेदों से भेद भिन्न होने के कारण ही तन्त्र भेद उत्पन्न होते हैं । इसलिये जो कुछ सम्प्रदाय स्वीकृत तन्त्र की बातें हैं, उनकी ही प्रधानता दी जाती है, अन्य तन्त्रों की बात नहीं माननी चाहिये ।

इसलिये इस शास्त्र में उक्त अङ्ग वक्त्र मन्त्रों से ही अन्वित मानना चाहिये । यहाँ आवरण की स्थिति के अनुसार अङ्ग वक्त्रों का वर्णन नहीं किया गया है ।

श्लोक में परमेश्वर को पूजित करे, इस क्रियावाक्यांश में परमेश्वर की पूजा का निर्देश दिया गया है । जब भी परमेश्वर शब्द कर्ण कुहर में पड़ता है, तत्काल 'स्वच्छन्दोत्सङ्गवासिनी' अघोरेश्वरी की स्मृति प्रत्यग्र उपस्थित हो जाती है । इस-लिये पूजा के प्रसङ्ग में भी शक्ति के अभेदेन अन्वय के कारण उसकी भी पूजा का अर्थ उपलब्ध हो जाता है । इसीलिये शास्त्र विधान करता है कि,

उसके देह के अर्ध भाग में अवस्थित गौरी का अथवा उत्सङ्ग में विराजमान गौरी का प्रकल्पन भी करना ही चाहिये । यह शाक्त स्फार प्रधान शास्त्रों के लिये विशेष श्रुति है । इतनी श्रुति होने पर चूँकि, अङ्गवक्त्र मन्त्रों से समन्वित शक्तिमान् के स्वरूप से अभिन्न ही शक्ति भी है । इसलिये यह मान लेना चाहिये कि, शास्त्र-स्फार के निहितार्थ के साथ ही यह शक्तिमान् परमेश्वर पूजन का विधान विधेय है ।

पूर्वोक्तमित्यनेन मूर्तिन्यासकलान्यासादि सर्वं संगृहीतम्, केवलं सकलन्यासो निष्कलनाथेनैव सकलनिष्कलव्याप्तिना कार्यः। भगवत्कोटराक्षस्य पश्चादस्य उक्तत्वात् तद्वद् दशभुजोऽयमिति केचित्, स्वच्छन्दनाथत्वादष्टादशभुज एवेति गुरवः। द्रव्यसङ्घातैरित्यनेन सिद्ध्यङ्गं यजनं महासम्भारेण कर्तव्यमिति।

नियतपूजितस्य अस्य–

स एव होमविन्यासः

संस्कृते अग्नौ विन्यस्तस्य भगवतः शतं सहस्रं वा अष्टोत्तरमाज्यादिना पूर्णान्तो होमः कार्य इत्यर्थः। एतच्च शिवधर्मिसाधकदीक्षादीक्षितस्य कर्म आरम्भणीयं वा अन्यस्य।

तस्य च–

दीक्षा सैव प्रकीर्तिता ॥३॥

सैव पूर्वोक्तैव ॥३॥

एवं पूर्वोक्तशिवधर्मिदीक्षादीक्षितो भगवति अर्चातर्पणे विधाय–

दशलक्षं जपेद्यस्तु एकचित्तः समाहितः।
समुद्रगसरित्तीरे सहायैः परिवर्जितः ॥४॥

पूर्वोक्त द्रव्यसंघात शब्द के पूर्वोक्त शब्द को किस सन्दर्भ से अन्वित किया जाय ? इसका उत्तर आचार्य क्षेमराज ने दिया है। वे कहते हैं कि, मूर्त्तिन्यास और कलान्यास आदि सन्दर्भों को इसमें संगृहीत करना चाहिये। केवल सकल न्यास निष्कलनाथ के साथ सकल-निष्कल व्याप्ति पूर्वक होना चाहिये।

२२ अनुष्ठान भेदों में ३२ देवियों के साथ भगवान् कोटराक्ष भैरव का प्रकरण ऊपर ही आया है। कोटराक्ष के बाद निष्कलनाथ के उक्त होने के कारण कुछ विद्वान् इन्हें भी बारह बाहुओं वाला मानते हैं। स्वच्छन्दनाथ रूप होने के कारण इन्हें अष्टादश बाहु युक्त मानना ही गुरु परम्परा से प्राप्त मान्यता है और यही मानना उचित है। द्रव्यसंघात शब्द से यह अर्थ लगाना चाहिये कि, यजन सिद्धि का प्रधान अङ्ग माना जाता है। यह महा संरम्भ पूर्वक सम्पन्न करना चाहिये।

संस्कृत अग्नि में नियत पूजित परमेश्वर का होम विन्यास होता है। इसमें पूर्वाहुति पर्यन्त पूर्ण होम करना चाहिये। ऐसे कर्मनिष्ठ साधक की यही दीक्षा पूरी दीक्षा होती है ॥२-३॥

यह शिवधर्मिणी दीक्षा है। इसमें दीक्षित भगवत्सेवा में तत्पर रहते हुए चर्चा करे। तत्पश्चात् तर्पण करे। इसके बाद कम से कम समाहित होकर

होमयेन्नरमांसस्य लक्षमेकं सगुग्गुलम् ।
जितेन्द्रियैकचित्तस्तु ब्रह्मचर्ये व्यवस्थितः ।।५।।
असाध्यं साधयेद्देवि नात्र कार्या विचारणा ।

एकत्र निष्कलभट्टारक एव जप्यमाने चित्तं यस्य, अत एव समाहितः । समुद्रगा च असौ सरिदिति महानदीत्यर्थः । सहायैः परिवर्जित इति यथा आराध्यो देव एकवीरस्तथा आराधकोऽपीत्यर्थः ।

'..............यथा होमस्तथा जपः' ।

इति नीत्या होमेऽपि एकचित्तत्वादि उक्तम् ।

किञ्च अस्य–

यानि कानीह कर्माणि चतुष्पीठस्थितानि च ।।६।।
अधमान्यथ मध्यानि ह्युत्तमानि वरानने ।
तानि सिद्ध्यन्ति देवेशि भैरवस्य वचो यथा ।।७।।

विद्यामन्त्राणां पीठचतुष्टयात्मनि पारमेशे शास्त्रे यानि कर्माणि कार्याणि इह जगति पातालाकाशतत्त्वतत्त्वेश्वरव्याप्तिहेतुभूतानि अधमादिरूपाणि स्थितानि,

---

एकाग्रचित साधक दश लाख मन्त्र जप करे । समुद्र में मिलने वाली नदियों के तट पर एकाकी रहते हुए, किसी सहायक के विना मनुष्य के मांस में गुग्गुलु मिलाकर एक लाख हवन करे ।

इस अवस्था में इन्द्रियजित् रहकर एकाग्रचित्त, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित रहने वाला साधक असाध्य को भी सिद्ध कर सकता है । इस तथ्य में किसी प्रकार के सन्देह की कोई बात नहीं अर्थात् नित्य विश्वसनीय भगवदुक्ति है ।।४-५।।

एक चित्त का तात्पर्य केवल एक निष्कल भट्टारक में ही मन लगाकर जप करना चाहिये । तभी वह समाहित भी रह सकता है । समुद्र या नदियाँ ही महा-नदी मानी जाती हैं । सहाय परिवर्जित का तात्पर्य यह कि, जैसे आराध्य एक वैसे ही स्वयं भी एकाकी होना चाहिये ।

'जैसे होम वैसे जप' की उक्ति के अनुसार एकचित्तता नितान्त आवश्यक है ।

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! विद्यामन्त्रों का इस पीठ चतुष्टयात्मक पारमेश्वर शास्त्र में जितने कर्मों का विनियोग जिस उद्देश्य से किया जाता है, वे सिद्ध होते हैं । भले ही वे कर्म अधम हों, मध्यम हों, उत्तम हों या किसी प्रकार के भी हों ।

तानि कृतपूर्वसेवस्य योगिनः सिद्ध्यन्तीति योज्यम्, न तु कुहकवाद्यादीनि अधममध्यमादिरूपाणीति व्याख्येयम्–

'कृतान्यपि हि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः' ।

इति पूर्वं परिमितपूर्वसेवासाध्यत्वेन एषां चोदितत्वात् । भैरवस्य वचो यथेत्यनेन नात्र मायाप्रमातृसुलभः संशयो ग्राह्य इति आदिशति ॥७॥

अथ इदानीं मुख्यसिद्धिसाधनपरस्यापि अस्य साधकस्य क्वचित् क्वचिद-वसरे उपयोगिनि प्रकृत्यादिवश्यानि कर्माणि द्रव्यमन्त्रयुक्तिसाध्यानि आर्यादि-वृत्तान्तरैरादेष्टुमाह–

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि कारिकाकोशमुत्तमम् ।
यं ज्ञात्वा देवदेवेशि विचरन्तीह साधकाः ।।८।।

'स्वल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः सानुसर्तव्या कारिकार्थोपदर्शिनी' ॥

इति लक्षितानां कारिकाणां कोशं समूहम् । उत्तममिति वीरविषयत्वादविघ्नफल-विषयमित्यर्थः । अत एव विचरन्तीति करतलप्राप्तसर्वसिद्धिका यथारुचि विल-सन्तीत्यर्थः ॥८॥

आकाश, पताल, तत्त्व और तत्त्वेश्वरों की व्याप्ति के कारण ये कर्म कभी असिद्ध नहीं होते । कहा गया है कि, एक लाख हवन कर्म से सारे किये कर्म अवश्य ही सिद्ध होते हैं । यह उतनी ही सत्य वाक् है, जितनी भैरव वाक्य होते हैं । माया प्रमाताओं के ये वाक्य नहीं हैं । अतः माया प्रमाताओं के संशय भी व्यर्थ हैं ॥६-७॥

मुख्य साधनीय सिद्धि की साधना में लगे साधक को कहीं भी कभी कभी किसी अवसर पर उपयोगी, प्रकृत्यादि वश्य-साध्य कर्म द्रव्यों, मन्त्रों और युक्तियों से करने पड़ते हैं । उनके विषय में आर्यावृत्तों में आदेश दे रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, मैं इस समय कारिकाओं के कोश अर्थात् समूह के माध्यम से ऐसी बातें बताने जा रहा हूँ, जिन्हें सिद्ध कर साधक सारी सिद्धियों को हस्तगत कर यथाभीप्सित विश्वविलासोल्लास का आनन्द प्राप्त करते हैं– 'कारिकार्थों का साक्षात्कार कराने वाले विद्वद्वर्ग द्वारा सूत्ररूप से उक्त बातों का अनुसरण करना चाहिये' । इस उक्ति को दृष्टि में रखकर ही मैं कुछ कहने जा रहा हूँ, यह ध्यातव्य है ॥८॥

तत्र–

अभिमुखखड्गनिपातितशूरशिरः शोषितं समादाय ।
रक्तालक्तकलिखितं साध्यतनौ मन्त्रयुक्तमभिधानम् ।।९।।
प्रेतानले सुतप्तं विधाय निशि यत्कृते शतं जपति ।
असुरेन्द्रचक्रवर्तिनमसुरेन्द्रगुरुं वा तमानयत्यनिलवेगात् ।।१०।।

शिरः कपालम्, शोषितं निर्मांसीकृतम्, रक्तेन प्रेतसम्बन्धिना सहितमलक्तकं रक्तालक्तकं तेन लिखितम्, मन्त्रयुक्तमिति तद्विदर्भितमिति पञ्चमप्रयोगे–

'मन्त्रविदर्भित................'। (१६)

इत्युक्तेः, ज्ञातं तच्च ललाटे लेख्यम्, यद्वक्ष्यति सप्तमे प्रयोगे–

'नाम च तस्य ललाटे.............'। इति । (२०)

अभिधानं साध्यनाम नयेत्यूहान्तं साध्यतनावेव तद्द्रव्योल्लिखिते साध्यदेहे प्रेताग्नौ निशि सुष्ठु तप्तं विधाय यस्य साध्यस्य कृते तद्दिगभिमुखं यथालिखितं शतं जपति, तं साध्यं यथाविनियोगायवायुवेगादिति अतिशीघ्रमानयति ।।१०।।

---

१. सिद्धिविषक प्रथम कारिका कोशः विधि और फल–

आमने सामने की लड़ाई में तलवार के वार से कटकर गिरे शूरवीर के शिर को युद्धक्षेत्र से उठा ले आवे । उसे शोषित अर्थात् निर्मांस कर सुखा ले । उसी के रक्त के अलक्तक (आलतासे) से साध्य के शरीर का चित्र बनाकर उसमें मन्त्र युक्त अर्थात् मन्त्रमय आदेश लिखे । यह चित्र उस नृकपाल के मध्य में या ललाट पर भी बनाया जा सकता है । यह मन्त्रमय अभिधान किस प्रकार का हो यह स्पष्ट नहीं लिखा गया है ।

आचार्य क्षेमराज भी इसे बचा गये हैं । केवल 'साध्य को आनय' लिखना मन्त्रयुक्त नहीं माना जा सकता । इसमें मन्त्र शब्द से मन्त्रबीजवर्ण का ऊहन करना भी ठीक नहीं । कारिका में भी स्पष्ट नहीं कहा गया है । इसलिये यह अधूरा प्रयोग है । इसे सिद्ध गुरु से जानकर ही करना चाहिये ।

यों खोपड़ी पर बने चित्र में उसका शत्रु का नाम लिखकर आनय लिखने से ऊह मन्त्र बन जाता है–यह मान लेना ही उचित है ।

इतना लिखने के बाद रात में चिता की आग पर उसे खूब अच्छी तरह तपाना चाहिये । अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये जिस दिशा में शत्रु रहता है, उसी ओर मुँह कर एकमाला अर्थात् केवल १०८ बार इस मन्त्र का जप साधक

प्रेतालक्तकलिखितं नरशिरसि प्रेतवह्निसन्तप्तम् ।
यमलोकादप्यचिरादानयति बलेन पूर्ववत्साध्यम् ।।११।।

पूर्ववत्साध्यं मन्त्रयुतं साध्यनाम शतं जपतीति अनुवर्तते । प्रेतालक्तकं प्रेत-शरीरोत्थं रक्तम् । नरशिरसीति अशूरसम्बन्धिनि अपीति पूर्वस्माद्विशेषः ॥११॥

मृतनार्या वामपदादुद्बद्धायास्तु पांसुलीं समादाय ।
रुधिरालक्तकरोचनया साध्यतनुं मन्त्रसंयुक्ताम् ।।१२।।
खदिरानले सुतप्तां रात्र्यर्धे सम्मुखो जपशतेन ।
आनयति शचीमहल्यामथवा दिवसस्य शतभागात् ।।१३।।

संयुक्तामित्यन्ते लिखितामिति योज्यं सुतप्तामित्यत्र कृत्वेति । रोचना इह नर-सत्का । पांसुली पार्ष्णिकास्थीति अन्ये । दिवसस्य शतभागेति सूक्ष्मः कालः ॥१३॥

उद्बद्धस्त्रीतनुवामांघ्रेः पांसुलीं समादाय ।
प्रेतालक्तकनिजरुधिररोचनाभिर्विलिख्य साध्यतनुम् ।।१४।।

करे । इसका फल यह होता है कि, राक्षसों के सम्राट को भी, या असुर पुरोहित शुक्राचार्य को भी वायुवेग से उपस्थित कर सकता है ॥१०॥

२. द्वितीय प्रयोग और फल–

प्रेत के रक्त के अलक्तक से पूर्ववत् मन्त्र युक्त साध्य नाम लिखकर चिताग्नि पर संतप्त कर वही क्रिया करे व साध्य नाम लिखकर १०८ बार जप करे तो, यमलोक से भी साध्य को तत्काल उपस्थित कर सकता है । इस प्रयोग का और प्रथम प्रयोग का अन्तर यह है कि, उसमें शूरवीर की ताजी खोपड़ी में यह प्रयोग करना था और इस दूसरे प्रयोग में केवल नर शिरसि लिखा है । अर्थात् कोई भी हो, शूरवीर की न भी हो तो भी यह प्रयोग कि‍ा जा सकता है ॥११॥

३. तीसरा प्रयोग और फल–

मरी हुई स्त्री के बायें पैर की नरहर की हड्डी या गुल्फ से अङ्गुलियों के बीच की हड्डी लेकर खून की रोचना से ही साध्य का चित्र उस पर बनाया जाय और मन्त्र का उस पर लेखन हो । खैर की लकड़ी पर उसे तपाया जाय । यह क्रिया अर्धरात्रि को होनी चाहिये । वही साध्य की दिशा में बैठकर १०८ जप किया जाय तो इस प्रयोग से शची को अहल्या को मात्र २४ मिनट में बुलाया जा सकता है ॥१२-१३॥

४. चौथा प्रयोग और उसका फल–

उद्बद्ध मृत स्त्री के बायें पाँव की पांसुली लेकर प्रेत के खून में अपना खून मिलाकर रोचना बनायी जाय । साध्य शरीर को चित्रित किया जाय ?

प्रेतानले सुतप्तां शताभिजप्तां स्वनाममन्त्रयुताम् ।
कृत्वा यक्षसुरासुरपन्नगनारीः समानयत्याशु ।।१५।।

पूर्वं प्रेतरक्तम्, इह तु निजरक्तमिति विशेषः ।

निजवामकरेऽलक्तकरोचनया साध्यनाम परिलिखितम् ।
मन्त्रविदर्भितमेतज्जपशतयुक्तं सुतापितं रात्रौ ।।१६।।
खदिरानले विधूमेऽसुरगुरुमप्यानयत्यनिलवेगात् ।

विवर्भितं नाम्नोऽन्ते । मन्त्रविन्यासः पूर्वमेव दर्शितः ।

साध्यमभिधानलिखितं भूमितले गैरिकेण रक्तेन ।।१७।।
गन्धोद्वर्तितवामहस्तेन तु तत्त्वबीजयुक्तेन ।
आक्रम्य भूमिलिखितं साध्याभिमुखोऽर्धरात्रकाले तु ।।१८।।

प्रेतानल से उसे तप्त किया जाय । १०८ बार मन्त्र का जप किया जाय । साध्यनाम का उल्लेख किया जाय तो यक्ष, सुर, असुर, पन्नग-नारी आदि का तुरत आकर्षण हो जाता है । इसमें अपने रक्त को मिलाने की विशेष बात का उल्लेख है । शेष सब बातें पूर्ववत् ही हैं ॥१४-१५॥

५. पञ्चम प्रयोग और फल–

अपने बायें हाथ में अलक्तक और रोचना से या अलक्तक युक्त रोचना से साध्य का नाम लिखे । मन्त्र से उसे विदर्भित करे अर्थात् नाम के अन्त में मन्त्र लिखे । विदर्भित एक प्रकार का सम्पुटित करना ही है । इसके बाद उसका १०८ बार जप करे । रात्रि में इसे सुतापित करना चाहिये । खैर की आग जिसमें धूम न हो । इस प्रकार जप से और सुतापित करने से असुर गुरु को भी तत्काल बुलाया जा सकता है ॥१६॥

६. छठाँ प्रयोग और उसका फल–

श्मशान भूतल पर साध्यनाम गेरु और रक्त से मिली मसि से लिखें । बायें हाथ से उस पर गन्ध और उद्वर्त्तन लेप करें । इस नाम को भी मन्त्र से विदर्भित करें । साथ में तत्त्वबीज का लेखन भी होना चाहिये । जिस दिशा में साध्य हो उसी ओर अभिमुख होकर अर्धरात्रि में उसे आक्रान्त करें । पूर्ववत् जप भी अवश्य करना चाहिये । इसका फल अमात्य सहित राजन्य वर्ग का भी आकर्षण है । क्षण भर में यह घटित हो जाता है ॥१७-१८॥

क्षितिपतिमपि सामात्यं चानयति निमेषशतभागात् ।

अभिधानद्वारेण प्राग्वद् मन्त्रविदर्भितेन लिखितं कृत्वा । गैरिकं हिङ्गुलकम् । रक्तेन प्रेतोत्थेनैव अत एव भूमितलमेतत् श्मशानिकम् । अत्र च प्राकरणिकः शतजापयोगः स्थित एव ।

नृकपालमध्यलिखितं रोचनया रक्तमिश्रया साध्यम् ।।१९।।
नाम च तस्य ललाटे मन्त्रेण विदर्भितं समालिख्य ।
गन्धोदकेन लिप्तं नृकपालं वै द्वितीयमादाय ।।२०।।
कृत्वा कपालसम्पुटमथ मृतसूत्रेण वेष्टयेत्सम्यक् ।
खदिराङ्गारसुतप्तं सिक्थकलिप्तं तु तत्पुनः कृत्वा ।।२१।।
यावत्सिक्थकमेतत्कपाललग्नं विलीयते तावत् ।
सुरपतिमप्याकर्षति जपशतयोगान्निमेषमात्रेण ।।२२।।

मृतसूत्रेण वक्ष्यमाणछुम्मकायुक्त्या मृतस्नायुना । जपोऽत्र रात्रावेवेति स्थितमेव ॥२२॥

भित्तौ गैरिकलिखितं मन्त्रार्णविदर्भितं तदभिधानम् ।
साध्याभिमुखो रात्रौ वामकराक्रान्तमथ जपन्क्रुद्धः ।।२३।।

---

७. सप्तम प्रयोग और फल–

नृकपाल (खोपड़ी) के मध्य में रक्तमिश्रित रोचना से साध्यनाम लिखें । उसके ललाट पर भी मन्त्र से विदर्भित नाम लिखें । गन्धोदक से और उद्वर्त्तन से उस नाम को उद्वर्त्तित करें । इसके बाद एक और मानव खोपड़ी ले आवें । दोनों खोपड़ियों को सम्पुटित कर मृतक की आतों की रस्सी से उन्हें बाँध दे ।

खैर की आग में इन्हें अच्छी तरह तपावे । मोम से उसे बार बार लिप्त करे ताकि वह एक मोम का गोलक ही बन जाये । उसको मोम के गल जाने तक पुनः तपाये । मोम के गलते ही सुरपति का भी आकर्षण हो जाता है । १०८ जप आवश्यक है । अद्भुत प्रयोग है ॥१९-२०॥

८. आठवाँ प्रयोग एवं फल–

भित्ति पर गैरिक से मन्त्र विदर्भित साध्यनाम लिखे रात्रि में उसके सम्मुख क्रुद्ध भाव से बाँयें हाथ से उसे पीटे, और जप भी करता रहे । बाँयें हाथ से ही 'क्रों' अङ्कुश बीज लिखकर यह प्रयोग करे । यह प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है । सुरपति भी इस प्रयोग से आकृष्ट हो जाते हैं । यह ध्यान रहे कि इसकी भूमि श्मशानिक ही होनी चाहिये ॥२३॥

क्रोङ्काराङ्कुशयोगादानयति सुरासुरान्क्षिप्रम् ।

भित्ताविति श्मशानिक्याम् । तदभिधानमिति आनयनेप्सितसुरासुरनाम । क्रोङ्काराङ्कुशयोगादिति अङ्कुशाकारलिखितक्रोङ्कारवामकराक्रान्तिवशादित्यर्थः ।

रणशस्त्रघातपतितं नरपिशितं त्रिमधुसंयुतं जुहुयात् ।।२४।।
विपरीतचक्रमुद्रां बद्ध्वा साध्यं तु निक्षिपेन्मध्ये ।
सम्पीडितकरसम्पुटविह्वलवक्त्रं करान्तरे ध्यात्वा ।।२५।।
आनयति महापुरुषं क्षितिपतिमपि दिवसशतभागात् ।

'भ्रमेणाङ्गुलिकाभ्यां स्याच्चक्रं दुष्टविकर्तनम्' ।

इति प्रसारिताङ्गुलिकोत्तानवामोपरिनिविष्टदक्षहस्तस्य प्रसारिताङ्गुलिकस्य तल-सङ्घर्षेण, वामकनीयसीपार्श्वप्राप्तदक्षतर्जन्या भ्रमणाद् या चक्रमुद्रा आगमेषु स्थिता, तां विपरीतामिति वामकनीयसीपार्श्वाद्दक्षिणस्यान्तःप्रवेशेन बद्ध्वा तन्मध्यगतं साध्यं करपीडनविह्वलीभूतं ध्यात्वा मन्त्रविदर्भितं साध्यनाम शतसंख्यया जप्त्वा प्रोक्त-द्रव्येण निशि होमं कुर्वन्नृपतिमपि विधेयीकरोतीत्यर्थः । रात्रौ श्मशाने जपहोमादि प्राकरणिकमत्र स्थितमेव ।

शितशस्त्रपातरहितध्वजनरशीर्षं प्रगृह्य लक्ष्मयुतम् ।।२६।।

---

९. नवाँ प्रयोग–

युद्ध क्षेत्र में शस्त्रघात से कटकर गिरे मनुष्य के मांस त्रिमधु मिलाकर हवन करना चाहिये । विपरीत चक्र मुद्रा से साध्य नाम को हाथों के बीच में कर देना चाहिये । बाँयें हाथ को उत्तान कर अंगुलियों को फैला लेना चाहिये । उसके ऊपर दाहिने हाथ को संन्निविष्ट करे । इस प्रकार दोनों हाथों के तल रगड़ खाने लगते हैं । बायीं कानी अंगुली के पास दाहिनी तर्जनी को घुमाने से एक चक्र मुद्रा बनती है । यह आगम की प्रसिद्ध मुद्रा है । इसके बीच में साध्य का ध्यान करना चाहिये और जप करते हुए कर पीडन से उसे संपीडित करना चाहिये । यह सोचना चाहिये कि, इस कर संपीडन में वह पिस रहा है । इस प्रकार से कोई भी हो, उसी क्षण उसका आकर्षण होता है और उसे आना ही पड़ता है । भले ही वह नरपति की क्यों न हो ।।२४-२५।।

तीक्ष्ण शस्त्रपात से ध्वज रहित व्यक्ति के शिरोभाग को ध्वज-शूल पर या भाले के शूल पर आरोपित कर दिया जाय, उस शिर को किसी तरह ले लेना चाहिये । वह शुभ लक्षण युक्त होता है । उस पर आघात नहीं रहता है । उसे मांसादि रहित कर सुखा लेना चाहिये । उसमें त्रिरूप कथित विधि से चित्र बना लेना चाहिये । पहला व्यक्त चित्र, दूसरा व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग

तत्र त्रिरूपगदितं धाम लिखित्वाभिपूजयेद्यस्तु ।
तस्य हरिपवनकमलजधनदयमेन्द्राः ससिद्धगन्धर्वाः ।।२७।।
विविधवरसिद्धिजातं विदधति विचित्रास्तथापराः ।

आदौ शस्त्रेण अक्षतो यो ध्वजे नरस्तस्य शीर्षं शूलारोपितपुरुषकपालम् । तत्र प्राग्वत् शोषिते त्रिरूपगदितमिति आकृतिमन्मुखलिङ्गरूपमव्यक्तलिङ्गाकृति धाम मूलमन्त्रवाच्यं दैवतं लिखित्वा उत्कीर्त्य यो नित्यमर्चति, असौ लोकपालानपि वशीकुर्यात् ।

एतदेव भङ्ग्या स्फुटयति श्लोकद्वयेन–

व्यक्ताव्यक्तं तथा व्यक्तमव्यक्तं तु त्रिरूपकम् ।।२८।।
धाम चाराधयेत्सम्यक् तत्र यस्तु विचक्षणः ।
जायते त्रिविधा सिद्धिर्गिरिराजतनूद्भवे ।।२९।।
सुनिश्चितमतेः सम्यक् गिरिराजस्य तस्य वै ।

तत्रेति त्रिशूलारोपितनरकपाले । गिरिराजस्येति वक्ष्यमाणछुम्मकादृष्ट्या साधकेन्द्रस्य ।

अत्र द्रव्यविशेषहोमसाध्यं वशीकारमाह–

रक्तचन्दनधूलिं तु राजिकां लवणं तथा ।।३०।।

चित्र और तीसरा अव्यक्त धाममय बनाकर घर में पूजा स्थान पर रखकर नित्य पूजन करना चाहिये । उस कपाल में मूल मन्त्र सदैवत भी लिखना चाहिये । इसके पूजन से विष्णु, वायु, ब्रह्मा, कुबेर और इन्द्र सहित सिद्ध गन्धर्व प्रसन्न हो जाते है । लोकपाल वशीभूत होकर विविध वरदान और सिद्धियाँ प्रदान करते हैं ॥२६-२७॥

व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त इन तीन रूपों में मन्त्र को व्यक्त करना चाहिये । इस सन्दर्भ में धाम मन्त्र की सम्यक् आराधना करनी चाहिये । विच-क्षण प्रयोग कर्त्ता इस प्रक्रिया में सफल होने पर त्रिविधा सिद्धि प्राप्त करता है । देवी ! ऐसे शिव साधना परायण को विशिष्ट सिद्धियाँ अनिवार्य रूप से प्राप्त होती हैं ॥२८-२९॥

१०. दसवाँ प्रयोग–

यहाँ से विशिष्ट द्रव्यों के होम से वशीकरण के प्रयोग की चर्चा कर रहे हैं–

पादधूलिं तु साध्यस्य एकीकृत्य तु पेषयेत् ।

जपन्स्वच्छन्ददेवं तु निर्मथ्नंश्च करद्वयम् ।।३१।।

चिताग्नौ जुहुयाच्चूर्णं चाण्डालाग्नावथापि वा ।

साध्यस्याभिमुखो भूत्वा प्रयोगमिममाचरेत् ।।३२।।

शतमेकं जपेद्यावत्तावदाकर्षयेन्नृपम् ।

पादधूलिः पुंसो दक्षिणात् पादाद् नार्या वामाद् गृहीतव्या । प्रणवं निष्कलनाथं नमोऽन्तमुच्चार्य अमुको मे वशीभवतु स्वाहेत्यूहान्तो मन्त्रो जपे होमे च प्रयोक्तव्यः ।

एवमाकृष्टश्च असौ साधकस्य–

वशमायाति भूनाथ आत्मना च धनेन च ।।३३।।

न अत्र संशयः कार्य इत्याह–

सिद्ध एष प्रयोगस्तु नान्यथा ते वदाम्यहम् ।

एवं वशीकृतौ प्रयोगदशकमुत्तमादिसिद्ध्यर्थं च प्रयोगमुक्त्वा, स्तम्भने प्रयोगमाह–

तामेव धूलिं सङ्गृह्य लोहचूर्णविमिश्रिताम् ।।३४।।

रक्त चन्दन का चूर्ण, राजिका (काली सरसों) लवण, साध्य पुरुष के दाहिने पैर की धूलि और स्त्री के बाँयें पैर की धूलि इन सबको एकत्र कर पीसना चाहिये । स्वच्छन्द देव के मन्त्र का जप करते हुए अपने हाथों का ही मन्थन करते हुए चिता की आग में हवन कर देना चाहिये । अथवा चाण्डाल की जलाई हुई आग में हवन कर दिया जाय । साध्य की दिशा की ओर इस प्रयोग को किया जाय और १०८ बार जप किया जाय तो, तत्काल वशीकार और आकर्षण दोनों हो जाते हैं । इस प्रयोग से पृथ्वीपति भी अपने शरीर और धन दोनों से वशीभूत हो जाता है ।।३०-३३।।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! यह सिद्ध प्रयोग है । यह अन्यथा नहीं हो सकता ।

११वाँ प्रयोग–(स्तम्भन)

पहले कही हुई धूलि को संग्रह कर लौह चूर्ण उसमें मिला देना चाहिये ।।३४।।

श्मशानचीरके बद्ध्वा सप्तजप्तां चतुष्पथे ।
निखन्याष्टाङ्गुलं भूमौ रिपुनामसमन्विताम् ।।३५।।
निक्षिपेद्यस्य नाम्ना तां स क्षणात्स्तम्भितो भवेत् ।

श्मशानचीरके शववस्त्रखण्डे । सप्तजप्तामिति अमुकं स्तम्भयेत्यूहभाजा निर्दिष्टमन्त्रेण ।

उन्मादे प्रयोगमाह–

तामेव धूलिं सङ्गृह्य पञ्चकोन्मत्तसंयुताम् ।।३६।।
बद्ध्वा तां प्रेतवस्त्रेण रिपुनामसमन्विताम् ।
शतजप्तां तु तां कृत्वा श्मशाने निखनेद्द्रुतम् ।।३७।।
भवत्युन्मत्तकः साध्यः

पञ्चविधमुन्मत्तकं मूलकाण्डपत्रपुष्पफलाख्यावयवञ्चकयुक्तं धत्तूरकम् । अत्रापि अमुकमुन्मादयेत्यूहः कार्यः ।

अस्य प्रत्यानयनमाह–

उद्धृतायां तु मुच्यते ।

निवृत्तोन्मादो भवति । कथमित्याह–

उद्धृतं वस्त्रमादाय क्षीरेण परिशोधयेत् ।।३८।।

श्मशानचीरक अर्थात् शववस्त्र (कफ़न) में उसे बाँधकर चौराहे पर सात बार मन्त्र जप कर, चूँकि यह स्तम्भन का प्रयोग है । अतः 'अमुकं स्तम्भयस्तम्भय ठः ठः' इस ऊह मन्त्र का ही सात बार जप आठ अंगुल नाप के गर्त्त में गाड़ देना चाहिये । यह ध्यान रहे कि, उसमें शत्रु का नाम अवश्य रहना ही चाहिये । जिसका नाम देकर यह गठरी भूमिसात् कर दी जायगी, यह निश्चित है कि, वह तत्काल स्तम्भित हो जायेगा ।

१२वाँ प्रयोग–उन्माद–

उसी धूल का संग्रह कर पाँच प्रकार से उन्मत्तक नामक (धत्तूर) औषधि के साथ बाँधना चाहिये । यह पाँच प्रकार १–मूल, २–काण्ड (शाखा=प्रशाखा), ३–पत्र, ४–पुष्प और ५–फल ये धत्तूर के पाँच अवयव हैं । इसे भी प्रेतवस्त्र में ही बाँधना चाहिये । सौ बार जपकर श्मशान में ही उसे गाड़ देना चाहिये । उसके तुरत बाद शत्रु उसी समय उन्मत्त हो । उसे निकाल देने पर वह ठीक भी हो जाता है । उद्घृत वस्त्र को दूध से धोना उचित है ॥३५-३८॥

प्रत्यानयनमेतद्धि सिद्धमेव न संशयः ।

उद्धृतं श्मशानभवनादाकृष्टम् । पुनरपि आकर्षणे प्रयोगान्तरमाह–

अथ रक्ताश्वमारस्य कुसुमानि समाहरेत् ।।३९।।

शतमष्टोत्तरं तेषां शतजप्तं तु कारयेत् ।

सकृज्जप्तेन पुष्पेण लिङ्गमूर्धनि ताडयेत् ।।४०।।

एवं दिने कुर्याद्दशाहं सुसमाहितः ।

रक्ताश्वमारस्य लोहितकरवीरस्य प्रोक्तेतिकर्तव्यताकानि पुष्पाणि प्रत्यहं गृहीत्वा पृथक् पृथक् सुरक्षितानि स्थापयेत् ।

ततस्त्वेकादशैतानि सङ्गृह्य कुसुमानि तु ।।४१।।

महानदीं ततो गत्वा तत्रैकैकं प्रवाहयेत् ।

आनुपूर्व्येण सर्वाणि सकृज्जप्त्वा तु मन्त्रवित् ।।४२।।

प्रथमदिनपुष्पाणामादौ प्रवाहणम्, ततो द्वितीयादिदिनपुष्पाणामिति आनुपूव्यार्थः ।।४२।।

इसे प्रत्यानयन प्रयोग कहते हैं । सिद्ध इस प्रयोग के विषय में संशय करने का कोई औचित्य नहीं है । उद्घृत का तात्पर्य जहाँ ये पदार्थ गड़े थे वहाँ से निकालना है । निकालने के बाद कपड़े को दूध से धोने पर शेष दोष समाप्त हो जाता है ।

१३वाँ प्रयोग (वशीकरण)–

लाल अश्वमार (कनैल) के १०८ फूलों को एकत्र करना चाहिये । १०८ बार जपकर करना चाहिये । इसके बाद एक एक फूल से लिङ्ग पर ताडन करना चाहिये ।।३९-४०।।

प्रतिदिन दश दिनों तक लगातार यह प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये । प्रतिदिन के फूलों को एकाग्रभाव से अलग अलग एकत्र कर लेना चाहिये । ग्यारहवें दिन इन फूलों को महानदी में प्रक्षिप्त करने का विधान है । पहले दिन के क्रम से ही इन्हें प्रवाहित करना उचित है । बारी बारी से दसों दिन के फूलों को प्रवाहित करना चाहिये ।

इसके बाद सबका ग्यारहवें दिन ही प्रवाहित करने के उपरान्त जप करना चाहिये ।।४१-४२।।

यत्तेषां पश्चिमं पुष्पं प्रतिस्रोतः प्रयाति हि ।

ऊर्ध्वं वहतीत्यर्थः ।

तद्गृहीत्वाम्बुसम्मिश्रं दन्तैरस्पृष्टमापिबेत् ।।४३।।

पीतजलं कुर्यात् ।।४३।।

ततोऽश्वमारकुसुमं रक्त वै शतमन्त्रितम् ।

तर्जन्यग्रे तु तत् कृत्वा अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्बुधः ।।४४।।

दक्षिणेन ।।४४।।

अथ–

भ्रामयेत्सव्यतः पुष्पं यस्य नाम्ना तु मन्त्रवित् ।

स्वच्छन्दं जपमानस्तु तमाकर्षयते द्रुतम् ।।४५।।

सव्यत इति दक्षिणे पार्श्वे । अत्रापि अमुकमाकर्षयेति प्रयोगः ।।४५।।

आकृष्टस्य विसर्जने प्रयोगमाह–

अपसव्यं भ्रामयित्वा पुनस्तस्य विसर्जनम् ।

अपसव्यं वामपार्श्वे तदश्वमारपुष्पं भ्रामयन्साधकस्य यथोपयोगं विनियुक्तस्य विसर्जनं करोतीति शिवम् ।

फूल एक एक क्रम से बहते हैं । पिछले दिन का फूल बाद में सबके ऊपर प्रवाहित होता है । उसी समय सजग होकर फूलों के सहित स्पृष्ट जल अंजलि में लेकर बिना दाँतों का स्पर्श कराये पी जाना चाहिये ।।४३।।

इसके बाद हाथ में बचे उन लाल फूलों को सौ बार अभिमन्त्रित करना चाहिये । तर्जनी के अग्र भाग में उन्हें रखकर दाहिने अंगूठे से उन्हें रगड़ डाले ।।४४।।

अपने दक्षिण पार्श्व में जिस पुरुष या नारी का आकर्षण करना हो, उसका नाम लेकर अमुकम् आकर्षय इस ऊह मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनको प्रक्षिप्त करें । भगवान् कहते हैं कि, इस प्रकार के प्रयोग में स्वच्छन्द मन्त्र का जप करने से साध्य का तुरत आकर्षण हो जाता है ।।४५।।

१४वाँ आकृष्ट विसर्जन प्रयोग–

जहाँ मर्दित (अङ्गुठ से आक्रान्त) पुष्प का दक्ष पार्श्व में प्रक्षेप किया गया था, उन्हीं का अपसव्य भ्रामण करने से अर्थात् उस अश्वमार पुष्प का बाँयें भ्रामण करने से विनियुक्त का विसर्जन हो जाता है । इति शिवम् ।।

स्वातन्त्र्यशक्त्या परया नानाश्चर्यप्रदर्शकः ।
जयत्यनुग्रहकरः स्वच्छन्दः परभैरवः ॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते क्षेमराजकृते
त्रयोदशः पटलः ।।१३।।

बाधक यह अध्यात्म का, साधक माया–मोह ।
जय शिव ! दिखलाते सदा, इन्द्रजाल–सन्दोह ।
आध्यात्मिकी चित्सरितां प्रदूषितां
करोति येयं पटल–प्रणाली ।
हेयामिमां कश्चिद् वाभिचारी
त्रयोदशे योजितवान् प्रतीयते ।
हंसः सदनुग्रह-सुधा-सारं रसमापीय ।
मा ह्यनुसर्त्तुं दिशति, हृदि चिद्विमर्शमानीय ॥

स्वातन्त्र्य समुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरवभट्टारक प्रवर्त्तित महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराजकृतोद्योत विवरणोपेत डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

श्री स्वच्छन्दतन्त्र का
त्रयोदश पटल
परिपूर्ण
शुभं भूयात्

●

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

अथ चतुर्दशः पटलः

मोचयति पाशजालाद्द्रावयति भिदं मुदं राति ।
मुद्रयति विघ्नतस्करलुण्ठनतो मन्त्रसिद्धिसङ्घातम् ॥
तत्तत्संवित्स्फारानुकृतिरूपान्व्यनक्ति या शम्भोः ।
आकृतिरूपा मुद्रा जयति विभोरर्चनादिनिर्वर्त्या ॥

त्रयोदशभिः पटलैः समय्यादिचतुष्टयनिर्वर्त्यनित्यनैमित्तिककाम्यकर्मसम्पूर्णमुदितम् । तत्र रक्षासन्निधितदनुप्रवेशादिप्रयोजनम्–

'मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि' । (२।१०२)

इति यत् पूर्वं कायवाङ्मनोनिर्वर्त्यमुद्रास्वरूपमुक्तम्, तद् विवक्षुः श्रीभैरव उवाच–

श्री स्वच्छन्दतन्त्रम्

अथ चतुर्दश पटल

(१४)

पाशजाल से मुक्त कर भेदों का प्रद्राव ।
करती मुद् का उद्भवन विघ्नविमुद्रित-राव ॥
कर, देती मुद् शाश्वतिक, मन्त्र सिद्धि-सद्भाव ।
विघ्नतस्करों से बचा मन्त्रों में आसक्त ॥
मन्त्रसिद्धि संघात कर करतललुण्ठन सक्त ।
शिवसंवित्संस्फार को आकृतियों में व्यक्त ॥
करती मुद्रा विजयिनी, विभुकी अर्चा रूप ।
वर्णन उसका पटल में जय विभु परम-अनूप ॥

इस पटल के पहले के तेरह पटलों में समयी, साधक, पुत्रक और आचार्यों द्वारा निर्वर्त्य नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का यथावत् वर्णन किया गया है । इस पटल में रक्षा, सान्निध्य और उसमें अनुप्रवेश आदि प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली 'मुद्रा' का वर्णन कर रहे हैं ।

पहले के ग्रन्थ भाग २।१०२ में कहा गया है कि,

मुद्राणां लक्षणं वक्ष्ये अस्मिंस्तन्त्रे यथास्थितम् ।

अस्मिंस्तन्त्रे प्रोक्तप्रयोजना भगवदायुधानुकाररूपा या मुद्राः, तासां लक्षणं तत्त्वव्यवस्थापकं रूपं वक्ष्यामीति प्रतिजानाति ।

अत्र यद्यपि–

'.....................खड्गखेटकधारिणम्' । (२।९०)

इति आयुधक्रम उक्तः, तथापि–

'कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रयोजयेत्' । (२१)

इति भाविनीत्या कपालखट्वाङ्गयोः सर्वावरणगतदेवतासाधारणत्वात् श्रीकोटराक्ष-भट्टारकविषये च तयोः प्राधान्यादादौ तन्मुद्रालक्षणमाह–

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा कपालं परिकीर्तितम् ।।१।।

एषा च विश्वसमाहरणप्रवृत्तसंवित्स्वरूपानुकारिणी । यदुक्तं मयैव श्रीभैरवा-नुकरणस्तोत्रे–

'त्रैकाल्य कर्मों की सम्यक् सम्पूर्णता के लिये, त्रिधा मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये' ।

उसी उक्ति के अनुरूप काय, वाक् और मन द्वारा निर्वर्त्य मुद्रा के स्वरूप को कहने की इच्छा से देवी के अनुरोध को स्वीकार कर भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! इस तन्त्र में अर्थात् स्वच्छन्दतन्त्र के इस पटल में मुद्राओं के यथोचित लक्षणों को बताने जा रहा हूँ । ये भगवान् की आयुधरूपा मानी जाती हैं । इन लक्षणों का जैसे पाशजाल मोचन, भेदों का विद्रावण, मुद् का प्रदान, मन्त्र साधन साहाय्य, संवित् स्फार का आकृतियों में अनुवर्त्तन का संकेत मंगल श्लोकों में ही कर दिया गया है, उन्हीं के अनुरूप अन्य लक्षणों के कथन की प्रतिज्ञा कर रहे हैं ।

यद्यपि २।९० खड्ग खेटक रूप आयुध क्रम कहा गया है फिर भी 'कपाल और खट्वाङ्ग को अनुक्त देव विषयों में कहने की बात कही गयी है । ये सभी आवरण देवों के लिये सामान्य रूप से प्रयोज्य है क्योंकि इनका सर्वत्र प्राधान्य है । अतः यहाँ कपाल मुद्रा का कथन कर रहे हैं–

अञ्जलि का उत्तान रूप ही कपाल मुद्रा कही जाती है । यह मुद्रा विश्व के सम्यक् आहरण में प्रवृत्त संवित् स्वरूप की अनुकरण करने वाली मुद्रा कहलाती हैं ।

आचार्य क्षेमराज के स्वररचित स्तोत्र ग्रन्थ भैरवानुकरणस्तोत्र में उन्होंने स्वयं लिखा है–

'शाक्ताण्डखण्डमध्ये विश्वरसमेवमहं समाहरामि सदा ।
व्यञ्जयसि करकपालगरुधिरभिषादेतदिव मेऽन्तः' ॥ इति ।

यद्यपि–

'.............मुण्डखट्वांगधारिणम्' । (२।९१)

इति पूर्वं पठितम्, तथापि इह कपालमुद्रोक्तेर्मुण्डस्थाने कदाचित्कपालं भवतीत्यादिशति । मुण्डमुद्रापि खड्गवद् मुष्टिदर्शं दर्शनीया ॥१॥

तिर्यक्कृत्वा करं वामं कनिष्ठाद्यङ्गुलित्रयम् ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्देवि ऋज्वीं कृत्वा प्रदेशिनीम् ।। २।।
पराङ्मुखं करं कृत्वा स्कन्धदेशे निवेशयेत् ।
खट्वाङ्गं कीर्तितं ह्येतत्

वाममिति निर्देशात् कपालमुद्रा दक्षिणेन निर्देश्येति ध्वनति । तथा च श्रीमालिनीविजये–

'निम्नं पाणितलं दक्षमीषत्तत्कुञ्चिताङ्गुलि ।
कपालमिति विज्ञेयम्.....................' ॥ इति । (७।२।२२)

पाँच अण्ड खण्डों में तीसरा अण्ड शाक्ताण्ड है । यह पृथ्व्यण्ड और प्रकत्यण्ड के बाद परिगणित होता है । इसमें विश्वरस के सम्यक् आहरण की शक्ति होती है । आचार्य कहते हैं–

'देव ! शाक्त आवेश में मैं विश्वरस का ही सदा समाहरण करता हूँ । भगवन् ! तुम करकपाल रुधिर के व्याज से मेरे अन्दर ही उसे व्यक्त करते हो' ।

कहीं कपाल को मुण्ड शब्द से भी अभिहित किया गया है । (२।९१) फिर भी कपाल मुद्रोक्त मुण्ड के स्थान पर ही कपाल का आदेश ध्यान देने योग्य है । मुण्ड मुद्रा भी होती है । यह तलवार की तरह मुष्टि पर रखकर दिखलानी चाहिये ॥१॥

बाँयें हाथ को तिर्यक् कर कनिष्ठा अनामिका और मध्यमा इन तीनों को अङ्गूठे से आक्रान्त करना चाहिये । वहीं तर्जनी को ऋजु रखना चाहिये । प्रदेशिनी आदेश मुद्रा में तर्जनी ही होती है । अब हाथ को पराङ्मुख कर कन्धे पर ले जाना चाहिये । इसे खट्वाङ्ग मुद्रा कहते हैं ।

श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र अधिकार ७ में खट्वाङ्ग और कपाल मुद्राओं को श्लोक २१-२२ में अत्यन्त संक्षेप में कहा गया है कि, खट्वाङ्ग में बाँयें कन्धे पर बायीं मुट्ठी को तर्जनी को सीधी रखते हुए रखना चाहिये ।

अङ्गुलित्रयमिति मुष्टिसन्निवेशेन स्थितमित्यर्थात् । पराङ्मुखमिति स्कन्धापेक्षया । एतन्मुद्रासतत्त्वमपि तत्रैव स्तोत्रे प्रदर्शितम्–

'निःशेषाहृतसारा मय्येव जगत्स्थितिस्तदेकमये ।
इति खट्वाङ्गकरङ्कोद्वहनच्छलतो ददास्याज्ञाम्' ।। इति ।।

अथ–

खड्गमुद्रां निबोध मे ।।३।।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्देवि सकनिष्ठामनामिकाम् ।
मध्यमां तर्जनीं चोर्ध्वं खड्गमुद्रा प्रकीर्तिता ।।४।।

स्कन्धक्षेत्रे पराङ्मुखदक्षकरप्रदर्शनीया एषा । कृत्वेति शेषः । यदुक्तं तत्रैव–

'अन्तःशक्तिकृपाणीं व्यनक्षि संसृतिविभेदिनीमसिना ।
निजशक्तिमहिमस्वीकृतसमस्तविश्वा हि वीरवराः' ।। इति ।।४।।

मुष्टिं बद्ध्वा कनिष्ठां च प्रसार्येत वरानने ।
आत्मनः सम्मुखं कृत्वा स्फारस्ते कथितो मया ।।५।।

तथा कपाल में दाहिनी हथेली के अधोमुख तल और संकुचित अङ्गुलियों के साथ जिससे अञ्जलि गहरी दिखे कपाल मुद्रा होती है ।

इस मुद्रा के विषय में उसी स्तोत्र में आचार्य श्री क्षेमराज कहते हैं कि, 'निःशेष जगदुल्लास को समाहृत करने की मेरी प्रक्रिया में ऐक्य को चरितार्थ करने के लिये मेरी खट्वाङ्ग मुद्रा की खड़ी तर्जनी से प्रभु भी यही आदेश दे रहे हैं ।।२।।

खड्ग मुद्रा–

अङ्गुष्ठ से अनामिका और कनिष्ठिका को दबा कर मध्यमा और तर्जनी को ऊपर उठाये । इसे खड्ग मुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा दाहिने स्कन्ध पर दाहिने हाथ से दिखलायी जानी चाहिये ।।३-४।।

'यह आन्तरिक शाक्तिकृपाणी है । देवि ! तुम इस खड्ग से संसृति को समाप्त करती हो । जगन्मातः तुम अपनी कृपा की शक्ति से सारे विश्वोल्लास को स्वात्म में समेटने वाली हो' ।।३-४।।

स्फार मुद्रा–

मुठ्ठी को बाँधकर कनिष्ठा को फैला देने से और अपनी ओर कर लेने से स्फार मुद्रा बनती है ।

कृत्वेति वामहस्तमित्यर्थात् । स्फार इति स्फार इत्युच्यमानम् । उक्तं च तत्रैव–

'भवभयहर्ता सोऽहं स्फाराख्योऽवस्थितोऽस्मि मा भैष्ट ।
इत्यास्फोटितखेटकदर्शनतो दिशसि नः स्वामिन्' ॥ इति ॥५॥

मुष्टिं बद्ध्वा तु देवेशि तर्जन्यूर्ध्वं तु कुञ्चयेत् ।
अङ्कुशः कथितो ह्येष

दक्षिणपाणिं निर्वर्त्य । उक्तं च तत्रैव–

'भेदमयमखिलमेतन्निजशक्त्यैवाक्षिपामि संहर्तुम् ।
इत्युङ्कुशधारणतः स्फुटयति परभैरवोऽस्माकम्' ॥ इति ॥

अथ वामपाणिना प्रदर्श्याम्–

पाशमुद्रां निबोध मे ॥६॥

तर्जनीं वर्तुलां कृत्वा मूलेऽङ्गुष्ठस्य योजयेत् ।
पाशस्तु कथितो ह्येष दुष्टजालनिबन्धकः ॥७॥

अङ्गुष्ठस्येति तत्स्थाने मुष्ट्याकृतिवामसम्बन्धिनः । दुष्टजालं विघ्नसमूहः । अस्यापि तत्रैव तत्त्वं प्रदर्शितम्–

'भवभय को हरण करने वाला मैं वहाँ स्फार रूप से अवस्थित हूँ । डरने की कोई बात नहीं । यह भगवान् भैरव का आदेश है । साधक कहता है स्वामिन् ! आप हमें आस्फोटित खेटक (बलराम की गदा) मुद्रा में मुझे बता रहे हो ॥५॥

अङ्कुश मुद्रा–

मुट्ठी को बाँधे । तर्जनी को ऊपर उठावे । तर्जनी को ऊपर से अंकुश की तरह थोड़ी टेढ़ी कर दे । यह क्रिया बायें हाथ से ही करनी चाहिये ।

आचार्य क्षेम अपने स्तोत्र में कहते हैं कि, भगवन् ! भैरव-भेदमय इस विश्वोल्लास को समेट रहे हो, संहार की तुम्हारी इस क्रिया में अंकुश मुद्रा सहायता कर रही है । परभैरव इस मुद्रा के माध्य में यही स्पष्ट कर रहे हैं ॥६॥

पाश मुद्रा–

गायत्री मन्त्र में भी इसका प्रयोग होता है । वहाँ इसे यमपाश कहते हैं । दोनों हाथों की तर्जनियों से फाँसते हैं । तर्जनी का गोल बनावे । उसे अङ्गुष्ठ के मूल में लगावे । यह मुद्रा दुष्ट जाल की निबन्धिका है । आचार्य क्षेमराज कालों

'निजशक्तिपाशवलितश्चिद्भस्मना कल्यते महाकालः ।
इति पाशधारणवशात्प्रथयानः कालकालस्त्वम्' ॥ इति ॥७॥

मुष्टिं बद्ध्वा वरारोहे सम्प्रसार्य प्रदेशिनीम् ।
नाराचस्तु समाख्यातः समासात्तव भैरवि ।।८।।

सम्प्रसार्येति धनुरारूढनाराचवत्पार्श्वस्थित्येत्यर्थः । अस्यापि समनन्तरवक्ष्यमाणपिनाकमुद्रासहितस्य तत्रैव स्वरूपं निर्णीतम्–

'कोदण्डारूढशरप्रदर्शनाद्ब्रह्मविष्णुरुद्रेशान् ।
ससदाशिवकारणहरिणाञ्छक्त्या भिनत्सि युगपत्त्वम्' ॥ इति ॥८॥

मुष्टिं बद्ध्वा प्रसार्येत तर्जन्यङ्गुष्ठकं प्रिये ।
अग्रे निकुञ्चयेत्किञ्चित्पिनाकं परिकीर्तितम् ।।९।।

पिनाकं धनुः । अग्रे किञ्चिदाकुञ्चनाद् धनुराकार एव सन्निवेशो भवति । अस्यापि सतत्त्वमुक्तमेव ॥९॥

अग्रप्रसारितो हस्तः श्लिष्टशाखो वरानने ।
पराङ्मुखं तु तं कृत्वा त्वभयः परिकीर्तितः ।।१०।।

के काल भगवान् भैरव द्वारा इसे शक्तिपाशवलित चिद्भस्म से ही कलित मानते हैं ॥७॥

नाराच मुद्रा–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! मुट्ठी बाँधकर प्रदेशिनी तर्जनी को फैला देने से नाराच मुद्रा बनती है । नाराच बाण को कहते हैं । यह धनुष पर उस समय रखा जाता है, जब धनुष आकुंचित रहता है । उसी तरह मुट्ठी में अंगुलियाँ आंकुचित रहती हैं । अपने स्तोत्र के श्लोक में क्षेमराज ने भी यही कहा है कि, इससे कारण रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव रूप कारण हरिणों का भेदन होकर परम शिव की उपलब्धि हो जाती है ॥८॥

पिनाक मुद्रा–

मुट्ठी को बाँधकर तर्जनी और अंगुष्ठ को फैला देने और दोनों के अग्रभाग पर कुछ मोड़ लेने से पिनाक मुद्रा बन जाती है । इसी मुद्रा पर नाराच का प्रयोग भेदन करने में समर्थ होता है ॥९॥

अभय मुद्रा–

हाथ को आगे प्रसारित कर अंगुलियों को एक में शिलष्ट कर अर्थात् मिलाकर शरीर के आगे करने से बनाती है । व्यक्ति के हाथ पसारने का तात्पर्य

पताकहस्तो दक्षिणः स्वशरीरपराङ्मुख उत्थित इत्यर्थः । उक्तं च तत्रैव–

'अभयेन चा भयान्युन्मूलयता प्रकाश्यते सततम् ।
विश्वानुग्रहकरणस्वभावता तव करणं तेन' ॥ इति ॥१०॥

वामं भुजं प्रसार्यैव जानूपरि निवेशयेत् ।
प्रसृतं दर्शयेद्देवि वरः सर्वार्थसाधकः ॥११॥

उक्तं च तत्र–

'वरदेन पाणिना त्वं विश्वविभूतिप्रदत्वमभिनयसि ।
न खलु परतत्त्वनिष्ठो वित्तमलैः स्पृश्यते जातु' ॥ इति ॥११॥

घण्टाकारं करं वामं कृत्वा चैव त्वधोमुखम् ।
दक्षहस्तस्य तर्जन्या घृषेद्घण्टा प्रकीर्तिता ॥१२॥

अस्यापि वक्ष्यमाणवीणाडमरुमुद्राभ्यां सह तत्रैव सतत्त्वं दर्शितम्–

'वीणाघण्टाडमरूनुड्डामरदर्शयन्निदं दिशसि ।
वृत्तित्रिभेदभिन्नं नादामर्शं निभालयन्नन्तः' ॥ इति ॥१२॥

पताकहस्त होना है । क्षेमराज कहते हैं कि, अभय मुद्रा से भय का उन्मूलन होता है । इसमें विश्व को अभय बनाने का अनुग्रह भरा रहता है ॥१०॥

इसके बाद वर मुद्रा का प्रकरण आता है ।

वर मुद्रा–

वाम बाहु को फैलाकर जानु के ऊपर निविष्ट करें । और फैलाये हुए हाथ को कुछ ऊपर उठाकर दिखावें । यही वर मुद्रा है ।

आचार्य क्षेमराज कह रहे हैं कि, वरदपाणि द्वारा आप यह विज्ञापित कर रहे हैं कि, मैं समस्त विश्वविभूति का वरदान देने में समर्थ हूँ । वित्तमलों से प्रभावित व्यक्तियों से परतत्त्वनिष्ठ कभी स्पृष्ट भी नहीं हो सकता है ॥११॥

घण्टा मुद्रा–

बाँयें हाथ को घण्टा की तरह नीचे लटकाना चाहिये । दायें हाथ की तर्जनी से उसे घर्षण करने ये घण्टा मुद्रा होती है ।

वीणा घण्टा और डमरु मुद्राओं से तुम यह दिखा रहे हो भगवन् कि ! नादामर्श निरोधिका, नाद और नादान्त इन तीनों का प्रत्यवमर्श हो जाता है । इस आन्तरिक प्रक्रिया का अनुसन्धान इन मुद्राओं से सरलता पूर्वक हो जाता है ॥१२॥

कनिष्ठिकां समाक्रामेदङ्गुष्ठेन समाहितः ।
प्रसार्य चाङ्गुलीस्तिस्त्रस्त्रिशूलं परिकीर्तितम् ।।१३।।

समाहित इति । तत्तत्संवित्स्फारात्मकवीर्यसारतां सर्वमुद्राणामनुसन्दधीतेति अनेन आदिशति । वीर्यं च अस्य तत्रैव दर्शितम्–

'ज्वलदिच्छादिकशक्तित्रितयां तां सुन्दरां परां शक्तिम् ।
देवानुकरोषि बहिस्त्रिशूलधारणमिषेण नित्यमपि' ॥ इति ।

एषा च पराङ्मुखी जन्माधारात् प्रोल्लसच्छिखिशिखारूपा बिन्द्वन्तमेत्य अरात्रयोल्लासेन द्वादशान्ते प्राप्तस्थितिर्निबन्धनीयेति गुरवः ॥१३॥

दण्डो वै मुष्टिबन्धेन

अनुकार्य इति शेषः । उक्तं च स्तोत्रे–

'जगदखिलं मच्छक्त्या दमितं सर्वा व्यवस्थितीर्धत्ते ।
इति दण्डधारणवशाद्व्यनक्ति चिद्भैरवोऽस्माकम्' ॥ इति ।

गुरवस्तु–

'दण्डाख्यामृष्टसौषुम्ननाडीपथविराजिता' । इति ॥

वज्रमुद्रां निबोध मे ।
वामहस्तमधः कृत्वा उत्तानं तु समाहितः ।।१४।।

त्रिशूल मुद्रा–

यह मुद्रा द्वादशान्त में प्रवेश कराने में समर्थ मानी जाती है । कनिष्ठिका को अंगूठे से पूरी तरह दबाकर हाथ की शेष तर्जनी, मध्यमा और अनामिका प्रसारित करने से त्रिशूल मुद्रा बन जाती है ।

इच्छादि तीनों (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) शक्तियों को उद्दीपित कर भगवन् भैरव देव ! आप त्रिशूली हैं, इसको प्रमाणित कर रहे हैं ॥१३॥

दण्ड मुद्रा–

प्रसरित मुष्टिबन्ध हाथ ही दण्ड मुद्रा है । दण्डरूपिणी मेरी शक्ति से अखिल विश्व दमित है । साथ ही सारे विद्भैरव विश्व को यही व्यक्त कर रहे हैं । गुरु परम्परा से (प्राणदण्ड जो सौषुम्न नाडी पथ से ऊर्ध्व द्वादशान्त तक जाता है) इसकी सूचना इसी मुद्रा से साधकों को होती है ॥१४॥

दक्षं चोधोमुखं कृत्वा त्वङ्गुष्ठं च कनिष्ठिकाम् ।
उभयोरपि सङ्घृष्य वज्रमुद्रां प्रदर्शयेत् ।।१५।।

उत्तानमिति विरलं प्रसारिततर्जनीमध्यानामिकं दक्षं च तादृशमेव तदुपरि पराङ्मुखं न्यस्तमुभयोः परस्परमङ्गुष्ठकनिष्ठिकाबन्धनेन

पार्श्वकृतकूर्परविन्यासेन पार्श्वसन्निविष्टतामस्याः सूचयति । वीर्यं च तत्रैव दर्शितम्–

'इच्छादिकनिजशक्तिप्रकाशिताधःस्थगोचरत्रितयाम् ।
स्वामेव परां शक्तिं वज्रमयीं वहसि षडरां त्वम्' ।। इति ।

गुरवोऽपि–

'वज्रमुद्रा बन्धकर्त्री सुस्थितिः स्वस्तिकायते' । इति ।।१५।।

डमरुं मुष्टिबन्धेन दक्षहस्तस्य सुव्रते ।
सुषिरेण समायुक्तं दर्शयेत्तु वरानने ।।१६।।

तत्त्वमस्याः प्रदर्शितमेव ।।१६।।

मुद्गरं तु प्रवक्ष्यामि हस्तौ द्वौ संप्रसारयेत् ।
मुद्गरः कथितो ह्येष

संप्रसारयेदिति सम्मुखौ प्रसारयेत् परस्परसंलग्नाविति अर्थात् । अस्या अपि परशुमुद्रया सह तत्रैव तत्त्वं दर्शितम्–

वज्र मुद्रा–

वामहस्त को अघोमुखकर उत्तान करे । दक्ष हस्त को नीचे की ओर करके दक्ष अंगुष्ठ और कनिष्ठा से वाम अंगुष्ठ और कनिष्ठा को आक्रान्त करे । शेष तीनों को बायें हाथ की तीनों पर रखने से वज्र मुद्रा बनती है । सूक्ष्म इच्छादि त्रितय को स्थूल रूप में जगत् में षडर मुद्रा रूप वज्र मुद्रा में हे माँ ! तुम्हीं व्यक्त हो रही है । यह मुद्रा बन्धकर्त्री और स्वस्तिविधात्री भी है ।।१५।।

डमरु मुद्रा–

दाहिने हाथ की छिद्रयुक्त मुठ्ठी का प्रदर्शन ही डमरु मुद्रा है ।।१६।।

मुद्गर मुद्रा–

सामने दोनों हाथों को फैलाये । दोनों हाथ परस्पर संलग्न रहें । इसका और परशु मुद्रा का अपने स्तोत्र में साथ वर्णन के पीछे आध्यात्मिक रहस्य है । वे कहते हैं कि, मुद्गर और परशु मुद्राओं को धारण करने से बैन्दव और नाद कलाओं के परामर्श से भेद विभेद उभय के भेदन में दक्ष है । यही रहस्य ईशान द्वारा व्यक्त किया जा रहा है ।

'मुद्गरपरशू बिभ्रद्वैन्दवनादानुकाररूपौ त्वम् ।
भेदविभेदनशकलनपरत्वमीशान निर्दिशसि' ॥ इति ।

गुरवोऽपि–

'गाढग्रन्थिगणास्फोटो मुद्गरेण प्रवर्तते' । इति ।

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मुद्गरमुद्रा त्रिशिखा दर्शिता । तथा च–

'करावूर्ध्वमुखौ कार्यावन्योन्यान्तरिताङ्गुली ।
अनामे मध्यपृष्ठस्थे तर्जन्यौ मूलपर्वतः ॥
मध्ये द्वे तु युते कार्ये कनिष्ठे पुरुषावधि ।
तर्जन्यौ मध्यपार्श्वस्थे विरले परिकल्पिते ॥
मुद्गरस्त्रिशिखो ह्येष क्षणादेवोपकारकः' ॥ इति ॥ (७।२७)

अथ–

वल्लकीं च निबोध मे ।।१७।।

वल्लकीं वीणाम् ॥१७॥

हस्तौ प्रसारयेद्देवि उत्तानौ तु समाहितः ।
अनामे कुञ्चयित्वा तु वीणामुद्रा प्रकीर्तिता ।।१८।।

कुब्जा वीणाविषया । एषा वामपार्श्वे प्रदर्शनीया । अस्याः सतत्त्वं दर्शितमेव ॥१८॥

गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान के अनुसार मुद्गर मुद्रा गाढ ग्रन्थियों में भेद पैदा कर उनका विनाश कर देती है ।

श्री पूर्वशास्त्र में इस मुद्रा को त्रिशिख कहा गया है । उसके अनुसार दोनों हाथों को ऊपर दोनों हाथों की अंगुलियों का संग्रथन करे । पुनः दोनों हथेलियों की पीठ पर दोनों अनामिकाओं को सटा दें । दोनों तर्जनियों को अंगूठे की जड़ में सटा कर दो गोलक बना लें । मध्यमाओं को ऊपर उठा लें । यह त्रिशिख मुद्गर मुद्रा का रूप है । यह क्षण में अपने उपासक को परमात्मा का आवेश प्रदान करती है और अत्यन्त उपकार करती है ॥ मा०वि० ७।२७-२९॥१७॥

वल्लकी मुद्रा–

दोनों हाथों को उत्तान प्रसारित करें । अनामिका द्वय का आकुञ्चन करें । उन्हें अंगूठों से आक्रान्त करें । इसे बल्लकी या वीणा मुद्रा कहते हैं । यह वाम पार्श्व में प्रदर्शनीय मुद्रा मानी जाती है ॥१८॥

प्रसारयेदङ्गुलीस्तु कनिष्ठानाममध्यमाः ।

अङ्गुष्ठेनाक्रमेदाद्यां परशुः समुदाहृतः ।।१९।।

स्वपराङ्मुखेन दक्षहस्तेन स्कन्धदेशे प्रदर्शनीयोऽयम् । तत्त्वमस्याः पूर्वमेव दर्शितम् । एताश्च मुद्रा गुप्ताः प्रदर्शनीयाः, अगुप्ते तु आयतनादौ वस्त्राच्छादिताः, अथवा स्मर्तव्या एवेति गुरवः । केचिदत्र परशुमुद्रास्थाने–

'भ्रामयेदङ्गुले द्वे तु चक्रं दुष्टनिकृन्तनम्' ।

इति पठन्ति । अन्यैस्तु एतत्प्रसङ्गात् शङ्खपद्ममुद्रालक्षणमपि क्षिप्तम्, अपरैस्तु परशुलक्षणम्–

'राजावर्तनिभो देवि मुद्गरः परशुस्तथा' ।

इति एतदनन्तरं पठितम् । तत् सर्वमुपक्रमोपसंहाराननुरूपत्वादुपेक्ष्यम् । एवं च प्रायशो ग्रन्थान्तरप्रक्षेपो ग्रन्थविपर्यासः पाठविपर्यासश्च अस्य ग्रन्थस्य दुर्मेधोभिः परिकल्पितः शतशाखो दृश्यते । सोऽस्माभिः पुरातनपुस्तकान्वेषणतो यावद्गति अपसारित इति आस्तामेतत् ।।१९।।

एतदुपसंहरन्प्रकृते योजयति–

एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।

आवाहने निरोधे च तथा चैव विसर्जने ।।२०।।

परशु मुद्रा–

हाथों की कनिष्ठा, अनामा और मध्यमा अंगुलियों को प्रसारित करें । अंगूठे से कनिष्ठा को आक्रान्त करें । इसे परशु मुद्रा कहते हैं । दक्षहस्त से स्कन्ध देश पर प्रदर्शनीय है । ये रहस्य मुद्रायें हैं । इन्हें छिपाकर प्रयोग में लाना चाहिये । कुछ विद्वान् मानते हैं कि, इस मुद्रा के स्थान पर दो अंगुलियों का चक्र घुमाना चाहिये ।

कुछ लोग यहाँ शंख, पद्म आदि का भी प्रक्षेप करते हैं । कुछ कहते हैं कि परशु राजा वर्त्त के समान होता है । आचार्य क्षेम इसे उपेक्ष्य मानते हैं । श्री क्षेमराज ने इस ग्रन्थ में प्रक्षेप को स्वीकार कर इसे शतशास्त्र तक की संज्ञा दी है । प्रक्षेपकों को दुर्मेध भी कहा है । बहुत अंशों तक श्री क्षेमराज ने इसे सुधार कर यह रूप दिया ।

मैंने तो पूरे तेरहवें पटल को ही प्रक्षेप कहा है, क्योंकि कोई मेधावी साधक ऐसे निकृष्ट काम्य कर्म करने की प्रेरणा किसी को नहीं दे सकता ।।१९।।

एता इत्युपसंहारात् कः परशुमुद्रायाः परो ग्रन्थेऽवसरो भैरवस्य उक्तः, कश्चक्रपद्मादिमुद्राणामवकाशो ध्यानग्रन्थे तेषामनुद्देशादिति यथापठितमेव साधु । आवाहनेत्यादिना–

'मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि' ॥ (२।१०२)

इति पूर्वोक्तमेव निर्वाहितम् ॥२०॥

अथ ये वक्त्राङ्गभैरवाद्या आवरणस्थाः, तेषां साधारणं मुद्राबन्धं प्रदर्शयति–

कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत् ।

सर्वेषां ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारसारत्वाद् मुद्राणां सन्निवेशमुक्त्वा यथौचित्यमासां मानसं रूपमाह–

कपालं धवलं ज्ञेयं खट्वाङ्गं च तथैव हि ॥२१॥
त्रिशूलं चैव नाराचं खड्गो नीलोत्पलप्रभः ।
स्फरं रक्तं पिनाकं च कृष्णं संपरिकीर्तितम् ॥२२॥
घण्टा हेमप्रभा ज्ञेयाङ्कुशो मरकतप्रभः ।
पाशो भिन्नाञ्जननिभः स्फटिकाभोऽभयः स्मृतः ॥२३॥
वरश्चित्तप्रसादेन ध्यातव्यो वरवर्णिनि ।
डमरुं हेमसङ्काशं वीणां चैतत्समप्रभाम् ॥२४॥

भगवान् कहते हैं कि, महादेवि ! ये मुद्रायें भैरव से समक्ष प्रदर्शित की जानी चाहिये । आवाहन, निरोधन और विसर्जन में इनका अवश्य प्रयोग करना चाहिये ॥२०॥

आवरण में अवस्थित वक्त्राङ्ग भैरव आदि के लिये कपाल और खट्वाङ्ग मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये । ये अनुक्त देव हैं । इनके लिये सामान्य मुद्राओं का प्रदर्शन ही पर्याप्त माना जाता है ।

ये मुद्रायें ज्ञान और क्रिया शक्तियों के स्फार की सार रहस्य रूपा मानी जाती है । इनका कहाँ सन्निवेश होना चाहिये यह स्पष्ट करने के बाद उनके उचित मानस वर्ण–रूपों की जानकारी भगवान् स्वयं दे रहे हैं–

१–**कपाल** और **खट्वाङ्ग** इन दोनों का वर्ण धवल होता है ।

२–**त्रिशूल** और **नाराच** इन दोनों मुद्राओं के वर्ण नील उत्पल के समान हैं ।

३–**स्फार** रक्त, **पिनाक** कृष्ण परिकीर्त्तित हैं ।

४–**घण्टा** हेमवर्ण से सुशोभित है । **अङ्कुश** मरकतप्रभ है ।

दण्डं रक्तं विजानीयाद्वज्रं पीतं विचिन्तयेत् ।

राजावर्तनिभो देवि मुद्गरः परशुस्तथा ।।२५।।

चित्तप्रसादेनेति प्रसादश्चित्ततुलयोऽनुपाधिसंवित्प्रकाशरूप इति यावत् ॥२५॥

उपसंहरति–

मुद्रापीठं समाख्यातं चतुर्वर्गफलोदयम् ।

न केवलं पूर्वनिर्दिष्टनीत्या इदं तन्त्रं विद्यामन्त्रमण्डलपीठरूपं यावदिह मुद्राश्रयतया मुद्रापीठरूपमपि चतुर्वर्गस्य समय्यादिचतुष्टयस्य रक्षासन्निधितत्त्वानुप्रवेशहेतुत्वात् फलोदयो यतः । एतत्–

'चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुर्वर्गफलोदयम्' । (१।५)

इत्यस्य ग्रन्थस्य निगमनरूपम् ।

एवं मुद्राणां कायीयं मानसं च रूपमुक्त्वा, वाचिकमपि आह–

प्रणवासनमारूढा ओंकाराद्या वरानने ।।२६।।

स्वनामकृतविन्यासा नमस्कारावसानिकाः ।

भगवच्छक्तिरूपाणां मुद्राणां स्वरूपं विमृशेत् ।

एवं सन्निवेशबन्धध्यानमन्त्रपरामर्शस्फुटीकृता एता विघ्नत्राणभगवत्स्वरूपसन्निधानतदनुप्रवेशनादिरूपाणि–

साधयन्ति महादेवि फलानि विविधानि तु ।।२७।।

५–**पाश** मुद्रा एकदम काली और **अभय** स्फटिक प्रभा है ।

६–**वर** मुद्रा चित्त में प्रसाद उत्पन्न करती है ।

७–**डमरु** स्वर्णवर्णी मुद्रा है । **वीणा** भी इसी वर्ण की है ।

८–**दण्ड** मुद्रा लाल है । **वज्र** मुद्रा पीली है ।

९–**मुद्गर** व **परशु** राजावर्त्त के समान मुद्रायें हैं ।

चित्त प्रसाद–अनुपाधि संवित्प्रकाश गुण है ॥२१-२५॥

यह मुद्रा पीठ है । इससे चतुर्वर्ग फलोदय होता है । समयी साधक (लोकधर्मी शिवधर्मी) और पुत्रक आचार्य (गुरु आदि) सबको समान फल प्रदान ये मुद्रायें करती हैं । मुद्रायें एक पीठ के रूप में स्वीकृत हैं–

मुद्रा, मण्डल, मन्त्र और विद्या ये चार पीठ हैं । इसी आधार पर शिवोक्त संहिता चतुष्पीठा मानी जाती हैं । इसी ग्रन्थ के प्रथम पटल के श्लोक पाँच द्वारा इस स्वच्छन्द संहिता के विषय में कहा गया है कि, यह महातन्त्र चतुष्पीठ चतुष्टय फलोदय है । यह चतुष्टय, समयी–साधक, पुत्रक और गुरु रूप ही है ।

देव्या महत्पदेन विशेषणेन मुद्रावीर्यज्ञतां प्रकाशयन्मुद्राणां वीर्यमेव सारभूतमिति शिक्षयति ॥२७॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरति–

निर्विघ्नकरणं ख्यातं मुद्राणां लक्षणं प्रिये ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन साधितव्यं महात्मना ॥२८॥

यद्यपि भगवत्सन्निधानतदनुप्रवेशादौ विघ्नव्युदासार्थं समय्यादिभिरपि एतद् मुद्रालक्षणं ज्ञातव्यम्, तथापि साधकेन विशेषतो ज्ञातव्यं मुद्राबन्धरक्षितस्यैव अस्य साध्यसिद्धेः । यथोक्तं पूर्वशास्त्रे–

'याभिस्तु रक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्' ॥ (७।१)

इति शिवम् ॥२८॥

इस तरह मुद्राओं के कायीय और मानस रूप की चर्चा करने के बाद वाचिक स्वरूप की चर्चा कर रहे हैं । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि,

ये सभी मुद्रायें प्रणव के आसन पर विराजमान हैं । इसीलिये इन्हें ओंकारादि मानते हैं । अपने नाम के अनुरूप भगवदायुधानुकाररूपा ये मुद्रायें अपनी आकृति रूप से शरीरावयवों विशेषतः कराङ्गुलियों से विन्यस्त होती हैं । ये पूजा की अन्तिम प्रणाम रूप भी मानी जाती हैं । इस तरह ये सन्निवेश, बन्ध ध्यान और मान्त्रिक परामर्शों द्वारा स्फुट रूप से व्यक्त हैं । ये विघ्नों से रक्षा करती हैं । भगवत्स्वरूप का सन्निधान कराती हैं । साथ ही भगवत्सत्ता में अनुप्रवेश की उपाय भी बनती हैं । इस तरह विविध फलों का साधन करती हैं । इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है और देवी के साथ महाशब्द के विशेषण से भी यह सिद्ध हो जाता है कि, विश्वाराध्या से कही गयीं ये बातें अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं । इन मुद्राओं में भरे हुए सामर्थ्य का ज्ञान बताते हुए भगवान् विश्व को यह शिक्षा दे रहे हैं कि, मुद्राओं के महत्त्व को नित्य विमृष्ट करना चाहिये ॥२६-२७॥

भगवान् पटल के अन्त में उमा को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! ये मुद्राओं के लक्षण हैं । इनसे विघ्नों का विनाश होता है । महात्मा साधकों का यह कर्त्तव्य है कि, इन्हें जानें, प्रयोग करें और अनन्त शुभ फलों की प्राप्ति करें ।

यद्यपि भगवत्संन्निधान और तदनुप्रवेश की पावन प्रक्रिया में विघ्नों के विनाश के लिये समयी आदिकों को भी इनके लक्षणों से परिचित होना चाहिये । फिर भी साधकों को तो विशेष रूप से जानना चाहिये । मुद्राबन्ध से

स्वावष्टम्भवशोन्मिषन्निजमहामन्त्रावमर्शस्फुरत्-
स्वच्छन्दस्फुरणामयाः परतरस्फारामृतस्यन्दिनः ।
उद्यन्त्येव तनावकृत्रिमतया द्रागेव मुद्राक्रमा
यस्य त्रोटति पाशकुञ्जरभरः पायात्स एकः शिवः ॥

।। इति स्वच्छन्दोद्द्योते मुद्राप्रकाशः

चतुर्दशः पटलः ।।१४।।

रक्षित साधक के साध्य की सिद्धि इनसे सरल हो जाती है । श्री पूर्व शास्त्र ७।१ में यह लिखा गया है कि, 'इन मुद्राओं से रक्षित मन्त्र प्रयोक्ता मन्त्रों की यथा शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर लेता है' । इति शिवम् ।

उद्योतकार पद्यानुवाद–

स्वात्म के सहारा शिव, इनसे ही उन्मिषित,
सभी महनीय मन्त्र, साधना के संविधान ।
स्वच्छ स्वच्छन्द से ही संस्फुरित विश्वोल्लास-
अमृत आनन्द निष्यन्द–अवदान
काया में, मन में और वाणी में निष्पन्न
मुद्रा क्रम कलना के अकृत्रिम वरदान
मिलते ही भग्न होते आवरण अकारण सब
रक्षक रह जाते शिव अन्तर में यजमान ।

स्वात्म निवेदन–

मुद्रयोन्मुद्रिताः सर्वे पाशाः आवरण-प्रदाः ।
साधना निरतो हंसः शिवं समनुप्राविशत् ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र

का

महामाहेश्वर श्रीक्षेमराजकृतोद्योत विवरणोपेत

डॉ० परमहंसमिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य-समन्वित

मुद्राप्रकाश नामक चौदहवाँ पटल परिपूर्ण

शुभं भूयात्

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्योताख्यविवरणोपेतम्

अथ पञ्चदशः पटलः

....।

...........स्वात्मविश्रान्तेः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

अथ समयिमध्ये समयिनां तान्त्रिकव्यवहारगोपनेन निर्विघ्नसिद्धिसम्पत्त्यर्थं प्राक्प्रमेयशेषतया पटलमारभमाणश्छुम्मकाशर्मपर्यायपारिभाषिकसंज्ञाभिर्लोकोत्तर-व्यवहारप्रवर्त्तनेन गूढतया शास्त्रस्य अस्य रहस्यतां दर्शयितुं श्रीभैरव उवाच-

जपध्यानादियुक्तस्य चर्याव्रतधरस्य च ।
छुम्मकाः संप्रवक्ष्यामि साधकस्य वरानने ।।१।।

श्री स्वच्छन्दतन्त्रम्

अथ पञ्चदशः पटलः

(१५)

विश्वाराध्य वरेण्य विभु, विश्वोल्लास-विभास ।
स्वजनात्मा-विश्रान्ति जय जय स्वच्छन्द विलास ॥

यह वह पटल है, जहाँ भगवान् भैरव भट्टारक देवी के प्रश्नों का उत्तर देकर विश्रान्ति की मुद्रा अपनाना चाहते हैं । उनकी समाधि का समय आ रहा है । यहाँ तक के पटल क्रम में समयाचार रत समयी शिष्यों को तान्त्रिक व्यवहारवाद से अवगत कराया । कुछ ऐसे भी तथ्य हैं । जिनका गोपन भी रहस्यगुह्य बनकर रह गया । शिष्यों पर अनुग्रह का स्वभाव विश्वाराध्य शिव में है । उनकी सिद्धिरूपा संपत्ति को सुसम्पन्न करने के उद्देश्य से प्रमेयों को उन्होंने माध्यम बनाया और पटलों को अवतरण किया ।

इस पटली में एक नयी पारिभाषिकता से भूषित शब्द का प्रयोग कर इसका विस्तार पूर्ण विवरण श्री स्वच्छन्द भैरव भट्टारक देना चाहते हैं । यह शब्द है- छुम्मका । यह शारीरिक भाषा का शब्द है । भगवत् सम्प्रदाय में अनुप्रविष्ट समयी शिष्यों के चिन्तन की सरणी का यह पर्याय है ।

छुम्मका तत्समयानुप्रविष्टसञ्चित्या पारिभाषिकी संज्ञा । साधकस्येति प्राचुर्याश्रयेण ।

तत्र–

भैरवस्तु स्मृतो धाम सर्वदस्तु गुरुः स्मृतः ।
साधकस्तु गिरिर्ज्ञेयः पुत्रको विमलः स्मृतः ।।२।।

आराध्यदेवतायाः परमोपादेयत्वात् तदुपक्रमा इयमुक्तिः । धामेति सूर्यसोमवह्नितेजसामपि प्रकाशकत्वाद् विश्वविश्रान्तिस्थानकत्वाच्च धाम । सर्वद इति स्वात्मनि परिपूर्णतया निराकाङ्क्षस्य गुरोः परार्थैकप्रयोजनत्वात् । गिरिरिति अप्रकम्प्यत्वादाराधनैकतत्परः । विमल इति सर्वस्य आन्तरभूमेः संशोधनाद् विगतमलः । स्मृत इति अविच्छेदेन पारम्पर्येण । एवमुत्तरत्र ।।२।।

यह जप और ध्यान आदि में युक्त रहने वाले, चर्या व्रत के धारण करने वाले शिष्यों और साधकों के लोकोत्तर व्यवहार का प्रवर्त्तक और इस गूढ शास्त्र की गुह्यरहस्य भावना को स्फूर्त्त करने वाला छुम्मका विधान है । साधक प्रचुरता से इसका आश्रय लेते हैं । उसे ही भगवान् कहेंगे । इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है ।।१।।

'भैरव' साधकों का परम धाम है । इन शास्त्रों में **'गुरु'** सर्वप्रद माना जाता है । साधक को **'गिरि'** कहते है । **'पुत्रक'** विमल (मलरहित निर्मल साधक) माना जाता है ।

भैरव इस सम्प्रदाय के आराध्य देव है । वही परमोपादेय आराधना के आधार है । यह उक्ति उन्हीं की सत्ता का उपक्रम प्रस्तुत करने में चरितार्थ है ।

वे ही आराधकों के परम धाम हैं । सूर्य, सोम और अक्षि के तैजस तत्त्व के भी प्रकाशक और विश्व विश्रान्ति के स्थान हैं । इसीलिये उन्हें धाम कहते हैं ।

वे सर्वद हैं । गुरु स्वात्म में पूर्णतया निराकाङ्क्ष होता है । परार्थ के प्रयोजक होने के कारण सब कुछ प्रदान करने में समर्थ हैं ।

साधक गिरि होता है । पर्वत सर्वथा अप्रकम्प्य होता है और अनवरत आराधना में पर्वत की तरह स्थिर रहता है । अतः गिरि है ।

साधक की आन्तर भूमि अध्वशोधन की प्रक्रिया से निर्मल हो चुकी होती है । इसीलिये उसे विमल कहते हैं ।।२।।

समयी कान्तदेहस्तु भगिन्यो बलदर्पिताः ।

कान्तदेह इति कान्तः शुद्धविद्यानुप्रवेशेन दीप्तिमान्देहो यस्य । मन्त्रसिद्धिफलेन याः सञ्जातदर्पा भगिन्य इव मन्त्राराधननिष्ठानामिति तथोक्ताः ।

सर्वेषामेषां यागोपयोगिद्रव्यविशेषविषयां छुम्मकामाह–

मद्यं तु हर्षणं ज्ञेयं

हर्षयतीति कृत्वा ।

मुदिता तु सुरा स्मृता ।।३।।

मुदितेति मुदितं हर्षरस्तद्धेतुत्वात् ।।३।।

तथा–

मत्स्या जलचरा ज्ञेयाः

जलचरजातेः श्रीचर्याकुलनिरूपितनीत्या चरुभोजनतो दीक्षितत्वाद् भैरवयागे परमोपादेयत्वमित्येवं छुम्मकया निर्देशः ।

मांसं च बलवर्धनम् ।

मांसेन असाधारणचमत्कारहेतुना रसादिधातुषट्कपरिपुष्टिक्रमात् बलस्य वीर्यस्य वर्धनात्–

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्' । (७२)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकनिरूपितनीत्या योगिनं प्रति बलस्य स्पन्दात्मनः शाक्तवीर्यस्य विवर्धनादुत्तेजनादेवमभिधानम् । गोवलीवर्दन्यायेन च मत्स्याद् मांसं व्यतिरिक्तमुच्यते ।

समयी कान्त देह होता है । शुद्धविद्या में अनुप्रवेश के कारण उसके शरीर की दीप्ति में दिव्यता आ जाती है । इसी तरह साधिका भगिनियाँ मन्त्राराधन में निष्ठ होने के कारण बलदर्पित होती हैं ।

सबसे उत्तम छुम्मका **मद्य** होती है । इसके सेवन से मानसिक प्रसन्नता बनी रहती है । इसी तरह **सुरा** मोद प्रदान करने से मुदिता मानी जाती है ।।३।।

मत्स्य जलचर होते हैं । चर्या में यह स्वीकृत है । भैरवयाग में परमोपादेय है । इसी तरह **मांस** बल बढ़ाने वाला अखाद्य खाद्य है । इससे असाधारण चमत्कार होता है । छः धातुओं को पुष्ट करता है ।

श्री विज्ञान भैरव में कहा गया है कि, भोजन पान से शारीरिक उल्लास, शाक्तवीर्य की वृद्धि और आनन्द रस का विजृम्भण होता है । गोवलीवर्द न्यायानुसार मत्स्य से मांस भिन्न है ।

जातं प्ररूढमित्याहुर्मृतं चैव पराङ्मुखम् ।।४।।

देहप्राणादिबन्धसाम्मुख्यादपवृत्तमित्याहुः पारम्पर्यनिष्ठाः ।।४।।

रक्तं त्वमृतमित्याहुः पद्मनालोऽन्त्रसञ्चयः ।
शुक्रं चन्द्रः समाख्यातः स्नायुः सूत्रं प्रकीर्तितम् ।।५।।

तत्तद्रहस्ययागविशेषोपयोगिनां रक्तहृत्पद्मान्त्रशुक्रस्नायूनाममृतं पद्मनालश्चन्द्रः सूत्रमिति गुप्तानि सङ्केतनामानि परमाप्यायहेतुत्वात् कर्णिकादलादियुक्तत्वादस्थूल-दीर्घरूपत्वात् सितत्वाह्लादकत्वयोगात् तत्तदुपह्रियमाणवस्तुग्रथनहेतुत्वाच्चेति एतेऽत्र हेतवः क्रमेण योज्याः । पद्ममित्यत्र आवृत्त्या द्विः पद्मशब्दः स्थितः, तेन हृत् पद्ममित्येवमभिधातव्यमित्यर्थः ।।५।।

किञ्च वीरचर्यास्थानम्–

श्मशानं डामरं ज्ञेयं

समस्तशङ्कातङ्कत्रोटकत्वेन उड्डामरत्वाद् डामरम् ।

तत्रत्येऽपि क्वचित्कर्मणि सहचरतया उपयुक्तः–

राक्षसस्तु भयङ्करः ।

पिशाचो रोमजननः

अधीराणां मितहृदयत्रासप्रदत्वात् भयेन रोमोर्ध्वसरणाच्च । क्वचिद् रहस्या-चारे उपयुज्यमाना–

रुहा ज्ञेया रजस्वला ।।६।।

उत्पन्न प्ररूढ है । देह प्राणादि का बन्ध इसमें मुख्य है । मृत पराङ्मुख माना जाता है ।।४।।

रक्त को अमृत कहते हैं । **पद्मनाल** आँतों के जाल को कहते हैं । **शुक्र** ही चन्द्र है । **स्नायु** ही सूत्र है । ये गुप्त संकेत नाम हैं । ये परम आप्यायक हैं । रक्त, हृदयपद्म, शुक्र और स्नायु अमृत रूप हैं । ये सित हैं और आह्लादक हैं ।।५।।

वीरचर्या का स्थान **श्मशान** होता है । इसे तन्त्र की भाषा में डामर कहते हैं । यह समस्त शङ्काओं के आतङ्क का मोदक है । उड्डामर है । **राक्षस** भयङ्कर कहलाता है । **पिशाच** को रोमजनन कहते हैं । त्रासप्रद और रोमाञ्चकारी होने के कारण इसे **रोमजनन** कहते हैं । **रुहा रजस्वला** होती है । वरिचर्या में यह रोहित रहती है । अतएव रुहा है ।।६।।

रोहतीति रुहा वीरचर्याया आश्रयभूता ।

रात्रिं वै च्छादिकां विद्धि

छादयति पशूनामदर्शनपथं प्रापयति वीराचारमिति च्छादिका ।

यत्र तु रहस्यवीराचारो दर्शनीयो न भवति, तत्–

प्रकाशश्च दिनं भवेत् ।

प्रकटत्वात् प्रकाश इत्युच्यत इत्यर्थः ।

अथ नेत्रजिह्वादौ कर्मविशेषोपयोगिनि शरीरावयवे पारिभाषिकं सङ्केतं करोति–

नयने चञ्चले ज्ञेये जिह्वां सङ्ग्राहिकां विदुः ।।७।।

लम्बिकादिरसङ्ग्राहित्वात् ।।७।।

तथा–

करौ धनकरौ ज्ञेयौ पादौ सहचरौ विदुः ।

परमेश्वरताप्राप्तिहेतुपूजानिधानकर्तृत्वादेकैकस्य गमनाद्यनुपपत्तेश्च । किञ्च–

लिङ्गं सन्तोषजननं भगः प्रीतिविवर्धनः ।।८।।

स्पष्टार्थसंज्ञे ।।८।।

क्वचिद् वीरपाशच्छेदादावुपयुज्यमानम्–

शस्त्रं विभागजननं

तथा–

कर्तरी कार्यसाधिका ।

पशुओं (पाशबद्धों) को अदर्शन पथ पर ले जाने के कारण और छादिका होने के कारण इसे **छादिका** कहते हैं । रहस्य दर्शन का आच्छादन इसमें होता है । **प्रकाश** को दिन कहते हैं । प्रकट होने के कारण ही इसे प्रकाश कहते है ।

नेत्र और जीभ से दोनों के कर्म विशेष में उपयोग होते हैं । शरीर के ये विशेष अवयव हैं । इनके परिभाषिक सङ्केत **नयन** अर्थात् **'चञ्चल'** और **जीभ 'संग्राहिका'** कही जाती है । लम्बिकाऽऽदि रस का ग्रहण करती है । अतः संग्राहिका है ।।७।।

हाथ धनकर और पैर सहचर हैं क्योंकि हाथ से परमेश्वर की पूजा का अवसर रूपी धन मिलता है और पैर तीर्थादि यात्रा के सहायक हैं । **लिङ्ग संतोषजनन** और भग **प्रीतिविवर्धन** होते हैं ।।८।।

शस्त्र विभाजनकारक हैं । **कत्तरी 'कार्यसाधिका'** होती है । 'दूती' को **'संवाहिका'** कहते हैं । वीर के रहस्याचार की वाहक होने से ही संवाहिका कहते हैं ।

कार्यं पाशसूत्रादिकर्तनं साधयतीति । तथा–

दूती संवाहिका ज्ञेया

समं सह वाहयति निर्वाहयति वीरस्य रहस्याचारमिति संवाहिका दूती भार्या उच्यते, अथ दूती घण्टा सममान्तरध्वनिना वाहयति प्रापयति बाह्यमिति कृत्वा संवाहिका । तथा–

धूपो ह्लादन उच्यते ।।९।।

गन्धः सन्तोषजननः

गन्ध इति समालम्भनद्रव्यम् । छुम्मके एते स्पष्टार्थे ।

राजानो धारकाः स्मृताः ।

ये धारकाः पिष्टादिमया दीपाधारास्ते राजन्ते दीप्यन्त इति कृत्वा राजान उक्ताः, अन्ये तु ये राजानो भूमिपालास्ते धारयन्ति पूजा इति कृत्वा धारका इति व्याख्यावन्तः ।

पशुर्विबोधको ज्ञेयः

यः पशुर्देवताभ्य उपहारीक्रियते, स वसासृगाद्याहारक्रमेण विबोधयति तास्ताः संविद्देवता इति विबोधकः ।

यस्तु देवताभिः साधितो विशिष्टः कश्चित् चरुकः, सः–

चरुकः सार्वकामिकः ।।१०।।

सर्वान् कामान् समवाप्नोतीति कृत्वा ।।१०।।

अन्नं साधनमित्युक्तं

यत्पुनरन्नं तत् साधनमिति उक्तम् ।

वसा मण्डमिहोच्यते ।

सर्वजनसाधारणत्वाद् मण्डमिव मण्डमाचामः ।

दूती को भार्या भी कहते है । आन्तर ध्वनि से घंटावत् बाह्य वहन भी करती है । अतः उभयथा संवाहिका होती है । **धूप ह्लादन** होता है ।।९।।

गन्ध सन्तोषजनन होता है । समालम्भन द्रव्य को गन्ध कहते हैं । राजा **धारक** होते हैं । ये दो प्रकार के होते हैं । १–पिष्टादि से बनाये गये **दीपाधार** और भूमिपाल भी पूजा धारण करने से **दीपाधार** हैं । देवताओं के लिये बलि के पशु **विबोधक** माने जाते हैं । चरु सभी कामों को सिद्ध करता है । अतः **'सार्व-कामिक'** माना जाता है ।।१०।।

अन्य **'साधन'** वसा **मण्ड** और श्रवण दिशाओं के मुख होते हैं । दिग्देवता

अथ–

दिशां मुखं तु श्रवणं

श्रवणं श्रोत्रं दिग्देवताधिष्ठितत्वाद् मुखमिति उच्यते ।

त्वक् च संवेदनी स्मृता ।।११।।

संवेद्यते अनया स्पृश्यं वस्तु इति कृत्वा ।

घ्राणं सुस्थितमित्युक्तं

सुगन्धिद्रव्याघ्राणक्रमेण सुखेन स्थितं स्थानं संविदो यस्मिन्निति कृत्वा ।

मुखं तु प्रविचारकम् ।

मुखमिति उपहार्यपशुशिरः प्रविचार्यते चक्षुरादिद्वारेण रूपादिवस्तु येनेति कृत्वा प्रविचारकमुच्यते ।

पशुः प्रचारो विज्ञेयः

प्रचारस्य विश्वेन्धनक्षारविमोकस्य हेतुत्वात् प्रचारः ।

एवं पश्वङ्गविषयां छुम्मकामुक्त्वा अन्या अपि आह–

माता धात्रीति कथ्यते ।।१२।।

पितरं सृष्टिकर्तारं भ्रातरं पालकं विदुः ।

भगिनी शुभकरी ज्ञेया सखी सर्वार्थसाधिका ।।१३।।

मित्रं गुणानां जननं गुणनाशं रिपुं विदुः ।

स्पष्टम् । पुनः शरीरावयवेषु च्छुम्मकाः प्राह–

छित् स्फिजौ कीर्तितो देवि

छिनत्ति द्विधा प्रकाशयति अधःकायसंस्थानमिति च्छित् ।

दृष्टिश्चक्षुः प्रकीर्तितम् ।।१४।।

दृष्टिर्दर्शनव्यापारः । चष्टे व्यनक्ति रूपमिति चक्षुः ॥१४॥

से अधिष्ठित दिशाओं के मुख हैं । त्वचा **'संवेदनी'** होती है । स्पृस्य वस्तु का संवेदन त्वचा से ही होता है ॥११॥

घ्राण को **सुस्थित** कहते हैं । संवित्तिका सुख पूर्वक स्थित स्थान ही घ्राण है । सुख प्रविचारक है । इससे उपहार्य पशु का शिर, उसकी आँख आदि के द्वारा प्रविचारित होता है । अतः **प्रविचारक** है । पशु को **प्रचार** कहते हैं । विश्वेन्धन क्षार विमोचन हेतु होने से प्रचार है । और माता को धात्री कहते हैं ॥१२॥

पिता सृष्टिकर्त्ता, माता पालक, भगिनी शुभकरी, सखी सर्वार्थसाधिका होती है ॥१३॥

मित्र गुणजनक, शत्रु, गुणनाश स्फिजों को च्छित् कहते हैं । दृष्टि ही चक्षु है ॥१४॥

दशनाः खण्डका ज्ञेयाः

खण्डयन्तीति कृत्वा ।

आधार उदरं स्मृतम् ।

उदरं यत्तदशितादेरासमन्ताद् धारणादाधारः ।

हृदयं गुह्यमित्युक्तं

हृत्स्थानं गुह्यात्माश्रयत्वाद् गुह्यम् । यत्तु गुह्यम्, तत् प्रीतिविवर्धनमिति पूर्वमेव उक्तम् ।

कठिनं त्वस्थि विद्धि हि ।।१५।।

मेदो वसां विजानीयात्

अस्थि कठिनमित्युच्यते । यत्तु मेदः, तद् मेदयतीति कृत्वा वसा ।

मज्जा पुष्टिकरः स्मृतः ।

मज्जाख्यस्य धातुविशेषस्य पुष्टिहेतुत्वात्पुष्टिकर इति उक्तः ।

विष्ठां विदूषिकां विद्धि

विदूषयति विकृतां शारीरीं स्थितिं सम्पादयतीति कृत्वा ।

मूत्रं स्राव इहोच्यते ।।१६।।

स्रवणं स्रावः ॥१६॥

कालेयकं तु कुसुमं

कालेयकं कृष्णपद्मम् । तत् कुसुममिव कुसुममिति चमत्कृतिकारित्वेन देवतात्महेतुत्वात् ।

धूमं धृतिकरं विदुः ।

श्मशानोत्थितोऽत्र धूमो विवक्षितः । स च देवतानां प्रियत्वाद् धृतिकर इति उक्तः ।

मेलकं चैव सङ्घातः

देवतानां सम्बन्धि यद् मेलकं मेलनम्, तत् सङ्घात इति उच्यते । एतन्मेल-कोपदेशेन यो देवानाम्–

पुत्रः सोद्द्योतकः स्मृतः ।।१७।।

दशन खण्डक, उदर आधार (अशित को धारण करता है) है । हृदय भी गुह्य है । गुह्य प्रीति विवर्धन होता है । और यह हृदय गुह्य का आश्रय होने से गुह्य है । अस्थि को कठिन या कठिन को अस्थि कहते हैं ॥१५॥

मेद, वसा है, मजा पुष्टिकर है । विष्ठा विदूषिका है । मूत्र शरीर से जनित स्राव है ॥१६॥

उद्द्योतयति अज्ञाननिवारणेन जगदिति कृत्वा ॥१७॥

किञ्च–

दुहिता ह्लादिका ज्ञेया

ह्लादयति तत्त्वोपदेशेन जगदिति कृत्वा ।

क्षुब्धं वै चलितं विदुः ।

आरुरुक्षुः प्राथमिके योगाभ्यासे स्थित्यलाभात् क्षुब्धश्चलित इति उच्यते ।

दूषको जार इत्युक्तः

यः क्वचिदिज्यादौ दूषकः, स ज्यानिहेतुत्वाद् जार इति उक्तः ।

पीतं वन्दितमेव च ॥१८॥

भक्षितं प्राप्तमित्याहुश्छर्दितं विकृतीकृतम् ।

यद् रहस्यद्रव्यं किञ्चित्पीतम्, तद् वन्दितमुच्यते । एवमेव यत्किञ्चिद् भक्षितम्, तत् प्राप्तमित्याहुः । छर्दितं यत्किञ्चिन्नैवेद्यं संवादिभक्तितारतम्याद् बहु अशितं सत् प्रमादात् वान्तम्, तद् विकृतीकृतं वाच्यम् ।

इत्थम्–

दूषितं कर्षितं ज्ञेयं

यत्किञ्चिन्नलकादि दूषितम्, तत् कर्षितं ज्ञेयमाहृतचरमित्यर्थः ।

सम्मतं समयं विदुः ॥१९॥

पारमेशः समयोऽवश्यानुष्ठेयत्वात् सम्मतमिति उक्तः ॥१९॥

महल्लो रक्षको ज्ञेयः

यः पारमेशाचारस्य रक्षकः, स महल्ल उच्यते महदुत्तमं पारमेशपदं लातीति कृत्वा ।

कुसुम कालेयक, धूम धृतिकारी । श्मशानस्थ देवताओं को रुचिकर धूम ऐसा ही है । देवता सम्बन्धी मेलक संघात और ज्ञान से उद्योत करने वाला पुत्र सोद्योतक होता है ॥१७॥

दुहिता **'ह्लादिका'** होती है । क्षुब्ध को चलित कहते हैं । योगाभ्यास में पहले असफल पर क्षोभ को प्राप्त शिष्य चलित कहलाता है । दूषक जार होता है । रहस्य द्रव्य कुछ कुछ पीलेने वाला **वन्दित** कहलाता है ॥१८॥

भक्षित को प्राप्त और अधिक भोजन से वमन छर्दित कहलाता है । कर्षित दूषित होता है । समय को अवश्य अनुष्ठेय होने के कारण **सम्मत** कहते हैं ॥१९॥

परमेशाचार के रक्षक को **'महल्ल'** कहते हैं । महत् को लाने वाला ही महल्लक होता है ।

छगलस्तु कनिष्ठकः ।

यश्छगलः पशुः, स कनिष्ठक उच्यते । क्रमो ज्येष्ठनध्यमत्वात् ।

विनयो देहकर्म स्यात्

तद्धि विनीततां करोति ।

साधनं तु जपः स्मृतः ।।२०।।

साध्यतेऽनेन भुक्तिमुक्ती इति साधनम् ।

होमितं सिद्धिजननं

होमकर्मापन्नं हविर्यत्, तत् सिद्धिं त्रिविधां जनयतीति ।

तथा–

विभागो रोचकः स्मृतः ।

चरुकादेर्यो विभागो विभजनम्, स रोचकः रोचयति परां प्रीतिं जनयतीति कृत्वा ।

कदम्बं वृन्दमित्याहुः

देवतानां वीरद्रव्यादीनां यद् वृन्दं समूहः, तत् कदम्बं वदन्ति ।

विरलोऽश्लिष्ट उच्यते ।।२१।।

यो वीराचारात् पृथग्भूत इत्यर्थात् ।।२१।।

विमलः शिष्य इत्युक्तः

यः शिष्यः शासनीयः, स गुरुप्रसादाद् विगतमल इति कृत्वा विमलः ।

इच्छा चाज्ञा प्रकीर्तिता ।

छगल को **कनिष्ठक** कहते हैं । ज्येष्ठ मध्यम के बाद कनिष्ठ का क्रम आता है ।

देह कर्म को **विनय** कहते हैं क्योंकि विनीतता से देह कर्म सम्पन्न होता है ।

जप साधन है क्योंकि इसी से भुक्ति मुक्ति सिद्ध होती हैं ।।२०।।

होमित हवि सिद्धि को उत्पन्न करने के कारण **सिद्धिजनन** कहलाती है । चरुक आदि का विभाजन प्रीति जनन होने के कारण **'रोचक'** कहलाता है ।

देववृन्द अथवा वीर द्रव्यवृन्द **'कदम्ब'** होता है, वीराचार से पृथक् विरल **अक्लिष्ट** है ।।२१।।

विमल (निर्मलचित्त) शिष्य (शासनीय) गुरु की कृपा से ही होता है । गुरु आदि की आज्ञायें उनकी **इच्छा** हैं ।

गुर्वादीनां सम्बन्धिनी आज्ञा यत्र लब्धा, तत्र असौ तदीयानुग्राहिका इच्छा स्थितेति यावत् ।

देवतादर्शनं यत्तत्

किञ्चिदसामान्यमेतदित्थं विमृष्टमित्यर्थः ।

लब्धं शस्त्रहतं विदुः ।।२२।।

यः शस्त्रहतः पशुः, तं लब्धमिति आमनन्ति ॥२२॥

निशाचरो बिडालः स्यात्

निशायां चरो यस्य वीरस्य, स बिडाल उच्यते । बिडालो हि रात्रावाखूना-हरति, अयं तु वीरपशून् ।

नखिनश्च विदारकाः ।

ये वीरपशूनां विदारकाः, ते नखिन उच्यन्ते, विदारकत्वसाधर्म्यात् ।

आनीतं सारितं ज्ञेयं

महाचर्वादि यदानीतम्, तत् सामरस्येन सञ्ज्ञातमिति कृत्वा सारितमिति उच्यते ।

रक्षितं पिहितं तथा ।।२३।।

यद् रक्षितम्, तत् पिहितमिति वाच्यम् ।

अथ कदाचित् तीव्रशक्तिपातवशात् समासादिते मेलके तत्तत्तत्त्वसाक्षात्कार-मार्गं साधकेन्द्रस्य देव्यो दर्शयन्तीत्यादिशति अनुग्रहपरः परमेश्वरः–

शिखां संस्पृशते या तु सा तु शक्तिं विनिर्दिशेत् ।
शिरः प्रदर्शयेद्या तु सा च बिन्दुं विनिर्दिशेत् ।।२४।।

असामान्य दर्शन विमर्शन ही **देवता दर्शन** है । शरण से हत पशु को लब्ध कहते हैं ॥२२॥

निशा में जो वीर चले वह विडाल तथा वीर पशुओं का विदारक **नखी ।** आनीत महाचरु सामरस्य पूर्ण होने से **सारित** तथा रक्षित को **पिहित** कहते हैं ॥२३॥

तीव्रशक्तिपात के फलस्वरूप प्राप्त मेलक में देवियाँ साधकेन्द्र को भगवत्साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करती हैं । इस तरह के अनुग्रह करने वाले मूलतः परमेश्वर ही हैं । इसी क्रम में देवियाँ यदि विविध अङ्गों-रूपों को दिखलाती हैं, तो उनका अर्थ साधक को समझना चाहिये । जैसे–

१–शिखा के स्पर्श से शक्ति को निर्दिष्ट करती है ।

ललाटं दर्शयेद्या तु ईश्वरं सा विनिर्दिशेत् ।
तालुकं दर्शयेद्या तु तया रुद्रः प्रकीर्तितः ।।२५।।
जिह्वां प्रदर्शयेद्या तु विद्यां साथ विनिर्दिशेत् ।
सप्त कोट्यस्तु मन्त्राणां तस्या ज्ञेयास्तु सुव्रते ।।२६।।
घण्टिकां दर्शयेद्या तु तयानन्तः प्रदर्शितः ।
कण्ठं तु संस्पृशेद्या सा कालतत्त्वं विनिर्दिशेत् ।।२७।।
हृत्पद्मं दर्शयेद्या तु पुरुषं सा विनिर्दिशेत् ।
नाभिं प्रदर्शयेद्या तु प्रकृतिं सा विनिर्दिशेत् ।।२८।।
तस्याधस्ताद्बुद्धितत्त्वं यदि स्याद्दर्शनं प्रिये ।

प्रशान्ताशेषतरङ्गशिवधामनि परमनिर्वाणरूपे न काचित्सिद्धिरस्तीति कृत्वा साधकेभ्यो मेलकावसरे वरदानोद्यता देव्यः सिद्धिमाधाराधिरूढाच्छक्तिस्थानात्प्रभृत्येव ददतीति तदुपक्रममेव निर्देशः कृतः । बिन्दुमिति अशेषवाच्यवाचकाविभागप्रकाशं सादाशिवं धाम । कीर्तित इति मया साक्षात्कृत इति दर्शितः । सप्त कोट्य इत्युक्तेः साधकस्य अस्याः सकाशात् तत्तन्मन्त्रसिद्धिलाभो भवतीति । तालुकं तालुरन्ध्रम् ।

२–शिरोभाग दर्शन से ईश्वर की ओर संकेत करती है ।

३–ललाट दर्शन से ईश्वर की ओर संकेत करती है ।

४–तालु से रुद्र को, ५–जिह्वा से शुद्धविद्या को प्रदर्शित करती है । इसमें सात करोड़ मन्त्रों का संज्ञान लेना चाहिये ।

६–घण्टिका अनन्त, ७–कण्ठ से काल तत्त्व, ८–हृत्पद्म से पुरुष, ९–नाभि से प्रकृति और १०–इससे नीचे बुद्धितत्त्व का निदेश मिलता है ।

शिव के शैव धाम की यह सबसे बड़ी विशेषता होती है कि, वहाँ संविद्विमर्श की ही तरङ्गें शेष रहती हैं । जगदुल्लासक तरङ्गें अशेष रूप से शान्त हो जाती हैं । वह पर निर्वाण की महनीय स्थिति होती है । उसमें अवस्थित भाग्यशाली ज्ञानाकल साधक को किसी सिद्धि की प्रकल्पना नहीं होती । सामान्यतः या जागतिक व्यामोह से ऊपर उठने वाले उन्मिष्ट साधक शक्तिपात से प्रवित्रित अवस्था में देवियों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करते हैं ।

ये देवियाँ भी उसके उत्कर्ष की साधिकायें मानी जाती हैं । ये विभिन्न आधारों पर अधिरूढ होकर सिद्धियों का निर्देश करती हैं । इन्हीं के चिह्न वे अङ्ग होते हैं । जिन्हें ध्यान में या तो स्पर्श करती हैं या उनका दर्शन करा देती हैं । यह स्पर्श साधक शरीर में अनुभूत होता है और दर्शन देवी के अवयवों का होता है ।

घण्टिका तदधो लम्बमाना लम्बिकाख्या शक्तिः । अनन्त इति मायातत्वाधिष्ठाता । कालनियतिपुरुषतत्त्वैर्नवात्मप्रक्रियावत्कलाविद्यारागतत्त्वानि सङ्गृहीतानि दर्शितानि । यदि स्यादिति यदि तया साक्षात्कृतं भवेदित्यर्थः ।

किञ्च–

यदा गुह्यं स्पृशेद्देवि

तदा असौ–

अहङ्कारोऽधिदैवतम् ।।२९।।

साक्षात्कृतं सूचयतीत्यर्थः । अत्रैव च अन्तर्भूतस्येन्द्रियतन्मात्रषोडशकस्य दर्शनम्, न पृथक् ।

दोनों माध्यमों से साधक की स्तरीयता की सूचना मिलती है । यही उनका विनिर्देश मानना चाहिये । मुझे इसकी बहुशः सूचनायें अनुभूत होती रहती हैं । यद्यपि यह लिखने का विषय नहीं है पर स्वाध्यायशील साधकों को ध्यान में प्रकर्ष पूर्वक शास्त्र निर्दिष्ट समय पर बैठने से देवियों की कृपा की वर्षा स्वाभाविक रूप से होती है । यह अनुभूत सत्य है ।

बिन्दु का तात्पर्य (श्लोक २४) जहाँ अशेष वाच्यवाचक विभागों की समाप्ति के उपरान्त अविभाग प्रकाश होता है, वही बिन्दु स्थान है । इसे क्षेमराज सादाशिव धाम कहते हैं । वास्तव में नाद सादाशिव धाम होता है । बिन्दु ऐश्वर धाम है । किन्तु यहाँ ईश्वर के लिये ललाट का निर्देश है । साधक यह जानता है कि ललाट आज्ञा चक्र है । इसका ओंकार बीज पंचोङ्कारसमायुक्त होता है । यहाँ से शक्तिधाम के नीचे ब्रह्मा से लेकर सदाशिव तक के पाँचों ब्रह्म उल्लसित हैं । सादाशिव प्रकाश में नाद बिन्दु रुद्र विष्णु और ब्रह्मा सभी अन्तर्भूत हैं । इसी सन्दर्भ में सादाशिव धाम की बात मानी जा सकती है । कीर्त्तित से स्वयं के साक्षात्कार की स्वीकृति यहाँ सूच्य है ।

श्लोक २६ में सप्तकोटि मन्त्रों की चर्चा है । देवियों की कृपा से इनमें से कुछ मन्त्र भी मिल जाते हैं । तालुरन्ध्र के नीचे लम्बमाना लम्बिका ही घण्टिका (श्लोक २७) है । अनन्त मायातत्त्व के अधिष्ठाता हैं । कालतत्त्व से नवात्म दृष्टि से तत्त्वों की सभी शक्तियाँ संगृहीतव्य हैं ।

यदि गुह्य के स्पर्श की प्रतीति हो तो यह सूचना मिलती है कि, अधिदैवत अहङ्कार इन्द्रियों और तन्मात्राओं का साक्षात्कार हो गया है । इस सूचना से साधक को आत्मतोष होता है ॥२४-२९॥

किञ्च–

कटिं सन्दर्शयेद्या तु व्योम तत्राधिदैवतम् ।
ऊरुकौ दर्शयेद्देवि पवनं सा विनिर्दिशेत् ।।३०।।
जानुनी दर्शयेद्या तु तया तेजः प्रकीर्तितम् ।
जङ्घे प्रदर्शयेद्या तु वरुणं सा विनिर्दिशेत् ।।३१।।

एवं मेलकावसरे देवीभिश्छुम्मकायां दर्शितायां प्रतिछुम्मका यादृक् साधकेन दर्शयितव्या, तादृशीमाह–

शरीरं दर्शयेद्देवि सर्वदेवमयं प्रिये ।

तदा अस्य–

पूजाग्निजपयुक्तस्य ध्यानयुक्तस्य मन्त्रिणः ।।३२।।
समयाचारयुक्तस्य कालांशकविदः प्रिये ।
क्रियोपेतस्य देवेशि योगिन्यस्तु वरप्रदाः ।।३३।।
दर्शयन्ति महाध्वानं नानाभोगसमन्वितम् ।
गिरिराजस्य देवेशि यं गत्वा फलमश्नुते ।।३४।।

क्रिया प्रोक्तरूपा । दर्शयन्ति स्वदेहस्थमेव प्रत्यक्षीकारयन्ति । गिरिराजस्य साधकेन्द्रस्य । यं गत्वेति साक्षादनुभूय गमेर्ज्ञानार्थत्वात् । फलमश्नुत इति तत्तद्भोग-भुग्भवति ।।३४।।

कटि से व्योम और व्योमेश, उरुओं से वायु और पवनेश, जानुओं से तेज और इसके अधिदेव और जङ्घों से वरुण और वरुणेश का वह विनिवेश करती है ।।३०-३१।।

मेल के इस शुभावसर पर कृपाविधायिका देवी शरीर का दर्शन देकर यह सूचित करती हैं कि, साधकेन्द्र की सर्वदेवय सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो चुका है ।

पूजा, होमकर्म, जप और ध्यान में तन्मय मन्त्र–प्रयोक्ता को, समयाचार समन्वित कालांशकों के वेत्ता क्रियायोग विशेषज्ञ साधकेन्द्रों पर योगिनी शक्तियाँ विशेष अनुग्रह की वर्षा करती हैं और वरदान देने के लिये तत्पर रहती हैं । देती भी हैं ।।३२-३३।।

ये अनुग्रह कारिणी शक्तियाँ महाभोग समन्वित महामाहेश्वर के अध्वा का साक्षात्कार करा देती हैं । अपने साधकेन्द्र के देहभाव में प्रत्यक्ष करा देती हैं । गिरि (छुम्मक) पर्वत की तरह अप्रकम्प्य साधकेन्द्र धन्य हो जाता है और मंजिल को पाकर कृतकार्य हो जाता है ।।३४।।

किञ्च अस्य एता योग्यतातिशयात्–

भैरवेण समाज्ञप्ताः शक्तयस्तु वरानने ।

अन्याश्च सिद्धीर्विविधा अधमा मध्यमोत्तमाः ।।३५।।

अन्यतन्त्रसमुत्थाश्च साधयन्ति न संशयः ।

भैरवेण समाज्ञप्ता इत्यनेन परमेश्वर एव इत्थं साधकस्य अभीष्टदानाय उद्यच्छतीत्याह । न संशय इति निश्चितमेव एतदित्यर्थः ।

उपसंहरति–

एवं संक्षेपतः प्रोक्तं मेलकं तु वरानने ।।३६।।

संतताभ्यासयोगेन

योग्यतमता जाता । तस्मै–

ददते चरुकं स्वकम् ।

दद दाने इत्यस्य अयं प्रयोगः । स्वकं स्वात्मार्थं साधितमसामान्यमित्यर्थः ।

तदाह–

यस्य संप्राशनाद्देवि वीरेशसदृशो भवेत् ।।३७।।

संप्राशनमविकल्पमाहरणम् । वीरेशो भैरवनाथः ।

साधकेन्द्र की तीव्रशक्तिपात पवित्रित योग्यता के आतिशय्य से स्वयं भगवान् भैरव भट्टारक उन योगिनियों को आदेश देते हैं कि, हमारे इस महाभक्त को, प्रिय उपासक को, जैसी तुम लोग चाहो, उत्तम, मध्यम या अधम सिद्धियों को प्रदान कर कृतार्थ करो ॥३५॥

कृपामयी प्रसन्न योगिनी शक्तियाँ वात्सल्य पूर्वक अन्य तन्त्रों में समुत्थ सिद्धियों को भैरव परमेश्वर से आज्ञप्त होकर पूरा कर देती हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवि इस तरह संक्षेप में मेलक रूप शक्तिपात सन्दर्भ में योगिनियों द्वारा तत्त्व साक्षात्कार का संक्षिप्त निरूपण मैंने किया है ॥३६॥

संतत् अभ्यास योग द्वारा वात्सलयी ये शक्तियाँ खाने के लिये भक्त को चरु भी प्रदान करती हैं । यह असामान्य अमृत पदार्थ ग्रहण कर मन्त्री धन्य हो जाता है । उसके संप्राशन से तीव्रशक्तिपात पवित्रित साधक स्वयं वीरेश बन जाता है । वीरेश स्वयं भैरवनाथ ही है । चरु के संप्राशन का ही यह सामर्थ्य है ॥३७॥

यत एवम्–

तस्माद्ध्यानार्चने होमं जपं च वरवर्णिनि ।

कुर्वन्ति भावितात्मानस्ततः सिद्ध्यन्ति मन्त्रिणः ।।३८।।

भावितात्मत्वं सुदृढ आश्वासः ॥३८॥

......................................धुरन्धुरा ।
सम्पूर्णसिद्धीर्विदधत्स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥
सर्वत्रैव स्फुरति सततं सर्वसर्वात्ममूर्ति-
योंऽसौ स्वच्छोच्छलितललितो बोधसिन्धुः समन्तात् ।
स्वच्छन्दोऽयं जयति भगवान्सर्वसम्पन्निधान-
स्फीतस्फूर्जन्निरुपमसुधास्फारसारस्वशक्तिः ॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते छुम्मकाप्रकाशः
पञ्चदशः पटलः ।।१५।।

इसीलिये ध्यान में, हवन में और जप में निष्ठापूर्वक परायण मन्त्री भावितात्मा महात्मा की तरह लगे रहते हैं और भैरवीय अनुग्रह से अनुगृहीत हो जाते हैं । परिणामतः सारी सिद्धियाँ उनके लिये हस्तामलक की तरह अनायास उपलब्ध हो जाती हैं ॥३८॥

विश्वोल्लास विलासमय धवल धुरन्धर धर्म्य !
सर्व सिद्धिदायक विभु जय स्वच्छन्द अगम्य ।
स्फुरित सतत सर्वत्र शिव जयसर्वात्मक सत्य ।
स्वच्छ उच्छलित ललित नित बोधसिन्धु आदित्य ॥
जै स्वच्छन्दविधान जय जय सम्पत्ति निधान ।
स्फूर्जित परम स्फीत जय, सुधा धन्य भगवान् ॥

स्वातन्त्र्यसमुद्भासित विश्वमूर्त्ति भैरव भट्टारक प्रवर्त्तित-
महामाहेश्वराचार्य क्षेमराजकृतोद्योत-विवरणोपेत
डॉ० परमहंसमिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का
छुम्मकाप्रकाश नामक प्रन्द्रहवाँ पटल परिपूर्ण
समाप्तोऽयं ग्रन्थः
शुभं भूयात्

नाम्नैव भेददृष्टिर्विधुता येनास्वतन्त्रतातत्त्वा ।
श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्रं भेदव्याख्यां न तत्सहते ॥१॥
भेददर्शनसंस्कारतन्तुसन्ततमादितः ।
स्वच्छस्वच्छन्दचित्स्वात्मसतत्त्वं नेक्षते जनः ॥२॥
गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्द्योत उम्भितः ॥३॥
श्रीब्रह्मदेवादिगुरुक्रमाद्यः
श्रुत्वा चिरं व्याकृतवान्स्वतन्त्रम् ।
श्रीमान्प्रयागो गुरवस्तथान्ये
तेऽभ्यर्थनायां पुनरप्रवृत्तौ ॥४॥
निस्सीमजन्ममरणादिव संप्ररूढ-
भेदाधिवासितमना न यदभ्यमंस्त ।
....
...................................॥५॥
श्रीभैरवीयपरमाद्वयशक्तिपात-
पूताः सदैव गुरवो गलितापरेच्छाः ।
स्वच्छस्वतन्त्रमतिसुन्दरमात्मतत्त्वं
सम्प्राप्नुवन्तु सह दीक्ष्यजनैरजस्रम् ॥६॥

उद्योतकार के आत्म निवेदन का भावार्थ–
अद्वय अभेदता में सांसारिक संस्कार
विगलित, चिदग्निसात् मेरे आराध्यदेव !
भेदकर अन्धतम द्वैत संभावना को
उद्यत अद्वैत दृष्टि मेरे आराध्य देव !
परा-प्रवर्त्तित तान्त्रिक परम्परा पढ
लिखा मैंने 'उद्योत' यह मेरे आराध्य देव !
गुरुजन अनुग्रह से संसृति समाप्त यह
तुझमें हूँ शाश्वत अब मेरे आराध्य देव !
---------------------------------।
---------------------------------॥१-६॥

पूर्णानुभवसद्युक्तिः सदाचारपरम्परा ।
विश्रान्ता यत्र यस्मिंश्च कार्तार्थ्यं गुरवोऽप्यगुः ॥७॥
तत्त्वोपदेशाद्यो विद्यासुधाम्भोधिसुधाकरः ।
यत्कृतैः शास्त्रसद्वृत्तिमण्डनैर्मण्डितं जगत् ॥८॥
अकस्मात्सर्वशास्त्रार्थज्ञत्वाद्यं लक्ष्मपञ्चकम् ।
यस्मिञ्छ्रीपूर्वशास्त्रोक्तमदृश्यत जनैः स्फुटम् ॥९॥
हेलावलोकनादेव जन्तून्योऽमोचयत्क्षणात् ।
श्रीमतोऽभिनवाच्छास्त्रमागमय्य गुरोरिदम् ॥१०॥
व्यावृणोत्क्षेमराजस्तत्पादधूलिपवित्रितः ।

शैव शक्तिपात पूत इन्द्रियजित् स्वच्छन्द,
तन्त्र की परम्परा का ज्ञाता गुरुदेव वर्ग
आत्मतत्त्व–साक्षात्कार–साधक श्रद्धेय यह,
दीक्ष्यों को दीक्षाफलदाता गुरु देववर्ग
सद्युक्ति सदाचार अनुभव परम्परारत
तृप्त कृतकृत्य सर्वज्ञ गुरुदेववर्ग
तत्त्वोपदेश–पीयूष सागर–सुधाकर यह
इससे विमण्डित विश्व गौरव गुरुदेववर्ग ॥७-८॥

\+ \+ \+ \+ \+ \+ \+ \+

गुरु की कृपा से ही आती अद्वैत दृष्टि
अकस्मात् होता सर्वशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञान ।
क्षण में ही जीववन्त बनाया शिव शाश्वततत्त्व
परम सौभाग्य मेरे गुरु का ही अवदान ।
मेरे भगवान् आर्य अभिनव की पदधूलि
ने ही बनाया मुझे क्षेमराज अनूचान ।
व्याख्या स्वच्छन्दतन्त्र की है यह जो कुछ भी
उनका ही चिद्घनचैतन्य मय वरदान ॥९-१०॥
भीषा गली भवकी, मनीषा के मल गले,
गले अभिशाप सब पसरा मन चित्प्रकाश ।
भैरव-सद्भाव भव्य संस्तुति का रसास्वाद
लेता लब्धोदय मैं निर्यन्त्रण चिद्विलास ।

ग्रस्तोऽयं सकलो भवो विगलिता: कर्माणुमायामला:
प्राप्तानन्दघना स्थिति: किमपरं लब्ध: प्रकाश: पर: ।
श्रीमच्चेतनभैरवस्तुतिरसास्वादेन लब्धोदयै-
रस्माभिर्विमले हृदम्बरतले निर्यन्त्रणं स्थीयते ॥११॥
स्वतन्त्र: स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतनशिव:
परा शक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता ।
तदाभोगैकात्म प्रसरति समस्तं जगदिदं
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत्संसृतिरिति ॥१२॥

।। श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यविपश्चिच्चक्रवर्तिश्रीमदभिनवगुप्तपाद-पद्मोपजीविश्रीमत्क्षेमराजविरचित: श्रीस्वच्छन्दोद्द्योत: सम्पूर्ण इति शिवम् ।।

पराशक्ति उल्लसित मेरे अस्तित्व में ही
चिन्मय हूँ चेतना में संचित चिदाकाश ।
मचा शिवशक्ति तत्त्व–काया कैलाश पर
समना त्रिशूलाब्ज पर नित उन्मना का महारास ॥११-१२॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य विपश्चिच्चक्रवर्त्ति श्रीमदभिनवगुप्त
पादपद्मोपजीविश्रीमत्क्षेमराज विरचित अन्तिम निवेदन
रूप पद्यों का भावानुवाद परिपूर्ण ।

भाष्यकार का आत्मनिवेदन–

भावात् प्रणम्य श्रीमदभिनवपरमेष्ठिनम् ।
परमं जयरथं देवं लक्ष्मणं दीक्षकं गुरुम् ॥१॥
आचार्यं क्षेमराजं च स्वच्छन्दोद्योत-भास्करम् ।
नीर-क्षीर-विवेकाख्यं भाषा-भाष्यं मनोहरम् ॥२॥
पूरयत्यधुना हंस: पञ्चभागमयं शुभम् ।
स्वात्मानं भैरवं देवं स्मारं स्मारं सनातनम् ॥३॥
हृदयांश: पराकाल्या: हंस: सूर्यमणि-प्रिय: ।
नौति नित्यं परामम्बां सिद्धं स्वात्ममहेश्वरम् ॥४॥

शुभं भूयात्

मूलश्लोकादिपङ्क्तिक्रमः

एकादशः पटलः

मूलश्लोकादिक्रमः द्वादशः पटलः

मूलश्लोकादिक्रमः त्रयोदशः पटलः

मूलश्लोकादिक्रमः चतुर्दशः पटलः

मूलश्लोकादिक्रमः पञ्चदशः पटलः

उद्धरणादिक्रमः

एकादशः पटलः

विशिष्टशब्दादिक्रमः

शास्त्रशास्त्रकारादिक्रमः

सूक्तयः

अशुद्धिशुद्धिक्रमः

१–अतिमार्ण	अतिमार्ग	९१
२–एकादशमः	एकादशः	१
३–कर्म्वेन्द्रियाँ	कर्मेन्द्रियाँ	७६
४–चोधो	चाधो	२४१
५–दानादि	हानादि	१३८
६–वर्जित	वर्जितः	१३७
७–शतशास्त्र	शतशाख	२४३
८–शान्तयतीता	शान्त्यतीता	३२
९–सर्वोषां	सर्वेषां	१३६
१०–स्फरम्	स्फारम्	२४४
११–संखो	संख्यो	१३४